एक जीवन - दर्पण सा !

श्री नृपेन्द्र कुमार जैन

▲

संस्थापक

जैन पुस्तक भवन

राग और विराग का अद्भुत सामञ्जस्य, बाल - ब्रह्मचारी किंतु जिसके प्यार में जीवन के फूलों की गंध समायी है, समर्पित श्रावक, साथ ही अथाह सागर-सा व्यक्तित्व देश और काल की सीमा का अतिक्रमण कर १५ जनवरी १९७८ को अपनी जीवन - इमारत को सदा - सदा के लिये खाली कर के चला गया।

इस शताब्दी के प्रथम वर्ष (सन् १९०१) में प्रथम माह का वह प्रथम दिवस था जब देवरी (सागर) के सिंघई मूलचंद जी और नेटी बाई के गृह में उनके चतुर्थ पुत्र की किलकारी गूँज उठी। जैन - धर्म के प्रचार और प्रसार में यह बालक अपना जीवन समर्पित करेगा — ऐसी कल्पना शायद ही उस समय किसी ने की हो। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" — बालक नृपेन्द्र की शिक्षा-दीक्षा जैन-धर्म की महान विभूति महात्मा भगवानदीन जी के संरक्षण में सुप्रसिद्ध ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम (हस्तिनापुर) में हुई। सत्संग ने जीवन को नूतन प्रवाह दिया और समय ने युवा नृपेन्द्र कुमार को बाल - ब्रह्मचारी बना दिया। बचपन के बीज उम्र के साथ अंकुरित और फलित होते रहे। नृपेन्द्र कुमार जी का ब्रह्मचारी जीवन युग के कल्याण हेतु समर्पित होता रहा। उनके युग - कल्याण का मार्ग था — जैन साहित्य का प्रचार और प्रसार। जैन साहित्य के प्रकाशन में उनकी दृष्टि सांसारिक नहीं, आध्यात्मिक लाभ की ओर थी — इसीलिये सस्ते और उपयोगी साहित्य का प्रकाशन कर वे आत्मतुष्टि का अनुभव करते थे। जैन-चित्रों के माध्यम से वे मानव मन पर अध्यात्म की एक अमिट छाप अंकित करना चाहते थे — अपने उस प्रयास में उन्हें अपूर्व सफलता मिली।

उनका जीवन महाकवि प्रसाद के महान विचारों को अपने में समेटे है—"किंतु न परिमित करो प्रेम, सौहार्द विश्व-व्यापी कर दो।"

नृपेन्द्र कुमार जी ने अपने प्रेम को दाम्पत्य के संकुचित घेरे में नहीं बाँधा किंतु उनका प्रेम विश्व - बंधुत्व के उन्नत धरातल पर प्रकट हुआ। उनकी आत्मीयता के घेरे में जो भी आया — वह उन्हें अपना निकटतम समझता था — इस घेरे में उम्र का कोई बंधन नहीं था। बच्चे से वृद्ध तक सभी उनके घनिष्ट मित्र थे — वे एक अच्छे सलाहकार थे, वे अपने प्रत्येक सहयोगी का सही मार्गदर्शन करने का प्रयत्न जीवन भर करते रहे।

'जीवन दर्पण की तरह जियो। स्वागत सब का, पर संग्रह किसी का भी नहीं' — यही सच्चा ब्रह्मचर्य है, और इसी धरातल पर नृपेन्द्र कुमार जी सम्पूर्ण मानव-जगत का हृदय से स्वागत करते हुए भी समर्पित श्रावक का जीवन जीते रहे। यही तो राग और विराग का सामंजस्य है। जब मृत्यु ने द्वार खटखटाये तो दर्पण से निर्मल हृदय ने स्वागत में द्वार खोल दिये और चिर निद्रा में लीन हो गये। इस प्रकार एक जीवन-सर्जक इस धरा पर अपना कार्य कर महाप्रयाण कर गया। उस महान साधक को मेरा शत-शत नमन!

— डॉ० विमला चौधरी

स्वाध्याय करते समय इसे पढ़ना आवश्यक है।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

ओंकारं विन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः ॥ १ ॥
अविरलशब्दघनौघाः प्रक्षालितसकलभूतलमलकलंकाः।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥ २ ॥
अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया। चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
श्रीपरमगुरवे नमः परम्पराचार्य्य श्रीगुरवे नमः।

सकलकलुषविध्वंसकं श्रेयसां परिवर्द्धकं धर्म्मसंबन्धकं भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं "श्री चौबीसी-पुराण" नामधेयं, एतन्मूलग्रन्थकर्त्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रंथकर्त्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोनुसारमासाद्य पंडित श्री पन्नालाल साहित्याचार्य विरचितम्।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी। मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वे श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ॥

अनुक्रमणिका

	विषय	पृष्ठ
१.	भगवान श्री आदिनाथजी	१
२	भगवान श्री अजितनाथजी	८१
३	भगवान श्री शम्भवनाथजी	८६
४	भगवान श्री अभिनन्दननाथजी	९२
५	भगवान श्री सुमतिनाथजी	९७
६	भगवान श्री पद्मप्रभजी	१०३
७	भगवान श्री सुपार्श्वनाथजी	१०८
८	भगवान श्री चन्द्रप्रभजी	११४
९	भगवान श्री पुष्पदन्तजी (सुविधिनाथजी)	१२९
१०	भगवान श्री शीतलनाथजी	१३३
११	भगवान श्री श्रेयांसनाथजी	१३८
१२	भगवान श्री वासुपूज्यजी	१४२
१३	भगवान श्री विमलनाथजी	१४७
१४	भगवान श्री अनन्तनाथजी	१५२
१५	भगवान श्री धर्मनाथजी	१५६
१६	भगवान श्री शान्तिनाथजी	१६४
१७	भगवान श्री कुन्थुनाथजी	१७६
१८	भगवान श्री अरहनाथजी	१८१
१९	भगवान श्री मल्लिनाथजी	१८५
२०.	भगवान श्री मुनिसुव्रतनाथजी	१९१
२१	भगवान श्री नमिनाथजी	१९६
२२	भगवान श्री नेमिनाथजी	२००
२३	भगवान श्री पार्श्वनाथजी	२१५
२४	भगवान श्री महावीर स्वामी	२२४
२५	चौबीस तीर्थङ्करों के पञ्च कल्याणक	२४४

स विश्वचक्षुर्वृषभो उचितः सतां समग्र विद्यात्मवपुर्निरंजनः।
पुनातु चेतो ममनाभिनन्दनो जिनो जित क्षुल्लक वादिशासनः॥

—आचार्य समन्तभद्र

"सब को देखनेवाले, सज्जनों से पूजित समस्त विद्यामय, पाप-रहित तथा क्षुद्रवादियों के शासनों को जीतनेवाले वे नाभिनन्दन भगवान श्री ऋषभनाथ हमारे हृदय को पवित्र करें।"

इस मध्यलोक में असख्यात द्वीप-समुद्रों से घिरा हुआ एक लाख योजन विस्तारवाला जम्बूद्वीप है। यह जम्बूद्वीप सब द्वीपों में पहला द्वीप है एवं अपनी शोभा से सब में शिरमौर है। इसे चारों ओर से लवण समुद्र घेरे हुए है। लवण समुद्र के बीच में यह द्वीप ठीक कमल के समान मालूम होता है, क्योंकि कमल के नीचे जैसे सफेद मृणाल होती है, वैसे ही इसके नीचे श्वेतवर्ण शेषनाग हैं। कमल के ऊपर जैसे पीली कर्णिका होती है, वैसे ही इस पर सुवर्णमय पीला मेरुपर्वत है एव कमल की कर्णिका पर जिस प्रकार काले भौरे मँडराते रहते हैं, उसी प्रकार मेरुपर्वत कर्णिका पर भी काले-काले मेघ मँडराते रहते हैं। हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मी एवं शिखरी—ये छः कुलाचल जम्बूद्वीप की शोभा बढ़ा रहे हैं। ये छहों कुलाचल पूर्व से पश्चिम तक लम्बे हैं। अनेक तरह के रत्नों से जड़े हुए हैं एव अपने उत्तुङ्ग शिखरों से गगन को चूमते हैं। इन ६ अचलों के कारण जम्बूद्वीप के सात विभाग अर्थात् क्षेत्र हो गये हैं। उनके नाम ये हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत एवं ऐरावत। इन्हीं क्षेत्रों में सतत् लहराती हुई गङ्गा, सिन्धु आदि चौदह महा-नदियाँ बहा करती हैं। विदेह क्षेत्र के ठीक बीच में एक लाख योजन ऊँचा सुवर्णमय मेरुपर्वत है। वह पर्वत अपनी उन्नत चूलिका से स्वर्ग के विमानों को छूना चाहता है। नन्दन, सौमनस, भाद्रशाल एव पांडुक वन से उसकी अपूर्व शोभा बढ़ रही है। जिनेन्द्र भगवान के जन्माभिषेक के सुरभित सलिल से उस पर्वत का प्रत्येक रजकण पवित्र है। सूर्य, चन्द्रमा आदि समस्त ज्योतिषी देव उसकी प्रदक्षिणा देते रहते हैं।

उसी विदेह क्षेत्र में मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर एक बांधिल नामक देश है। वह देश खूब हरा-भरा है। वहाँ पर रहनेवाले लोग किसी भी बात से दुःखी नहीं हैं। वहाँ पर धान्य के खेतों की रक्षा करनेवाली बालिकाओं के सुन्दर सङ्गीत सुन कर हरिण चित्रलिखित से निश्चल हो जाते हैं। वहाँ के मनोहर बगीचों में रसाल आदि वृक्षों की डालियों पर बैठे हुए कोयल, कीर, क्रौंच आदि पक्षी तरह-तरह के शब्द करते हैं। उस बांधिल देश में एक विजयार्ध पर्वत है, जो अपनी धवल कान्ति से ऐसा प्रतीत होता है, मानो चाँदी से ही बना हुआ हो। उस पर्वत पर अनेक उद्यान शोभायमान हैं। उद्यानों के लतागृहों में देव,देवांगनायें,विद्याधर एवं विद्याधरांगनायें अनेक तरह की क्रीड़ायें किया करते हैं। उनके शिखर चन्द्रकान्त मणियों से खचित हैं, इसलिये रात्रि के समय चन्द्रमा की किरणों का सम्पर्क होने पर उनसे सुन्दर निर्झर झरने लगते हैं। उस पर्वत की तराई में आम के ऊँचे-ऊँचे पेड़ लगे है। हवा के हलके झोंके लगने से उनसे पके हुए फल टूट-टूट कर नीचे गिर जाते है एवं उनका मधुर रस सब ओर फैल जाता है। उस पर्वत की उत्तर श्रेणी में 'अलका' नाम की सुन्दर नगरी है। वह अलका नगरी अगाध जल से भरी हुई परिखा से शोभायमान है। अनेक तरह के रत्नों से जड़ा हुआ वहाँ का प्राकार (कोट) इतना ऊँचा है कि रात के समय उसके उन्नत शिखरों पर लगे हुए तारागण मणिमय दीपकों की तरह मालूम होते हैं। वहाँ के ऊँचे-ऊँचे मकान चूने से पुते हुए हैं,इसलिये शरद् ऋतु के बादलों के समान मालूम होते हैं। उन मकानों के शिखरों में अनेक तरह के रत्न लगे हुए हैं, जो बरसात के बिना एवं मेघ रहित आकाश में ही इन्द्र धनुष की छटा छिटकाते रहते हैं। वहाँ गगनचुम्बी जिन मन्दिरों में नाना प्रकार के उत्सव होते रहते हैं। कहीं तालाबों में फूले हुए कमलों पर भ्रमर गुञ्जार करते हैं; कहीं बगीचों में बेला, गुलाब, चम्पा, जूही आदि की अनुपम सुगन्धि फैल रही है; कहीं शरद के मेघ के समान श्वेत महलों की छतों पर विद्याधरांगनायें बिजली जैसी मालूम होती हैं;कहीं पाठशालाओं में विद्यार्थियों की अध्ययन-ध्वनि गूँज रही है और कहीं विद्वानों में सुन्दर तत्व चर्चाएँ होती हैं। कहीं भी कोई अन्न, जल के लिये दुःखी नहीं है—सभी मनुष्य सम्पत्ति से युक्त हैं, निरोग हैं एवं सन्तानों से विभूषित हैं। अलका, अलका ही है। उसका पूर्णरूपेण वर्णन करना लेखनी की शक्ति से बाहर है।

यह जिस समय की कथा लिखी जाती है, उस समय अलका का शासनसूत्र महाराज अतिबल के हाथ में

॑ - ७ - , ाक्रम ,यशस्व ,दयालु एवं न ते- नेपुण राजा पृथ्वीतल पर अधिक नहीं थे। उनकी नीति-निपुणता एवं प्रजावत्सलता सब ओर प्रसिद्ध थी। वे कभी सूर्य के समान अत्यन्त तेजस्वी होकर शत्रुओं को सन्ताप पहुँचाते थे एवं कभी चन्द्रमा की भाँति शान्त वृत्ति से प्रजा का पुत्रवत पालन करते थे। उनकी निर्मल कीर्ति चारों ओर फैल रही थी। राजा अतिबल के व्यक्तित्व के सामने सभी विद्याधर नरेश अपने शीश झुका देते थे। वे समुद्र से अधिक गम्भीर थे, मेरु से अधिक स्थिर थे, वृहस्पति से अधिक विद्वान थे एवं सूर्य से भी अधिक तेजस्वी। महाराज अतिबल की स्त्री का नाम 'मनोहरा' था। मनोहरा का जैसा नाम था, वैसा ही उसका रूप भी। उसके पाँव कमल समान सुन्दर थे एवं नाखून मोतियों-से चमकते थे। जङ्घायें कामदेव की तरकश के सदृश मालूम होती थीं और स्थूल ऊरू केले के स्तम्भ से भी भली थीं। उसका विस्तृत नितम्ब-स्थल बहुत ही मनोहर था। मनोहरा की गम्भीर नाभि, श्यामल रोम राजि एव कृश कटि अपनी सानी नहीं रखती थीं। उसके दोनों कुच श्रृङ्गार-सुधा से भरे हुए सुवर्ण कलश की नांई मालूम होते थे। भुजायें कमलिनी के समान मनोहर थीं एवं हाथ कमलों की शोभा को भी जीतते थे। उसका कण्ठ शङ्ख-सा सुन्दर था। ओष्ठ प्रवाल-से एवं दाँत मोती-से लगते थे। उसकी बोली के सामने कोयल भी लजा जाती थी। तिलक पुष्प उसकी नासिका की समानता नहीं कर सकता था। वह अपनी चञ्चल एवं बड़ी-बड़ी आँखों से हरिणियों को भी जीतती थी। उसकी भौंहें काम के धनुष के समान थीं। कुमकुम के तिलक से उसके ललाट की अनूठी ही शोभा नजर आती थी, उसके काले एवं घूँघरवाले बालों की शोभा बड़ी ही विचित्र थी। मनोहरा के मुंह के सामने पूर्णिमा के चन्द्रमा को भी मुंह की खानी पड़ती थी। उसका समस्त शरीर तप्त सुवर्ण की तरह दमकता था। कोई उसे एकाएक देख कर विद्याधरी कहने का साहस नहीं कर पाता था। सचमुच वह मनोहरा अद्वितीय सुन्दरी थी। राजा अतिबल रानी मनोहरा के साथ अनेक प्रकार के सुख भोगते हुए सुख से समय बिताते थे। कुछ समय बाद मनोहरा की कुक्षि से एक बालक उत्पन्न हुआ। बालक के जन्मकाल में अनेक शुभ शकुन हुए। राजा अतिबल ने दीन दरिद्रों के लिए किमिच्छक दान दिया एवं प्रजा ने अनेक उत्सव मनाये। बालक की वीर चेष्टायें देख कर राजा अतिबल ने उसका नाम महाबल रख दिया। बालक महाबल द्वितीया के चन्द्रमा की तरह प्रतिदिन बढ़ने लगा। उसकी अद्भुत लीलायें

देख एवं मीठी सुन कर माँ का हृदय फूला न समाता था। उसकी बुद्धि बड़ी ही तीक्ष्ण थी। इसलिये उसने अल्प वय मे ही समस्त विद्यायें सीख ली। पुत्र की चतुराई एव नीति-निपुणता देख कर राजा अतिबल ने उसे युवराज बना दिया एव आप बहुत कुछ निश्चिन्त होकर धर्म-ध्यान करने लगे।

एक दिन निमित्त पा कर महाराज अतिबल का हृदय ससार से विरक्त हो गया। उन्हें पञ्च इन्द्रियों के विषय क्षणभगुर एव दुःखदायी मालूम होने लगे। बारह भावनाओं का चिन्तवन कर उन्होंने जिन-दीक्षा धारण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। फिर मन्त्री, सामन्त आदि के सामने अपने विचार प्रगट कर के युवराज महाबल को राज्य तथा अनेक तरह के धार्मिक एवं नैतिक उपदेश दे कर किसी निर्जन वन में उन्होंने जिन-दीक्षा धारण कर ली। महाराज अतिबल के साथ में अनेक विद्याधर राजाओं ने भी जिन-दीक्षा ली थी। उधर आत्मशुद्धि के लिए महाराज अतिबल कठिन से कठिन तप करने लगे एवं इधर राजा महाबल भी नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा। राजा महाबल की शासन-प्रणाली पर समस्त प्रजा मुग्धचित्त थी। धीरे-धीरे राजा महाबल का यौवन विकसित होने लगा। उसके शरीर की शोभा बड़ी ही विचित्र हो गई थी उसका सुन्दर रूप देखकर स्त्रियों का मन काम से आकुल हो उठता था। निदान, मन्त्री आदि की सलाह से योग्य कुलीन विद्याधर कन्याओं के साथ उसका विवाह हो गया। अब राजा महाबल धर्म, अर्थ एव काम का समान रूप से सेवन करने लगा। इसके महामति, सम्भिन्नमति, शतमति एव स्वयबुद्ध नाम के चार मन्त्री थे। ये चारों मन्त्री राज्य कार्य में बहुत ही चतुर थे। राजा महाबल जो भी कार्य करता था, वह मन्त्रियों की सलाह से ही करता था; इसलिए उसके राज्य में किसी प्रकार की बाधायें नहीं आने पाती थीं। ऊपर जिन चार मन्त्रियों का कथन है, उनमें स्वयबुद्ध को छोड़ कर बाकी तीन मन्त्री महा मिथ्यादृष्टि थे, इसलिए वे राजा महाबल तथा स्वयबुद्ध आदि के साथ धार्मिक विषयों में विद्वेष रक्खा करते थे। पर राजा महाबल को राजनीति में उनसे कोई बाधा नहीं आती थी। स्वयबुद्ध मन्त्री सच्चा जिन-भक्त था, वह निरन्तर राजा महाबल के हित-चिन्तन में लगा रहता था।

किसी समय अलकापुरी में राजा महाबल की वर्ष-गाँठ का उत्सव मनाया जा रहा था। वाद्यों की ध्वनि से आकाश गूँज रहा था एव चारों ओर स्त्रियों के सुन्दर सगीत सुनाई पड़ रहे थे। एक विशाल सभामण्डप

. २ २ , ा · जावट ८ा साम- इन्द्र-भवन को भा सजावट फीकी लगती थी। उस मण्डप में सोने के एक ऊँचे सिंहासन पर महाराज महाबल बैठे हुए थे। उन्हीं के आस-पास मन्त्री लोग भी बैठे थे एवं मण्डप की शेष जगह दर्शकों से खचाखच भरी हुई थी। लोगों के हृदय आनन्द से उमड़ रहे थे। विद्वानों के व्याख्यान एव तत्व-चर्चाओं से वह सभा बहुत ही भली मालूम होती थी। समय पा कर महामति, सम्भिन्नमति एवं शतमति मन्त्रियों ने अनेक कल्पित युक्तियों से जीव-अजीव का खण्डन कर दिया, स्वर्ग-मोक्ष का अभाव वतलाया तथा मिथ्यात्व को बढ़ानेवाली अनेक विपरीत क्रियाओं का उपदेश दिया, जिससे समस्त सभा में क्षोभ मच गया एवं लोग आपस में काना-फूँसी करने लगे। यह देख कर राजा महाबल से आज्ञा ले कर विरोध करने के लिए स्वयबुद्ध मन्त्री के खड़े होते ही सब शान्त हो गये। लोग चुपचाप उनका व्याख्यान सुनने लगे। स्वयबुद्ध ने अनेक युक्तियों से जीव-अजीव आदि तत्वों का समर्थन किया तथा स्वर्ग-मोक्ष आदि परलोक का सद्भाव सिद्ध कर दिखलाया। तत्व-प्रतिपादन के विषय में स्वयंबुद्ध मंत्री के अनोखे ढङ्ग एवं अकाट्य युक्तियों से सब लोग मोहित हो गये एव धन्य-धन्य कहने लगे। इसी समय स्वयंबुद्ध ने पाप एवं धर्म का फल बतलाते हुए राजा महाबल को लक्ष्य कर चार कथायें कहीं, जो संक्षेप में नीचे लिखी जाती हैं —

(१)

राजन्! कुछ समय पहिले आप के निर्मल वंश में अरविन्द नाम के एक राजा हो गये हैं। उनकी स्त्री का नाम विजया देवी था। विजया के दो पुत्र थे—पहिला हरिचन्द्र एवं दूसरा कुरुविन्द। ये दोनों पुत्र बहुत ही विद्वान थे। राजा अरविन्द दीर्घ ससारी जीव थे। इसलिये उनका चित्त सतत् पाप-कर्मों ही लगा रहता था एव इसी के फलस्वरूप वे नरक आयु का बन्ध कर चुके थे। आयु के अन्त समय में राजा अरविन्द को दाह-ज्वर हो गया, जिसकी दाह से वे बहुत व्याकुल हो गये। रोग की बहुत कुछ चिकित्सा की गई, पर उन्हें आराम नहीं हुआ। पाप के उदय से उनकी समस्त विद्यायें भी नष्ट हो गई थीं। उन्होंने उत्तर कुरुक्षेत्र के सुहावने उद्यान में घूमना चाहा, परन्तु आकाशगामिनी विद्या के नष्ट हो जाने से उन्हें विवश होकर रुक जाना पड़ा। बड़े पुत्र हरिचन्द्र ने अपनी विद्या से उन्हें उत्तर कुरु भेजना चाहा, पर जब उसकी भी विद्या सफल नहीं हुई, तब राजा अरविन्द हताश होकर शैय्या पर पड़ा रहा।

एक दिन की घटना है कि दीवाल पर दो छिपकुली लड़ रही थीं। लड़ते-लड़ते एक की पूँछ टूट गई, जिससे खून की दो-चार बूँदे राजा अरविन्द के शरीर पर पड़ीं। खून की बूँदों के पड़ते ही राजा अरविन्द को कुछ शान्ति मालूम हुई, इसलिये उन्होंने समझा कि यदि वे खून की बावड़ी में नहावेंगे तो उनका रोग दूर हो सकता है। यह विचार कर लघु पुत्र कुरुविन्द से खून की बावड़ी बनवाने के लिए कहा। कुरुविन्द, पिता का जितना आज्ञाकारी था, उससे कहीं अधिक धर्मात्मा था। इसलिए उसने पिता की आज्ञानुसार एक बावड़ी बनवाई, पर उसे खून से न भर कर लाख के लाल रङ्ग से भरवा दिया एव पिता से जा कर कह दिया कि आप के कहे अनुसार बावड़ी तैयार है। खून की बावड़ी देख कर राजा अरविन्द बहुत ही हर्षित हुए एव नहाने के लिए उसमें कूद पड़े। पर ज्यों ही उन्होंने कुल्ला किया, त्यों ही उन्हें मालूम हो गया कि यह खून नहीं, किन्तु लाख का रङ्ग है। कुरुविन्द के इस कार्य पर उन्हें इतना क्रोध आया कि वे तलवार ले कर उसे मारने के लिए दौड़े, पर बीमारी के कारण अधिक नहीं दौड़ सके एव बीच में ही अपनी तलवार की धार पर गिर पड़े। तलवार की धार से राजा अरविन्द का उदर विदीर्ण हो गया, जिससे वे मर कर नरकगति में पहुँचे। सच है—'मरते समय प्राणियों के जैसे भाव होते हैं, वे वैसी ही गति को प्राप्त होते हैं।'

(२)

नरेन्द्र! कुछ समय पहिले आप के इसी वश में एक दण्ड नाम के राजा हो गये हैं, जिन्होंने अपने प्रचण्ड पराक्रम से समस्त विद्याधरों को वश में कर लिया था। यद्यपि राजा दण्ड शरीर से वृद्ध हो गये थे, तथापि उनका मन वृद्ध नहीं हुआ था। वे रात-दिन विषयों की चाह में लगे रहते थे। उनके मणिमाली नाम का एक आज्ञाकारी पुत्र था। जीवन के शेष समय में राज्य का भार मणिमाली को सौंप कर स्वयं अन्तःपुर में रहने लगे एवं अनेक तरह के भोग भोगने लगे। किसी समय तीव्र सक्लेश भाव से राजा दण्ड का मरण हो गया। मर कर वे अपने भण्डार में विशालकाय अजगर हुए। वह अजगर मणिमाली के सिवाय भण्डार में किसी दूसरे को नहीं आने देता था। एक दिन मणिमाली ने इस अजगर का हाल किसी मुनिराज से कहा। मुनिराज ने अवधिज्ञान से जान कर कहा कि यह अजगर आप के पिता राजा दण्ड विद्याधर का जीव है। आर्त-ध्यान के कारण उन्हें यह कुयोनि प्राप्त हुई है। यह सुन कर मणिमाली झट से भण्डार में गया एवं वहाँ अजगर के सामने

छूट गई। पुत्र के उपदेश से उसने सब बैर-भाव छोड़ दिया तथा आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक मरण कर देव पर्याय पाई। स्वर्ग से आ कर देव ने मणिमाली के गले में मणियों का एक सुन्दर हार पहिनाया था, जो कि आज आप के गले में भी शोभायमान है। सच है—'विषयों की अभिलाषा से मनुष्य अनेक तरह के कष्ट उठाते हैं एव विषयों के त्याग से स्वर्ग आदि का सुख पाते हैं।'

(३)

राजन् ! आप के बाबा शतबल भी चिरकाल तक राज्य-सुख भोगने के बाद आप के पिता राजा अतिबल को राज्य प्रदान कर धर्म-ध्यान करने लगे थे एवं आयु के अन्त में समाधिपूर्वक शरीर त्याग कर माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुए थे। आप को भी ध्यान होगा कि जब हम दोनों मेरु पर्वत पर नन्दन वन में क्रीड़ारत थे, तब देव शरीरधारी आप के बाबा ने कहा था—'जैन-धर्म को कभी नहीं भूलना, यही सब सुखों का कारण है।'

(४)

इसी तरह आप के पिता अतिबल के बाबा सहस्रबल भी अपने पुत्र शतबल के लिए राज्य देकर नग्न दिगम्बर मुनि हो गये थे एवं कठिन तपस्या से आत्म-शुद्धि कर शुक्ल-ध्यान के प्रताप से परमधाम मोक्षस्थान को प्राप्त हुए थे।

ये कथाएँ प्रायः सभी लोगों को परिचित एवं अनुभूत थीं, इसलिये स्वयबुद्ध मन्त्री की बात पर किसी को अविश्वास नहीं हुआ। राजा एवं प्रजा ने स्वयबुद्ध का खूब सत्कार किया। महामति आदि तीन मन्त्रियों के उपदेश से जो कुछ विभ्रम फैल गया था, वह स्वयंबुद्ध के उपदेश से दूर हो गया। इस तरह राजा महाबल की वर्ष-गाँठ का उत्सव हर्ष-ध्वनि के साथ समाप्त हुआ।

एक दिन स्वयबुद्ध मन्त्री अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना करने के लिए मेरु पर्वत पर गये एवं वहाँ पर समस्त चैत्यालयों के दर्शन कर अपने-आप को सफल-भाग्य मानते हुए सौमनस वन में बैठे हो थे कि इतने में उन्हें पूर्व विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत कच्छ देश के अनिष्ट नामक नगर से आये हुए दो मुनिराज दिखलाई पड़े। उन मुनियों में एक का नाम आदित्यमति तथा दूसरे का नाम अरिञ्जय था। स्वयंबुद्ध ने खड़े होकर दोनों मुनि महाराजों का स्वागत किया तथा विनयपूर्वक प्रणाम कर तत्वों का स्वरूप पूछा। जब मुनिराज तत्वों का स्वरूप

श्री
चौ
बी
सी

कह चुके,तब मन्त्री ने उनसे पूछा — 'हे नाथ ! हमारी अलका नगरी में सब विद्याधरों का अधिपति जो महाबल नाम का राजा राज्य करता है , वह भव्य है या अभव्य ?' मन्त्री का प्रश्न सुन कर आदित्यमति मुनिराज ने कहा कि हे मन्त्री ! राजा महाबल भव्य है , क्योंकि भव्य ही तुम्हारे वचनों में विश्वास कर सकता है। तुम्हें राजा महाबल बहुत ही श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। वह दशमें भव में जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में युग का प्रारम्भ होने पर ऋषभनाथ नाम का पहिला तीर्थङ्कर होगा। सकल सुरेन्द्र उसकी सेवा करेंगे एव वह अपने दिव्य उपदेश से ससार के समस्त प्राणियों का कल्याण करेगा। वही उसके मुक्त होने का समय है। अब मैं राजा महाबल के पूर्व-भव का वर्णन करता हूँ , जिसमें कि इसने सुख भोगने की इच्छा से धर्म का बीज बोया था। ध्यानपूर्वक सुनो —

पश्चिम विदेह में श्रीगन्धिल नाम का देश है एवं उसमें सिंहपुर नाम का एक सुन्दर नगर है। वहाँ किसी समय राजा श्रीषेण राज्य करते थे। उनकी स्त्री का नाम सुन्दरी था। राजा श्रीषेण के जयवर्मा एव श्रीवर्मा नाम के दो पुत्र थे; उनमें श्रीवर्मा नाम का छोटा पुत्र सभी को प्यारा था। राजा श्रीषेण ने प्रजा के आग्रह से लघु पुत्र श्रीवर्मा को राज्य दे दिया तथा आप धर्म-ध्यान में लीन हो गये। ज्येष्ठ पुत्र जयवर्मा से अपना यह अपमान सहा नहीं गया; इसलिये वह ससार से उदास होकर किसी वन में दिगम्बर मुनि हो गया एव विषय-भोगों से विरक्त होकर उग्र तप करने लगा। एक दिन जहाँ पर मुनिराज जयवर्मा ध्यान लगाये हुए बैठे थे , वहीं से आकाश मार्ग से विहार करता हुआ विद्याधरों का कोई राजा जा रहा था। ज्यों ही जयवर्मा की दृष्टि उस पर पड़ी,त्यों ही उसे राजा बनने को अभिलाषा ने फिर धर दबाया। उधर जयवर्मा राज-भोगों की कल्पना में मग्न हो रहे थे, इधर बाँबी से निकले हुए एक साँप ने उन्हें डॅस लिया; जिससे वे मर कर राजा महाबल हुए हैं। पूर्व-भव की अतृप्त वासना से राजा महाबल अब भी रात-दिन भोगों में लीन रहा करते हैं।

इस प्रकार राजा महाबल का पूर्व-भव सुनाने के बाद मुनिराज आदित्यमति ने स्वयबुद्ध मन्त्री से कहा कि आज राजा महाबल ने स्वप्न देखा है कि मुझे सम्भिन्नमति आदि मन्त्रियों ने जबर्दस्ती कीचड़ में गिरा दिया है; फिर स्वयबुद्ध मन्त्री ने उन दुष्टों को धमका कर मुझे कीचड़ से निकाला एव सोने के सिंहासन पर बैठा कर निर्मल जल से नहलाया है तथा एक दीपक की शिखा प्रतिक्षण क्षीण होती जा रही है। राजा महाबल

आप का सौभाग्य प्रकट होता है एवं दूसरे स्वप्न से आप की आयु एक माह बाकी रह गई मालूम होती है। ऐसा करने से तुम्हारे ऊपर उसका विश्वास दृढ़ हो जायेगा ; तब तुम उसे जो भी हित का मार्ग बतलाओगे, उसे वह शीघ्र ही स्वीकार कर लेगा। इतना कह कर दोनों मुनिराज आकाश-मार्ग से विहार कर गये एवं स्वयबुद्ध मन्त्री भी हर्षित होते हुए अलकापुरी को लौट आये। वहाँ राजा महाबल मन्त्री स्वयबुद्ध की प्रतीक्षा कर रहे थे, तो स्वयबुद्ध ने शीघ्र ही जा कर उनके दोनों स्वप्नों का फल (जैसा कि मुनिराज ने बतलाया था) कह सुनाया तथा उन्हें समयोपयोगी अन्य भी धार्मिक उपदेश दिये। मन्त्री के कहने से राजा महाबल को दृढ़ निश्चय हो गया कि अब उसकी आयु केवल एक माह बाकी रह गई है। वह समय अष्टाह्निका व्रत का था; इसलिए उसने जिन-मन्दिर में आठ दिन तक खूब उत्सव किया एव शेष बाईस दिन का सन्यास धारण किया। उसे सन्यास-विधि मन्त्री स्वयबुद्ध बतलाते रहते थे। अन्त में पञ्च नमस्कार मन्त्र का जाप करते हुए राजा महाबल नश्वर मनुष्य शरीर का परित्याग कर ऐशान स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में देव पर्याय का अधिकारी हुआ। वहाँ उसका नाम ललितांग था। जब ललितांग देव ने अवधिज्ञान से अपने पूर्व-भव का चिन्तवन किया, तब उसने स्वयबुद्ध का अत्यन्त उपकार माना एवं उसके प्रति अपने हृदय से कृतज्ञता प्रकट की। पूर्व-भव के भव्य संस्कार से उसने वहाँ पर भी जिन-पूजा आदि धार्मिक कार्यों में कभी प्रमाद नहीं किया। इस प्रकार ऐशान स्वर्ग में स्वयप्रभा, कनकलता, विद्युल्लता आदि चार हजार देवियों के साथ अनेक प्रकार के सुख भोगते हुए ललितांग देव का समय बीतने लगा। ललितांग की आयु अधिक थी, इसलिये उसके जीवन में अल्प आयुवाली कितनी ही देवियाँ नष्ट हो जाती थीं एव उनके स्थान में दूसरी देवियाँ उत्पन्न होती जाती थीं। इस तरह सुख भोगते हुए ललितांग देव की आयु जब केवल कुछ पल्यों की शेष रह गई, तब उसे एक स्वयप्रभा नाम की देवी प्राप्त हुई। ललितांग को स्वयंप्रभा-सी सुन्दरी देवी जीवन में पहली बार मिली थी, इसलिए वह उसे बहुत चाहता था एवं वह भी ललितांग को बहुत अधिक चाहती थी। दोनों एक दूसरे पर अत्यन्त मोहित थे। परन्तु सब दिन किसी के एक-से नहीं होते। धीरे-धीरे ललितांग देव की दो सागर की आयु समाप्त होने को आई। जब उसकी आयु सिर्फ छः माह की बाकी रह गई, तब उसके

कण्ठ में पडी हुई माला मुरझा गई, कल्पवृक्ष कान्ति-रहित हो गये एवं मणि-मुक्ता आदि सभी वस्तुएँ प्रायः निष्प्रभ-सी हो गई। यह सब देख उसने समझ लिया कि उसकी आयु अब छः माह की ही बाकी रह गई है। इसके बाद उसे अवश्य ही नरलोक में उत्पन्न होना पड़ेगा। प्राणी जैसे कार्य करते है, वैसे हो फल पाते है। 'मैं ने अपना समस्त जीवन भोग-विलासो में बिता दिया। अब कम-से-कम इस शेष आयु में मुझे धर्म-साधन करना परम आवश्यक है'— यह चिन्तवन कर पहिले ललितांग देव ने समस्त अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना की; फिर अच्युत स्वर्ग में स्थित जिन प्रतिमाओं की पुजा करता हुआ समता-सन्तोष से वह समय बिताने लगा। अन्त मे समाधिपूर्वक पञ्च-नमस्कार मन्त्र का जाप करते हुए उसने देव शरीर को त्याग दिया।

जम्बूद्वीप के सुमेरु पर्वत से पूर्व को ओर विदेहक्षेत्र में एक पुष्कलावत देश है। उसकी राजधानी उत्पल-खेट नगरी है। उस समय वहाँ राजा बज्रबाहु राज्य करते थे। उनकी स्त्री का नाम वसुन्धरा था। राजा बज्रबाहु वसुन्धरा रानी के साथ इन्द्र-इन्द्राणी की तरह भोग भोगते हुए आनन्द से रहते थे। जिसका कथन अभी ऊपर कर आये है, वही ललिताग देव स्वर्ग से चय कर इन्हीं राजा बज्रबाहु एव वसुन्धरा नाम राज-दम्पति के बज्रजघ नाम का पुत्र हुआ। बज्रजघ अपनी मनोरम चेष्टाओं से सभी को हर्षित करता था। वह चन्द्रमा की नाँई मालूम होता था,क्योंकि चन्द्रमा जिस तरह कुमुदों को विकसित करता है,उसी तरह बज्रजघ भी अपने कुटुम्बी-कुमुदों को विकसित (हर्षित) करता था। चन्द्रमा जिस तरह कलाओं से शोभित होता है, उसी तरह बज्रजघ भी अनेक कलाओं (चतुराइयों) से भूषित था। चन्द्रमा जिस प्रकार कमलों को सकुचित करता है, उसी प्रकार वह भी शत्रुरूपी कमलों को सकुचित (शोभाहीन) करता था एवं चन्द्रमा जिस तरह चाँदनी से सुहावना जान पड़ता है,उसी तरह बज्रजघ भी मन्द-हास्य-रूपी चाँदनी से सुहावना जान पड़ता था। ललिताग देव का मन स्वयप्रभा देवी में ही आसक्त था,इसलिये वह किसी दूसरी स्त्री से प्रेम नहीं करता था। बस उसी सस्कार से बज्रजघ का चित्त भी किसी दूसरी स्त्री की ओर नहीं झुकता था। युवावस्था को प्राप्त होकर भी उसने अपना विवाह नहीं करवाया था। वह निरन्तर शास्त्रों के अध्ययन तथा नये तथ्यों की खोज में लगा रहता था।

अब स्वयंप्रभा—जिसे कि ललितांग देव छोड़ कर चला आया था—का उपाख्यान ध्यानपूर्वक सुनो।

प्राणनाथ ललितांग देव के मरने पर स्वयंप्रभा को बहुत खेद हुआ, जिससे वह तरह-तरह से विलाप करने लगी। यह देख कर दृढ़वर्मा नाम के एक देव ने जो कि ललितांग देव का घनिष्ट मित्र था, उसे खूब समझाया तथा उत्तम कार्यों को करने का उपदेश दिया। उसके उपदेश से स्वयंप्रभा ने पति-विरह से उत्पन्न हुए दुःख को कुछ शान्त किया तथा अपने जीवन के शेष छः माह जिन-पूजन, नित्य-वन्दन आदि शुभ कर्मों में व्यतीत किये। मृत्यु के समय सौमनस वन में शोभित किसी चैत्य वृक्ष के नीचे पञ्च परमेष्ठी का ध्यान करती हुई स्वयंप्रभा को भी देवी-पर्याय से निष्कृति मिली।

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुण्डरीकिणी नाम की नगरी है। राजा बज्रदन्त उसका पालन करते थे। उनकी स्त्री का नाम लक्ष्मीमती था। स्वयंप्रभा देवी स्वर्ग से चय कर इन्हीं राज-दम्पति के श्रीमती नाम की पुत्री हुई। श्रीमती की सुन्दरता देख कर लोग कहा करते थे कि इसे ब्रह्मा ने चन्द्रमा की कलाओं से बनाया है। एक समय श्रीमती छत के ऊपर रत्नों के पलंग पर सो रही थी। उसी समय वहाँ के आकाश में 'जय-जय' शब्द करते हुए बहुत से देव निकले। वे देव, पुण्डरीकिणीपुरी के किसी उद्यान में विराजमान यशोधर महामुनि के केवलज्ञान महोत्सव में शामिल होने के लिये जा रहे थे। उन देवों के आगे हजारों वाद्य बज रहे थे, जिनके गम्भीर नाद सब ओर गूँज रहे थे। देवों की जयजयकार तथा वाद्यों की उच्च ध्वनि से श्रीमती की नींद खुल गई। नींद खुलते ही उसकी दृष्टि देवों पर पड़ी, जिससे उसे उसी समय अपने पूर्व-भवों का स्मरण हो आया। अब ललितांग देव उसकी आँखों के सामने घूमने लगा तथा स्वर्गलोक की सब अनुभूत क्रियायें उसकी दृष्टि में आने लगीं। वह बार-बार ललितांग देव का स्मरण कर विलाप करने लगी तथा विलाप करती-करती मूर्च्छित भी हो गयी। सखियों ने अनेक शीतल उपचारों से उसे सचेत कर जब उससे मूर्च्छित होने का कारण पूछा, तब वह चुपचाप रह गयी तथा चारों ओर देखने लगी। जब लक्ष्मीमती तथा बज्रदन्त को श्रीमती की इस अवस्था का पता चला, तब वे दौड़े हुए उसके पास आये। उन्होंने उससे मूर्च्छित होने का कारण पूछा, पर उसने कुछ नहीं कहा, केवल दुष्टग्रह-ग्रस्त की तरह चारों ओर निहारती रही। पुत्री की ऐसी दुरवस्था देख कर राजा-रानी को बहुत दुःख हुआ। कुछ देर बाद उसकी चेष्टाओं से राजा बज्रदन्त समझ गये कि इसके दुःख का कारण इसके पूर्व-भव का स्मरण है, अन्य कुछ नहीं। उन्होंने अपना यह विचार रानी लक्ष्मीमती

को भी सुनाया। इसके बाद श्रीमती को समझाने के लिये पण्डिता नाम की एक धाय को नियुक्त कर राजा एव रानी अपने-अपने स्थान पर चले गये।

श्रीमती के पास से वापिस आते ही राजा बज्रदन्त को पता चला कि आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है तथा पुरी के बाह्य उद्यान में यशोधर महामुनि को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है। 'दिग्विजय के लिए जाऊँ या यशोधर महाराज के ज्ञान-कल्याण के महोत्सव में शामिल होऊँ' — इन दो चिन्तवन ने राजा बज्रदन्त की चित्तवृत्ति को एक क्षण के लिए दो भागों में विभाजित कर दिया। पर पहिले धर्म कार्य में ही शामिल होना चाहिये, ऐसा चिन्तवन कर राजा बज्रदन्त यशोधर महामुनि के ज्ञानोत्सव में शामिल होने के लिए गये। वन में पहुँच कर राजा बज्रदन्त ने भक्तिपूर्वक मुनिराज के चरणों में प्रणाम किया तथा अपना जन्म सफल माना। वहाँ विचित्र बात यह हुई थी कि राजा बज्रदन्त ने ज्यों ही पूज्य मुनिराज के चरणों में प्रणाम किया था, त्यों ही उन्हें (राजा को) अवधिज्ञान प्राप्त हो गया था। अवधिज्ञान के प्रताप से राजा बज्रदन्त अपने तथा श्रीमती आदि के समस्त पूर्व-भव स्पष्ट रूप से जान गये थे, जिससे वे श्रीमती के विषय में प्रायः निश्चिन्त से हो गये। मुनिराज के पास से वापिस आ कर चक्रवर्ती राजा बज्रदन्त दिग्विजय के लिए गये।

इधर पण्डिता धाय श्रीमती को उद्यान में ले जा कर अनेक तरह से उसका मन बहलाने लगी। मौका देख कर पण्डिता ने उससे मूर्च्छित होने का कारण पूछा। इस बार श्रीमती पण्डिता का आग्रह न टाल सकी; उसने कहा — "सखी! जब मैं छत पर सो रही थी, तब वहाँ से 'जय-जय' घोष करते हुए कुछ देव निकले, उनके कोलाहल से मेरी आँख खुल गई। जब मेरी निगाह उन देवों पर पड़ी, तब मुझे अपने पूर्व-भव का स्मरण हो आया। बस, यही मेरे दुःख का कारण है। मैं तो इसे स्पष्ट रूप से आप लोगों के सामने कहना चाहती थी, पर लज्जा मुझे कहने नहीं देती। अब मैं देखती हूँ कि लज्जा से काम नहीं चलेगा। इसलिये मुझे क्षमा करना, मैं आज लज्जा का अवगुंठन उठा कर अपनी मनोवृत्ति प्रकट करती हूँ। सुनती हो न?

धातकीखण्ड द्वीप की पूर्व दिशा में जो मेरु पर्वत है, उससे पश्चिम की ओर विदेह क्षेत्र में एक गान्धिल नाम का देश है। उसके पाटलिगाँव में नागदत्त नाम का एक वणिक रहता था। उसकी स्त्री का नाम सुदति था। इस वणिक-दम्पति के नन्द, नन्दिमित्र, नन्दिषेण, वरसेन एवं जयसेन नाम के पाँच पुत्र तथा मदनकान्ता

एवं श्रीकान्ता नाम की दो पुत्रियाँ थीं। उन दो पुत्रियों में से मैं छोटी पुत्री थी। लोग मुझ को निर्नामिका भी कहा करते थे। किसी समय वहाँ के अम्बर-तिलक पर्वत पर पिहितास्रव नाम के एक मुनिराज आये। मैं ने वहाँ जाकर उनसे विनयपूर्वक पूछा—'भगवन्! मैं इस दरिद्र कुल में पैदा क्यों हुई हूँ?' तब मुनिराज ने कहा—

इसी गान्धिल देश के पलाल पर्वत के एक गाँव में देवल नामक एक मनुष्य रहता था, उसकी स्त्री का नाम सुमति था। तुम पहिले उसी के घर धनश्री नाम से कन्या हुई थी। एक दिन तुम्हारे उद्यान में कोई समाधिगुप्त नाम के मुनीश्वर आये थे, सो तुमने उनके सामने मरे हुए कुत्ते का कलेवर डाल दिया था, जिससे वे कुछ क्रुद्ध हो गये थे। तब डर कर तुमने उनसे क्षमा माँगी थी, जिससे तुम्हारे उस पाप में कुछ न्यूनता हो गयी थी, जिससे तुम इस दरिद्र कुल में उत्पन्न हो सकी हो, नहीं तो मुनियों के तिरस्कार से नरक गति में अवश्य जाना पड़ता है। यह कह चुकने के बाद मुनिराज पिहिताश्रव ने मुझे जिनेन्द्र गुण सम्पत्ति एवं श्रुतज्ञान नाम के व्रत दिये, जिनका मैं ने यथाशक्ति पालन किया। उन व्रतों के प्रभाव से मैं मर कर ऐशान स्वर्ग में ललितांग देव की अंगना हुई थी। वहाँ मेरा नाम स्वयंप्रभा था। हम दोनों एक दूसरे को बहुत अधिक चाहते थे। पर मेरे दुर्भाग्य से ललितांग देव की मृत्यु हो गयी। उनकी मृत्यु से मुझे बहुत अधिक दुःख हुआ, पर करती भी क्या? जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते-करते मैं ने अपनी शेष आयु पूर्ण की एवं वहाँ से चय कर इस भव में श्रीमती हुई हूँ। देवों का आगमन देख कर आज मुझे ललितांग देव का स्मरण हो आया है; बस, यही मेरे दुःख का कारण है। अब ललितांग देव के बिना मुझे एक क्षण भी वर्ष के समान मालूम होता है एवं यह दुष्ट कामदेव अपने तीखे बाणों से मुझ को घायल कर रहा है।" यह कह कर श्रीमती ने पण्डिता से कहा—"प्यारी सखि! तुम्हारे होते हुए भी क्या मुझे दुःख होगा? चाँदनी के छिटकने पर भी क्या कुमुदिनी दुःखी होती है? मेरा विश्वास है कि तुम हमारे ललितांग देव को खोज कर उनके साथ मुझे अवश्य ही मिला दोगी। देखो, मैंने इस पटिये पर अपने पूर्व-भव के चित्र अङ्कित किये हैं, इन्हें दिखला कर तुम सरलता से ललितांग देव को खोज कर सकती हो।' यह सुन कर पण्डिता धाय ने श्रीमती को आश्वासन दिया एवं उसके पास से चित्रपट ले कर ललितांग देव की खोज करने के लिये चल दी। वह सब से पहिले महापूत चैत्यालय को गई एवं वहाँ जिनेन्द्र देव को प्रणाम कर चित्रशाला में चित्रपट फैला कर बैठ गई। चैत्यालय में प्रायः सभी लोग आते थे,

इसलिये पण्डिता के अनोखे चित्रपट पर सभी की नजर पड़ती थी ; पर कोई उसका रहस्य नहीं समझ पाते थे। इसके बाद जो कुछ हुआ, वह आगे लिखा जावेगा।

श्रीमती के पिता बज्रदन्त चक्रवर्ती, जो कि श्रीमती का उक्त हाल होने के बाद दिग्विजय के लिए चले गये थे, अब लौट कर वापिस आ गये। यद्यपि वे अपने समस्त शत्रुओं को जीत कर आने के कारण प्रसन्नचित्त थे तथापि श्रीमती की चिन्ता उन्हें रह-रह कर म्लानमुख बना देती थी। मौका पा कर बज्रदन्त ने श्रीमती को अपने पास बुला कर कुशल प्रश्न पूछा एवं फिर कहने लगे — 'बेटी ! मुझे यशोधर महामुनि के प्रसाद से अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है। इसलिये मैं अपने, तुम्हारे एवं तुम्हारे प्रिय पति (ललिताग देव) का भी पूर्व-भव जानने लगा हूँ। मैं ने यह भी जान लिया है कि तुम्हें देवों को देखने से अपने पूर्व-भव का स्मरण हो आया है,जिससे तुम अपने हृदयवल्लभ ललिताग देव का बारम्बार स्मरण कर दुःखी हो रही हो। पर अब निश्चिन्त होओ एवं पहिले की तरह आनन्द से रहो। तुम्हारा ललितांग देव पुष्कलावती देश के उत्पलखेट नगर में रहनेवाले राजा बज्रबाहु एव रानी वसुन्धरा के बज्रजघ नाम का पुत्र हुआ है , जो कि हमारा भानेज है। उसके साथ तुम्हारा शीघ्र ही विवाह-सम्बन्ध होनेवाला है। इसी सिलसिले में राजा बज्रदन्त ने अपने, श्रीमती के एव ललितांग देव के कितने ही पूर्व-भवों के वृत्तान्त सुनाये ,' जिन्हें सुन कर श्रीमती को अपार हर्ष हुआ। "मैं अब बहनोई बज्रबाहु, बहिन वसुन्धरा एव भानेज बज्रजघ को लेने के लिये जा रहा हूँ। वे मुझे कुछ दूरी पर मार्ग में ही मिल जावेंगे।" यह कह कर चक्रवर्ती श्रीमती के पास से गये ही थे कि इतने में पण्डिता धाय, जो कि श्रीमती का चित्रपट ले कर ललिताग देव को खोजने के लिये गई हुई थी, हँसती हुई वापिस आ गई एव श्रीमती के सामने एक चित्रपट रख कर बैठ गई। यद्यपि पिता के कहने से उसे ललितांग देव का पूरा लग गया था तथापि उसने कौतुकपूर्वक पण्डिता से उसका सब हाल पूछा। उत्तर में पण्डिता बोली — "सखि ! मैं यहाँ से तुमारा चित्रपट ले कर महापूत जिनालय को गई थी , वहाँ जिनेन्द्रदेव को प्रणाम कर वहाँ की चित्रशाला में बैठ गई।' मैं ने वहाँ पर ज्यों ही तुम्हारा चित्रपट फैलाया, त्यों ही अनेक युवक 'क्या है ? क्या है ?' कह कर उसे देखने लगे। पर उसका रहस्य किसी को समझ में नहीं आया। कुछ वासना-लोलुप तुम्हें पाने की इच्छा से झूठ-मूठ ही उसका हाल बतलाते थे। पर मैं उन्हें सहज ही में मौन कर

देती थी। कुछ समय बाद वहाँ एक नवयुवक आया, जो कि देखने में साक्षात् कामेश्वर-सा लगता था। उसने एक-एक कर के श्रीमती के चित्रपट का समस्त हाल बतला दिया। यहाँ पर देव समूह को देखने से जैसी अवस्था तुम्हारी हो गई थी, वहाँ ठीक वैसी ही अवस्था चित्रपट देखने से उसकी हो गई। वह देखते-देखते मूर्च्छित हो कर जमीन पर गिर पड़ा। जब बन्धुवर्ग ने उसे सचेत किया, तब वह मुझ से पूछने लगा— 'भद्रे ! कहो, यह चित्रपट किसका है ? किस देवी के मनोहर हाथों से इसका निर्माण हुआ है ? यह मुझे बहुत ही प्यारा लगता है।' तब मैं ने उससे कहा — 'यह तुम्हारी मामी लक्ष्मीमती की पुत्री श्रीमती के कोमल हाथों से रचा गया है।' मैं ने उसकी चेष्टाओं से यह निश्चय कर लिया था कि यही ललितांग का जीव है। उसके बन्धु-वर्ग से मुझे मालूम हुआ है कि वह पुष्कलावती देश के राजा बज्रबाहु का पुत्र है। लोग उसे बज्रजघ के नाम से पुकारते हैं। बज्रजघ ने तुम्हारा चित्रपट अपने पास रख लिया है एव यह दूसरा चित्रपट मेरे द्वारा तुम्हारे पास भेजा है। कैसा चित्रपट है सखि ?" इतना कह कर पण्डिता चुप हो रही। श्रीमती ने कृतज्ञताभरी नजर से उसकी ओर देखा एव फिर उस नूतन चित्रपट को हृदय से लगा लिया।

इधर राजा बज्रदन्त चक्रवर्ती की राजा बज्रबाहु आदि से मार्ग में भेंट हो गई। चक्रवर्ती अपने बहनोई राजा बज्रबाहु, बहिन वसुन्धरा एव भगनी पुत्र बज्रजघ को बड़े आदर-सत्कार से अपने गृह लिवा लाये। जब उन्हें वहाँ पर रहते हुए कुछ दिन हो गये, तब चक्रवर्ती ने राजा बज्रबाहु से कहा— "जीजाजी ! आप लोगों के आने से मुझे जो हर्ष हुआ है, उसका वर्णन करना कठिन है। यदि आप लोग मुझ पर स्नेह रखते हैं, तो मेरे गृह में आप के योग्य जो भी उत्तम वस्तु हो, उसे स्वीकार कीजियेगा।" तब राजा बज्रबाहु ने कहा — यद्यपि आप के प्रसाद से मेरे पास सब कुछ है — किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं है, तथापि यदि आप की इच्छा है, तो चिरञ्जीव बज्रजघ के लिये आप अपनी पुत्री श्रीमती दे दीजिये।" चक्रवर्ती तो यह चाहते ही थे, उन्होंने झट से बहनोई की प्रार्थना स्वीकार कर ली तथा विवाह की तैयारी करने के लिये सेवकों को आज्ञा दे दी। सेवकों ने सुन्दर विवाह-मण्डप बनाया तथा पुण्डरीकिणीपुरी को ऐसा सजाया कि उसके सामने इन्द्र की अमरावती भी लजाती थी। निदान शुभ मुहूर्त में बज्रजघ एवं श्रीमती का विधिपूर्वक पाणि-ग्रहण हो गया। पाणिग्रहण के बाद वर-वधू अनेक जन-समूह के साथ महापूत चैत्यालय को गये एव वहाँ

जिनेन्द्रदेव की अर्चना एवं स्तवन कर राजधानी को लौट आये। वहाँ चक्रवर्ती एवं बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं ने बज्रजघ एव श्रीमती का स्वागत किया। विवाह के बाद बज्रजंघ ने कुछ समय तक अपनी ससुराल में ही रह कर आमोद-प्रमोद में समय व्यतीत किया। इसी बीच में राजा बज्रबाहु ने अपनी पुत्री अनुन्दरी का विवाह चक्रवर्ती के ज्येष्ठ पुत्र अमिततेज के साथ कर दिया था। जब बज्रजंघ अपने गृह वापिस जाने लगे, तब चक्रवर्ती ने हाथी, घोड़ा, सोना, चाँदी, मणि, मुक्ता आदि का बहुमूल्य दहेज दे कर उनके साथ अपनी पुत्री श्रीमती को विदा कर दिया। यद्यपि श्रीमती एव बज्रजघ के विरह से चक्रवर्ती का अन्तःपुर तथा सकल पुरवासीजन शोक से विह्वल हो उठे थे, तथापि 'जिनका सयोग होता है, उनका वियोग भी अवश्य होता है'—ऐसा सोच कर वे सब कुछ समय बाद शांत हो गये थे। अनेक वन-उपवनों की शोभा निहारते हुए बज्रजघ कुछ दिनों में अपनी राजधानी उत्पलखेट नगरी को पहुँचे। उस समय राजकुमार बज्रजघ एव उनकी नव-विवाहिता पत्नी के शुभागमन के उपलक्ष्य मे उत्पलखेट नगरी खूब सजाई गई थी। महलों के शिखरों पर कई रङ्गों की ध्वजाएँ फहरा रही थीं एव राज-मार्ग मणियों की वन्दनमालाओं से विभूषित किये गये थे। सड़कों पर सुगन्धित जल सींच कर बेला, जुही, चमेली आदि पुष्प बिखेरे गये थे। नव-वधू श्रीमती को देखने के लिए मकानों की छतों पर स्त्रियाँ एकत्रित हो रही थीं एव जगह-जगह पर नृत्य, गीत, वादित्र आदि के सुन्दर शब्द सुनाई पड़ते थे। बज्रजघ ने श्रीमती के साथ राज-भवन में प्रवेश किया। माता-पिता के वियोग से जब कभी श्रीमती दुःखी होती थी, तब बज्रजघ अपनी लीलाओं एव रस-भरे शब्दों से उसके दुःख को क्षण-भर में दूर कर देते थे। श्रीमती के साथ उसकी प्यारी सखी पण्डिता भी आई थी, इसलिये वह श्रीमती को कभी दुःखी नहीं होने देती थी। धीरे-धीरे बहुत समय बीत गया। इसी बीच में क्रम-क्रम से श्रीमती के पचास युगल अर्थात् सौ पुत्र हुए, जो अपनी स्वाभाविक शोभा से इन्द्र-पुत्र जयन्त को भी लजाते थे। उन सब को पाकर राजा बज्रबाहु एवं बज्रजघ आदि ने अपने गृहस्थ-जीवन को सफल माना था।

एक समय राजा बज्रबाहु महल की छत पर बैठे हुए जब आकाश की सुषमा निहार रहे थे, उस समय वहाँ उन्होंने एक क्षण में विलीन होते हुए मेघ-खण्ड को देखा, त्यों ही उनके अन्तरङ्ग नेत्र खुल गये। वे सोचने लगे—'ससार के सभी पदार्थ इसी मेघ-खण्ड की नाँईं क्षणभगुर हैं। मैं इस राज्य-विभूति को स्थिर समझ

कर व्यर्थ ही इसमें विमोहित हो रहा हूँ। नर-भव पा कर भी जिसने मोक्ष-प्राप्ति के लिये प्रयत्न नहीं किया, वह फिर सदा के लिए पछताता रहता है' — इत्यादि चिन्तवन कर महाराज बज्रबाहु ससार से एकदम उदासोन हो गये एवं बहुत शीघ्र पुत्र बज्रजंघ का राज्य तिलक कर वन में जा कर किन्हीं आचार्य के पास दीक्षा ले कर तप करने लगे। उनके साथ में श्रीमती के सौ पुत्र,पण्डिता सखी एवं अनेक राजाओं ने भी जिन-दीक्षा ग्रहरा की थी। उधर मुनिराज बज्रबाहु कुछ समय के बाद केवलज्ञान प्राप्त कर सदा के लिये संसार के बन्धनों से छूट गये एवं इधर पिता तथा पुत्रों के विरह से शोकातुर राजा बज्रजंघ नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। अब श्रीमतो के पिता चक्रवर्ती राजा बज्रदन्त का भी कुछ वृतान्त ध्यानपूर्वक सुनो —

एक दिन चक्रवर्ती राजसभा में बैठे हुए थे कि माली ने उन्हें एक कमल का फूल अर्पित किया। उस कमल की सुगन्धि से चारों ओर भौंरे मँडरा रहे थे। ज्यों ही उन्होंने निमीलित कमल को विकसाने का प्रयत्न किया, त्यों ही उस कमल में रुके हुए एक मृत भौंरे पर उनकी दृष्टि पड़ी। वह भौंरा सुगन्धि के लोभ से सायकाल के समय कमल के भीतर बैठा हुआ था कि अचानक सूर्य अस्त हो गया, जिससे वह उसी में बन्द हो कर मर गया था। उसे देखते ही चक्रवर्ती सोचने लगे — 'जब यह भौंरा एक नासिका इन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर मर गया है, तब जो मनुष्य रात-दिन पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो रहे हैं, वे क्यों भौंरे की तरह मृत्यु को न प्राप्त होवेंगे ? सच है — ससार में इन्द्रियों के विषय ही प्राणियों को दुःखी किया करते हैं। मैं ने जोवन भर विषय भोगे, पर कभी सन्तुष्ट नहीं हुआ।' इत्यादि चिन्तवन कर उन्होंने जिन-दीक्षा धारण करने का दृढ़-संकल्प कर लिया। चक्रवर्ती ने अपने बड़े पुत्र अमिततेज को राज्य देना चाहा, पर जब उसने एवं उसके छोटे भाई ने राज्य लेना स्वीकार नहीं किया, तब उन्होंने अमिततेज के पुत्र पुण्डरीक को, जिसकी आयु उस समय केवल छह माह की थी, राज्य दे दिया एवं अनेक राजाओं, पुत्रों तथा पुरवासियों के साथ दीक्षित हो गये।

चक्रवर्ती एवं अमिततेज के विरह से सम्राज्ञो लक्ष्मीमती तथा अनुन्दरी आदि को बहुत दुःख हुआ। कहाँ चक्रवर्ती का विशाल राज्य एवं कहाँ छह माह का अबोध बालक पुण्डरीक! अब इस राज्य की रक्षा किस तरह होगी ? इत्यादि चिन्तवन कर लक्ष्मीमती ने दामाद राजा बज्रजंघ को पत्र लिखा एवं उसे एक मंजूषा में

वन्द कर चिन्तागति तथा मनोगति नाम के विद्याधर दूतों के द्वारा उनके पास भेज दिया। जब राजा बज्रजघ ने मंजूषा खोल कर उसमें रक्खे पत्र को पढ़ा, तब उन्हें बहुत दुःख हुआ। श्रीमती के दुःख का तो पार ही नहीं रहा। वह पिता एव भाइयों का स्मरण कर विलाप करने लगी। पर राजा बज्रजंघ संसार की परिस्थिति से भलीभाँति परिचित थे; इसलिये उन्होंने किसी तरह अपना शोक दूर कर श्रीमती को धीरज बँधाया एव 'मैं आता हूँ' कह कर उन विद्याधर दूतों को वापिस भेज दिया। कुछ समय बाद राजा बज्रजघ एवं श्रीमती ने पुण्डरीकिणीपुरी को ओर प्रस्थान किया। उनके साथ महामन्त्री मतिवर, पुरोहित आनन्द, सेठ धनमित्र एव सेनापति अकम्पन भी थे। इन सब के साथ हाथी, घोड़ा, रथ, प्यादे आदि से सजी हुई विशाल सेना थी। चलते-चलते राजा बज्रजंघ किसी सुन्दर सरोवर के पास पहुँचे। वहाँ चारों ओर सेना को तैनात कर स्वय श्रीमती के साथ अपने नगर में चले गये। इतने में 'यदि वन में आहार मिलेगा तो लेवेंगे, गाँव, नगर आदि मे नहीं' ऐसी प्रतिज्ञा कर दो मुनिराज आकाश में विहार करते हुए वहाँ से निकले। जब उन मुनियों पर राजा बज्रजंघ की दृष्टि पड़ी, तब उसने उन्हें भक्ति सहित पड़गाहा एवं श्रीमती के साथ शुद्ध सरस आहार दिया। जब आहार ले कर मुनिराज वन की ओर विहार कर गये, तब राजा बज्रजङ्घ से उनके पहरेदार ने कहा कि महाराज! ये युगल मुनि आप के सब से लघु दो पुत्र हैं। आत्म-शुद्धि के लिये सदा वन मे ही रहते हैं। यहाँ तक कि आहार के लिये भी नगर में नहीं जाते। यह सुन कर राजा बज्रजङ्घ एवं श्रीमती के शरीर में हर्ष से रोमाञ्च निकल आये। वे दोनों तत्क्षण उसी ओर गये, जिस ओर मुनिराज गये थे।

निर्जन वन में एक शिला पर बैठे हुए मुनि-युगल को देख कर राज-दम्पति के हर्ष का पार नहीं रहा। राजा-रानी ने भक्ति से मुनिराजों के चरणों में अपना माथा झुका दिया तथा विनयपूर्वक बैठ कर उनसे गृहस्थ-धर्म का व्याख्यान सुना। इसके बाद अपने एव श्रीमती के पूर्व-भव सुन कर राजा बज्रजघ ने पूछा—'हे मुनिराज! ये मतिवर, आनन्द, धनमित्र एव अकम्पन मुझ से बहुत प्यार करते हैं। मेरा भी इनमें अत्यधिक स्नेह है, इसका क्या कारण है? उत्तर में मुनिराज बोले—'राजन्! अधिकतर पूर्व-भव के संस्कारों से ही प्राणियों में परस्पर स्नेह अथवा द्वेष रहा करता है। आप का भी इनके साथ पूर्व-भव का सम्बन्ध है। ध्यानपूर्वक सुनो—मैं इनके पूर्व-भव सुनाता हूँ।'

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में एक वत्सकावती देश है, उसमें प्रभाकरी नाम की एक सुन्दर नगरी है। वहाँ के राजा का नाम नरपाल था। राजा नरपाल सतत् आरम्भ-परिग्रह में लीन रहता था; इसलिये वह मर कर पङ्कप्रभा नामक नरक में नारकी हुआ। वहाँ दश सागर पर्यन्त अनेक दुःख भोगता रहा। फिर वहाँ से निकल कर उसी नगरी के पास में विद्यमान एक पर्वत पर शार्दूल (व्याघ्र) हुआ। किसी समय उस पर्वत पर वहाँ के तात्कालिक राजा प्रीतिवर्धन अपने छोटे भाई के साथ रुके हुए थे। राज-पुरोहित ने उनसे कहा — 'यदि आप इस पर्वत पर मुनिराज के लिये आहार देवें, तो विशेष पुण्य लाभ होगा।' जब राजा ने पुरोहित से पूछा कि इस निर्जन पहाड़ पर कोई मुनि आहार के लिए क्यों आवेगा? तब उसने कहा कि आप नगरी के समस्त रास्ते सुगन्धित जल से सिंचवा कर उन पर ताजे फूल बिछवा दें अर्थात् नगरी को इस तरह सजवा दें कि जिससे कोई निर्ग्रन्थ मुनि उसमें प्रवेश न कर सके—क्योंकि वे अप्रासुक भूमि पर एक कदम भी नहीं रखते। फलतः कोई भी मुनि आहार के लिए नगरी में न जा कर इसी ओर आवेंगे, तब आप पड़गाह कर उन्हें विधिपूर्वक आहार दे सकते हैं। राजा प्रीतिवर्धन ने पुरोहित के कहे अनुसार ऐसा ही किया, जिससे पिहितास्रव नामक मुनि नगरी को विहार के अयोग्य समझ कर 'वन में आहार मिलेगा तो लेवेंगे, अन्यथा नहीं' ऐसा संकल्प कर उसी पर्वत की ओर गये, जहाँ पर राजा प्रीतिवर्धन मुनिराज की प्रतीक्षा कर रहे थे। मुनिराज को आते हुए देख कर राजा प्रीतिवर्धन ने उन्हें भक्तिपूर्वक पड़गाहा एवं उत्तम आहार दिया। पात्र-दान से प्रभावित होकर देवों ने वहाँ पर रत्नों की वर्षा की। रत्नों को बरसते देख कर मुनिराज पिहितास्रव ने राजा प्रीतिवर्धन से कहा — 'हे धरारमण! दान के वैभव से बरसती हुई रत्न-धारा को देख कर जिसे जाति-स्मरण हो आया है, ऐसा एक शार्दूल इसी पर्वत पर सन्यास-वृत्ति धारण किये हुए है; सो तुम उसकी योग्य रीति से परिचर्या करो। वह आगे चल कर भरत क्षेत्र के प्रथम तीर्थङ्कर वृषभनाथ का प्रथम पुत्र सम्राट भरत होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।' मुनिराज के कहे अनुसार राजा प्रीतिवर्धन ने जा कर उस शार्दूल की खूब परिचर्या की एवं मुनिराज ने स्वयं उसे पञ्च-नमस्कार मन्त्र सुनाया। जिससे वह अठारह दिन बाद समता परिणामों से मर कर ऐशान स्वर्ग के दिवाकरप्रभ विमान में दिवाकर देव हुआ। पात्र-दान के तात्कालिक अभ्युदय से चकित होकर राजा प्रीतिवर्धन के सेनापति, मन्त्री एवं

पुरोहित ने भी अत्यन्त शान्त परिणामों से राजा प्रीतिवर्धन के द्वारा दिये गये मुनि-दान की अनुमोदना की, जिसके प्रभाव से तीनों मर कर कुरुक्षेत्र की उत्तम भोगभूमि में आर्य हुए एव वहाँ की आयु पूर्ण कर ऐशान स्वर्ग के प्रभा, काँचन एव रूषित नामक विमान में क्रम से प्रभाकर, कनकाभ एवं प्रभञ्जन नाम के देव हुए। जब आप ऐशान स्वर्ग में ललितांग देव थे,तब ये सब आप के परिवार के देव थे। वहाँ से चय कर वह शार्दूल का जीव (दिवाकर देव) श्रीमती एव सागर का पुत्र होकर मतिवर नाम का आप का मन्त्री हुआ है। कनकाभ का जीव, अनन्तमति एवं श्रुतकीर्ति का सुपुत्र होकर आप का आनन्द नामधारी पुरोहित हुआ है। प्रभाकर का जीव, अजीव एव अपराजित सेनानी का पुत्र होकर अकम्पन नाम से प्रसिद्ध आप का सेनापति हुआ है एव प्रभञ्जन का जीव धनवती एव धनदत्त का पुत्र होकर धनमित्र नाम से प्रसिद्ध सेठ हुआ है। बस, इस पूर्व-भव के बन्धन से हो आप का इनमें एव इनका आप में अत्यधिक स्नेह है। इस तरह मुनिराज के मुख से मतिवर आदि का परिचय पा कर श्रीमती एवं राजा बज्रजङ्घ बहुत अधिक प्रसन्न हुए।

उस निर्जन वन में राजा बज्रजङ्घ एव मुनिराज के बीच जब यह सम्वाद चल रहा था, तब वहाँ नेवला (नकुल), शार्दूल (व्याघ्र),बन्दर एवं शूकर — ये चार जीव मुनिराज के चरणों में अनिमेष दृष्टि लगाये हुए बैठे थे। राजा बज्रजङ्घ ने कौतुकवश मुनिराज से पूछा — 'हे तपोनिधे ! ये नकुल आदि चार जीव आप की ओर टकटकी लगाये क्यों बैठे हैं ?' तब उन्होंने कहा — 'ध्यानपूर्वक सुनो, यह व्याघ्र पहिले इसी देश में शोभायमान हस्तिनापुर नगर में धनवती एव सागरदत्त नामक वैश्य दम्पति के उग्रसेन नाम का पुत्र था। यह क्रोधी बहुत था, इसलिये इसने अपने जीवन में तिर्यञ्च आयु का बन्ध कर लिया। उग्रसेन वहाँ के राज-भण्डार का प्रधान व्यवस्थापक था; इसलिये वह अधीनस्थ सेवकों को धमका कर भण्डार से घी, चावल आदि वस्तुएँ वेश्याओं के लिए भेजा करता था। जब राजा को इस बात का पता चला, तब उसने उसे पकड़वा कर खूब मार लगवाई, जिससे वह मर कर यह व्याघ्र हुआ है।'

यह शूकर पूर्व-भव में विजय नगर के बसन्तसेना एव महानन्द नामक राज-दम्पति का हरिवाहन नामक प्रसिद्ध पुत्र था। हरिवाहन अत्यधिक अभिमानी था, वह अपने सामने किसी को कुछ भी नहीं समझता था। यहाँ तक कि पिता वगैरह गुरुजनों की भी आज्ञा नहीं मानता था। एक दिन इसके पिता ने इसे कुछ आज्ञा दी,

जिसे न मान कर इसने पत्थर के खम्भे से अपना सिर फोड़ लिया एवं उसकी व्यथा से मर कर यह शूकर हुआ है।

यह बन्दर अपने पहिले भव में धान्य नगर के सुदत्ता एवं कुबेर नामक वैश्य-दम्पत्ति का नागदत्त नाम से प्रसिद्ध पुत्र था। यह बड़ा मायावी था, इसका चित्त सदा छल-कपट करने में लगा रहता था। किसी समय इसकी माँ ने अपनी छोटी कन्या के विवाह के लिए दूकान में से कुछ धन ले लिया, जिसे यह नहीं देना चाहता था। इसने माँ से धन वापिस लेने के लिए अनेक उपाय किये, पर वे सब निष्फल हुए। अन्त में वह इसी दुःख से मर कर यह बन्दर हुआ है।

और यह नेवला भी पहिले भव में सुप्रतिष्ठित नगर में कादम्बिक नाम का पुरुष था। कादम्बिक बहुत लोभी था। किसी समय वहाँ के राजा ने जिन-मन्दिर बनवाने के काम पर इसे नियुक्त किया। यह ईट लाने-वाले पुरुषों को कुछ धन दे कर बहुत-सी ईट अपने गृह में डलवाता जाता था। भाग्यवश इन्हीं ईटों में से इसे सोने की शलाकायें मिल गयीं, जिससे इसका लोभ अब अत्यधिक बढ़ गया। कादम्बिक को एक दिन अपनी कन्या की ससुराल जाना पड़ा; इसलिये मन्दिर के काम पर बदले में वह अपने पुत्र को नियुक्त कर गया था एव उससे कह भी गया था कि मौका पा कर कुछ ईटें अपने गृह पर भिजवाते जाना। परन्तु पुत्र ने यह पाप का काम नहीं किया। जब कादम्बिक लौट कर गृह आया एवं उसे मालूम हुआ कि पुत्र ने उसके कहे अनु-सार गृह पर ईटें नहीं डलवाई हैं, तब उसने उसे खूब पीटा एवं साथ में 'यदि ये पाँव न होते, तो मैं कन्या की ससुराल भी न जाता' — ऐसा सोच कर उसने अपने पाँव भी काट लिये। जब राजा को इस बात का पता चला, तब उसने उसे खूब पिटवाया, जिससे वह मर कर नकुल (नेवला) हुआ है।

आज आप ने जो मुझे आहार दिया है, उसका वैभव देखने से इन सब को अपने पूर्व-भवों का स्मरण हो आया है, जिससे ये सब अपने कुकर्मों पर पश्चाताप कर रहे हैं। इन सब ने आज पात्र-दान की अनुमोदना से विशेष पुण्य का सञ्चय किया है; इसलिये ये सब मर कर उत्तर भोग-भूमि कुरुक्षेत्र में जन्म लेंगे। ये सब आठ भवों तक आप के साथ स्वर्ग एव मनुष्यों के सुख भोग कर ससार-बन्धन से मुक्त हो जावेंगे। हाँ, साथ ही इस श्रीमती का जीव आप के तीर्थ में दान-तीर्थ को चलानेवाला श्रेयांसकुमार होगा तथा उसी पर्याय से मोक्षश्री प्राप्त करेगा।

इसी तरह मुनिराज के सुभाषण से राजा बज्रजघ एव रानी श्रीमती को जो आनन्द हुआ था, उसका वर्णन करना कठिन है। दोनों राज-दम्पति मुनिराज को नमस्कार कर अपने नगर की ओर चले आये एव मुनि-युगल भी अनन्त आकाश में विहार कर गये। राजा बज्रजघ ने उस दिन को उसी सरोवर के किनारे बिताया। फिर कुछ दिनों तक चलने के बाद उन्होंने समस्त सेना एवं परिवार के साथ पुण्डरीकिणीपुरी में प्रवेश किया। वहाँ उन्होंने शोक से आक्रान्त रानी लक्ष्मीमती एव बहिन अनुन्दरी को समझा कर बालक पुण्डरीक का राज्य-तिलक किया तथा जब तक पुण्डरीक, राज्य-कार्य सभालने के लिए योग्य न हो जावे, तब तक के लिए विश्वस्त वृद्ध मन्त्रियों के हाथ में राज्य का भार सौप दिया। इस तरह वे उत्पलखेट को लौट आये। प्रजा ने राजा बज्रजघ के शुभागमन के उपलक्ष में राजधानी की खूब सजावट की थी।

एक बार रात के समय जिस शयनागार में रानी श्रीमती एव राजा बज्रजघ सो रहे थे, उसमें सब ओर चन्दन आदि की सुगन्धित धूप का धुँवा फैल रहा था। दुर्भाग्य से उस दिन वहाँ की खिड़कियाँ खोलना सेवक भूल गया था, जिससे वह धुँवा वहीं सचित होता रहा। उसी सचित धुँए से राज-दम्पति का श्वास अचानक रुक गया एव वे दोनों सदा के लिए सोते रह गये। जब प्रातःकाल राजा एव रानी की आकस्मिक मृत्यु का समाचार नगर मे फैला, तब समस्त नगरवासी हाहाकार करने लगे। सभी ओर दारुण शोक के चिह्न दिखलाई देने लगे। अन्तःपुर की स्त्रियों के करुण विलाप से आकाश गूँज उठा। पर किया क्या जाता? होनहार अमिट थी। अब पाठकों को अधिक न रुला कर आगे एक सुन्दर क्षेत्र में लिए चलता हूँ।

जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत से उत्तर की ओर एक उत्तर कुरु नाम का सुहावना क्षेत्र है। वह क्षेत्र सर्वदा खूब हरा-भरा रहता है। वहाँ दस तरह के कल्पवृक्ष हैं, जो कि वहाँ के मनुष्यों को हर प्रकार की खाने, पीने, पहिनने, रहने आदि को सुन्दर सामग्री दिया करते हैं। वहाँ स्वच्छ जल से भरे हुए सुन्दर सरोवर हैं, जिनमें बड़े-बड़े सुन्दर कमल खिल रहे हैं। वन की भूमि हरी-हरी घास से शोभायमान है। वहाँ के नर-नारियों तथा पशु-पक्षियों की आयु तीन पल्य प्रमाण होती है एव आजीवन किसी को कोई बीमारी नहीं होती। यदि सक्षेप में वहाँ के मनुष्यों के सुखों का वर्णन पूछा जावे, तो यही उत्तर पर्याप्त होगा कि वहाँ के मनुष्यों को जो सुख प्राप्त है, वह अन्य कहीं पर नहीं है एव जो सब जगह है, उससे बढ़ कर सुख वहाँ है।

जो जीव सम्यग्दर्शन , सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र से विभूषित उत्तम-पात्र मुनियों के लिये भक्ति से आहार देते हैं , वे ही मर कर वहाँ जन्म लेते हैं। राजा बज्रजघ एवं श्रीमती ने भी पुण्डरीकिणीपुरी को जाते समय सरोवर के तट पर मुनि-युगल को आहार-दान दिया था ; इसलिये वे दोनों मर कर ऊपर कहे हुए उत्तर कुरुक्षेत्र में उत्तम आर्य एव आर्या हुए। जिनका कथन पहिले कर आये हैं; वे नकुल, व्याघ्र, शूकर एवं बन्दर भी उसी कुरु क्षेत्र में आर्य हुए — कारण कि उन सब ने मुनि को आहार-दान देने की अनुमोदना की थी। वहाँ पर वे सब मनवाँछित भोग भोगते हुए सुख से रहने लगे।

इधर उत्पलखेट नगर में राजा बज्रजघ के विरह से मतिवर, आनन्द, धनमित्र एवं अकम्पन पहिले तो बहुत दुःखी हुए, फिर अन्त में दृढ़धर्म नामक मुनिराज के पास में जिन-दीक्षा धारण कर उग्र तपश्चर्या के प्रभाव से अधोग्रैवेयक स्वर्ग में अहमिन्द्र हुए।

एक दिन उत्तर कुरुक्षेत्र में आर्य एव आर्या, जो कि राजा बज्रजंघ एव श्रीमती के जीव थे, कल्पवृक्ष के नीचे बैठे हुए क्रीड़ा कर रहे थे कि इतने में वहाँ पर आकाश-मार्ग से विहार करते हुए दो मुनिराज पधारे। आर्य-दम्पति ने खड़े होकर उनका स्वागत किया एव उनके चरणों में नमस्कार कर पूछा — 'हे मुनीन्द्र ! आप लोगों का नाम क्या है। आप कहाँ से आ रहे हैं एवं इस भोग-भूमि में किधर विहार कर रहे हैं ? आप की शान्त मुद्रा देख कर हमारा हृदय भक्ति से उमड़ रहा है। कृपा कर कहिये, आप कौन हैं ?' यह सुन कर उन दोनों मुनियों में जो ज्येष्ठ थे, वे बोले — 'आर्य ! पूर्व-काल में जब आप राजा महाबल थे, तब मैं आप का स्वयबुद्ध नाम का मन्त्री था। मैं ने ही आप को जैन-धर्म का उपदेश दिया था। जब आप बाईस दिन का सन्यास धारण कर मर कर स्वर्ग चले गये, तब आप के विरह से दुःखी होकर मैं ने जिन-दीक्षा धारण कर ली थी , जिसके प्रभाव से मैं आयु के अन्त में मर कर सौधर्म स्वर्ग के स्वयप्रभ विमान में मणिचूल नाम का देव हुआ था। वहाँ से चय कर जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह सम्बन्धी पुष्कलावती देश में स्थित पुण्डरीकिणी नगरी में सुन्दरी एवं प्रियसेन नाम के राज-दम्पति के प्रीतिङ्कर नाम से प्रसिद्ध ज्येष्ठ पुत्र हुआ था। मैं प्रीतिदेव नामक अपने छोटे भाई के साथ अल्पवय में ही स्वयप्रभ जिनेन्द्र के समीप दीक्षित हो गया था। तीव्र तप के प्रभाव से हम लोगों को आकाश में चलने की शक्ति एवं अवधिज्ञान प्राप्त है। जब मुझे अवधि-

ज्ञान से ज्ञात हुआ कि आप यहाँ पर उत्पन्न हुए हैं, तब मैं आप को धर्म का स्वरूप समझाने के लिए यहाँ आया हूँ। यह जो मेरे साथ है, वह मेरा छोटा भाई प्रीतिदेव है। हे भव्य ! विषयाभिलाषा की प्रबलता से महाबल पर्याय में आप को निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ था; इसलिये आज निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करो। यह दर्शन ही ससार के समस्त दुःखों को दूर करता है। जीव, अजीव, आसव, बन्ध, सवर, निर्जरा एव मोक्ष — इन सात तत्वों का तथा दयामय धर्म का सच्चे मन में श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। सदैव निःशङ्क रहना, भोगों से उदासीन रहना, ग्लानि को जीतना, विचार कर कार्य करना, दूसरों के दोष छिपाना, गिरते हुए को सहारा देना, धर्मात्माओं से प्रेम रखना एव सम्यग्ज्ञान का प्रचार करना — ये उसके आठ अङ्ग हैं। प्रशम,सवेग,अनुकम्पा एव आस्तिक्य भाव उसके गुण हैं।' इस तरह आर्य को उपदेश दे कर प्रीतिङ्कर महाराज ने आर्या से भी कहा — 'अम्बे ! मैं स्त्री हूँ, इसलिये मैं कुछ नहीं कर सकती' — यह सोच कर दुःखी मत होओ। सम्यग्दर्शन तो प्राणी मात्र का धर्म है, उसे हर कोई धारण कर सकता है।

मुनिराज के उपदेश से आर्य एव आर्या ने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपनी आत्माओं को निर्मल सम्यग्दर्शन से विभूषित किया। कार्य हो चुकने के बाद मुनिराज आकाश-मार्ग से विहार कर गये। कुछ समय बाद आयु पूर्ण होने पर राजा बज्रजघ का जीव (आर्य) ऐशान स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में श्रीधर नाम का देव हुआ तथा श्रीमती (आर्या) का जीव उसी स्वर्ग के स्वयप्रभ विमान में स्वयप्रभ नाम का देव हुआ। शार्दूल (व्याघ्र) का जीव उसी स्वर्ग के चित्रांगद विमान में चित्रांगद नाम का, शूकर का जीव नन्द विमान में मणिकुण्डली नाम का, बानर का जीव नन्द्यावर्त विमान में मनोहर नाम का तथा नेवले का जीव प्रभाकर विमान में मनोरथ नाम का देव हुआ। वहाँ ये सब सचित पुण्य के प्रताप से अनेक तरह के भोग भोगते हुए सुख से रहने लगे। काल क्रम से स्वयबुद्ध मन्त्री के जीव प्रीतिङ्कर मुनिराज को, जिसने अभी उत्तर कुरुक्षेत्र में आर्य-आर्या को सम्यग्दर्शन प्राप्त करवाया था, श्रीप्रभ पर्वत पर केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। सभी देव उनकी वन्दना के लिए गये। श्रीधर देव ने भी जा कर अपने गुरु केवली भगवान प्रीतिङ्कर को भक्ति सहित नमस्कार किया तथा फिर धर्म का स्वरूप सुनने के बाद पूछा — 'भगवन् ! महाबल के भव में सम्भिन्नमति, शतमति तथा महामति नाम के मेरे जो तीन मिथ्यादृष्टि मन्त्री थे, वे अब कहाँ पर हैं ?' उन्होंने कहा कि सम्भिन्नमति तथा महामति

निगोद-राशि में उत्पन्न हो कर अचिन्त्य दुःख भोग रहे हैं तथा शतमति मिथ्याज्ञान के प्रभाव से दूसरे नरक में कष्ट पा रहा है। जो जैसा करता है, वैसा ही फल पाता है।

यह सुन कर श्रीधर देव को बहुत ही दुःख हुआ। वह सम्भिन्नमति तथा महामति के विषय में तो कर ही क्या सकता था ? हाँ, पुरुषार्थ से शतमति को सुधार सकता था ; इसलिये शीघ्र ही वह दूसरे नरक में गया। वहाँ अवधिज्ञान से शतमति मन्त्री के नारकी जीव को पहिचान कर उससे कहने लगा — 'क्यों महाशय ! आप मुझे पहिचानते हैं ? मैं विद्याधरों का राजा महाबल का जीव हूँ। मिथ्याज्ञान के कारण आप को ये नरक के तीव्र दुःख प्राप्त हुए हैं। अब यदि इनसे छुटकारा चाहते हो, तो सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान से अपने-आप को अलकृत करो।' श्रीधर देव के उपदेश से नारकी शतमति ने शीघ्र ही सम्यग्दर्शन धारण कर लिया। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से उसका समस्त ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया। श्रीधर देव कार्य की सफलता से प्रसन्नचित्त होता हुआ अपने स्थान पर वापिस लौट आया। शतमति का नारकी जीव भी नरक की आयु पूर्ण कर पुष्करार्ध द्वीप के पूर्वार्ध भाग में विशोभित पूर्व विदेह सम्बन्धी मगलावती देश में स्थित रत्नसञ्चय नगर में रहनेवाले सुन्दरी तथा मनोहर नामक राज-दम्पति के जयसेन नाम का पुत्र हुआ। जिस समय जयसेन का विवाह होनेवाला था, उसी समय श्रीधर देव ने जा कर उसे समझाया तथा नरक के समस्त दुःखों की याद दिलाई। जिससे उसने संसार से विरक्त होकर यमधर मुनिराज के पास दीक्षा ले ली तथा कठिन तपश्चर्या के प्रभाव से मर कर पाँचवें स्वर्ग में ब्रह्मेन्द्र हुआ। ब्रह्मेन्द्र ने जब अवधिज्ञान से अपने उपकारी श्रीधर देव का परिचय प्राप्त किया, तब उसके पास जा कर विनम्र मीठे शब्दों में कृतज्ञता प्रकट की।

कुछ समय बाद श्रीधर देव स्वर्ग से चय कर जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह सम्बन्धी महावत्सकावती देश में स्थित सुसीमा नगरी के सुदृष्टि एवं सुनन्दा नामक राज-दम्पति के सुविधि नामक पुत्र हुआ। सुविधि बहुत अधिक भाग्यशाली एव बुद्धिमान कुमार था। अभयघोष चक्रवर्ती उसके मामा थे। चक्रवर्ती के मनोहरा नाम की एक सुन्दरी कन्या थी, जो सचमुच में मनोहरा ही थी। राजा सुदृष्टि ने सुविधि की विवाह योग्य अवस्था देख कर उसका विवाह मनोरमा के साथ करवा दिया, जिससे वे दोनों विविध भोगों को भोगते हुए सुख से समय बिताने लगे। कुछ समय बाद राज्य का भार सुविधि को सौंप कर राजा सुदृष्टि मुनि

४

हो गये। सुविधि राज्य-कार्य में वहुत अधिक कुशल था , जिससे उसकी धवल कीर्ति चारों ओर फैल गई थी एवं समस्त शत्रुओं की सेना अपने-आप उसके वश में हो गई थी।

समय पा कर राजा सुविधि के केशव नाम का एक पुत्र हुआ। राजा बज्रजंघ की पर्याय में जो श्रीमती का जीव था, वह भोगभूमि के सुख भोग चुकने के बाद दूसरे स्वर्ग के स्वयंप्रभ विमान में स्वयंप्रभ नामक देव हुआ था। वही जीव राजा सुविधि के केशव नाम का पुत्र हुआ था। राजा बज्रजघ का जीव राजा सुविधि हुआ था। पूर्व-भव के सस्कार से राजा सुविधि का उस पर अत्यधिक स्नेह रहता था। शार्दूल का जीव चित्रांगद भी स्वर्ग से चय कर इसी देश में राजा विभीषण की प्रियदत्ता पत्नी से वरदत्त नाम का पुत्र हुआ। शूकर का जीव मणिकुण्डली देव अनन्तमती एव नन्दिषेण नामक राज-दम्पति के वरसेन नाम का पुत्र हुआ। बानर का जीव मनोहर देव चन्द्रमती तथा रतिषेण नामक राज-दम्पति के चित्राङ्गद नाम का पुत्र हुआ तथा नकुल का जीव मनोरथ देव चित्रमालिनी तथा प्रभञ्जन नामक राज-दम्पति के मदन नाम से प्रसिद्ध पुत्र हुआ।

कुछ समय बाद चक्रवर्ती अभयघोष ने अठारह हजार राजाओं के साथ विमलवाहन नामक मुनिराज के पास जिन-दीक्षा ले ली। वरदत्त, वरसेन, चित्राङ्गद तथा मदन भी चक्रवर्ती के साथ दीक्षित हो गये थे। पर राजा सुविधि का अपने पुत्र केशव पर अधिक स्नेह था। इसलिये वे गृह छोड़ कर मुनि न हो सके; किन्तु उत्कृष्ट श्रावक के व्रत रख कर गृह पर ही धर्म-सेवन करते रहे। आयु के अन्त समय में महाव्रत धारण कर कठिन तपस्या के प्रभाव से वे सोलहवें अच्युत स्वर्ग में अच्युतेन्द्र हुए। पिता के वियोग से दुःखी होकर केशव ने भी जिन-दीक्षा की शरण ली। वह आयु के अन्त में मर कर उसी स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ तथा वरदत्त आदि राज-पुत्र भी अपनी तपस्या के प्रभाव से उसी स्वर्ग मे सामानिक जाति के देव हुए। इन सभी की विभूति इन्द्र के समान थी। वहाँ अच्युतेन्द्र की बाईस सागर प्रमाण आयु थी। बाईस हजार वर्ष बीत जाने पर आहार की अभिलाषा होते ही शीघ्र स्वतः ही उसके कण्ठ में अमृत झर जाता था। बाईस पक्ष में इन्द्राणी का स्मरण होते ही उसकी काम-सेवन की इच्छा शान्त हो जाती थी। कहने का मतलब यह है कि वह हर तरह से सुखी था।

आयु के अन्त में वह अच्युतेन्द्र स्वर्ग से चय कर जम्बूद्वीप-सम्बन्धी पूर्व-विदेह में स्थित पुष्कलावती देश

की पुण्डरीकिणी नगरी में श्रीकान्ता तथा बज्रसेन नामक राज-दम्पति के पुत्र हुआ। वहाँ उसका नाम बज्रनाभि था। वरदत्त, वरसेन, चित्रांगद तथा मदन, जो कि अच्युत स्वर्ग में सामानिक देव हुए थे, वहाँ से चय कर क्रम से बज्रनाभि के विजय, वैजयन्त, जयन्त तथा अपराजित नाम के लघु सहोदर (छोटे भाई) हुए तथा केशव, जो सोलहवे स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ था, वहाँ से चय कर इसी पुण्डरीकिणीपुरी में कुबेरदत्त तथा अनन्तमती नामक वैश्य दम्पति के धनदेव नाम का पुत्र हुआ। बज्रनाभि के बज्रजंघ-भव में जो मतिवर, आनन्द, धनमित्र तथा अकम्पन नाम के मन्त्री, पुरोहित, सेठ तथा सेनापति थे, वे मर कर अधोग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए थे। अब वे ही वहाँ से चय कर बज्रनाभि के भाई हुए हैं। वहाँ उनके सुबाहु, महाबाहु, पीठ तथा महापीठ नाम रक्खे गये थे। इस तरह ऊपर कहे हुए दशों बालक एक साथ खेलते, बैठते, उठते, लिखते तथा पढ़ते थे, क्योंकि उन सब का परस्पर में बहुत प्रेम था। राज-पुत्र बज्रनाभि का शरीर पहिले ही बहुत सुन्दर था, पर यौवनावस्था आने पर वह अत्यधिक सुन्दर मालूम होने लगा था। उस समय उसकी लम्बी तथा स्थूल भुजाएँ, चौड़ा सीना, गम्भीर नयन तथा तेजस्वी चेहरा देखते ही बनता था। एक दिन बज्रनाभि के पिता बज्रसेन महाराज ससार के विषयों से उदासीन होकर वैराग्य का चिन्तवन करने लगे। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आ कर उनके विरक्ति सबधी चिन्तवन का समर्थन किया, जिससे उनका वैराग्य अत्यधिक बढ़ गया। अन्त में वे ज्येष्ठ पुत्र बज्नाभि को राज्य दे कर एक हजार राजाओं साथ दीक्षित हो गये तथा कठिन तपस्या के प्रभाव से केवलज्ञान प्राप्त कर अपनी दिव्य वाणी से पथ-भ्रान्त पुरुषों को सच्चा मार्ग बतलाने लगे। कुछ समय बाद आठों कर्मों को नष्ट कर वे मोक्ष पहुँच गये। इधर बज्नाभि की आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ, जिसमें एक हजार आरे थे, जो कान्ति में सहस्र-किरण सूर्य-सा चमकता था। चक्ररत्न को आगे कर बज्रनाभि दिग्विजय के लिये निकले तथा कुछ समय बाद दिग्विजयी होकर लौट आये। अब बज्रनाभि चक्रवर्ती कहलाने लगे थे। उनका प्रताप एवं यश सब ओर फैल रहा था। उस समय वहाँ उन-सा ऐश्वर्यशाली पुरुष दूसरा नहीं था। जो केशव (श्रीमती का जीव) स्वर्ग से चय कर पुण्डरीकिणीपुरी में कुबेरदत्त एवं अनन्तमती नामक वैश्य-दम्पति के धनदेव नाम का पुत्र हुआ था, वह बज्रनाभि का गृहपति नामक रत्न हुआ। इस प्रकार नौ निधि तथा चौदह रत्नों के स्वामी सम्राट बज्रनाभि का समय सुख से बीतने लगा। किसी समय महाराज बज्रनाभि

का चित्त ससार से विरक्त हो गया, जिससे वे अपने पुत्र बज्रदन्त को राज्य का भार सौप कर सोलह हजार राजाओं, एक हजार पुत्रों, आठ भाईयों तथा श्रेष्ठी धनदेव के साथ तीर्थङ्कर देव के समीप दीक्षित होकर तपस्या करने लगे। बज्रनाभि ने वही पर दर्शन-विशुद्धि, विनय-सम्पन्नता, शीलव्रतों में अतिचार हीनता, निरन्तर ज्ञानमय उपयोग, सवेग, शक्त्यनुसार तप तथा त्याग, साधु-समाधि वैयावृत्य, अर्हद्भक्ति, आचार्य-भक्ति, बहुश्रुत-भक्ति, प्रवचन-भक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्ग-प्रभावना तथा प्रवचन-वात्सल्य — इन सोलह भावनाओं का चिन्तवन किया, जिससे उन्हें तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त समय में वे श्रीप्रभ नामक पर्वत के शिखर पर पहुँचे तथा वहाँ शरीर से ममत्व छोड़ कर आत्म-समाधि में लीन हो गये। जिसके फलस्वरूप नश्वर मनुष्य देह को छोड़ कर वे सर्वार्थसिद्धि मे अहमिन्द्र हुए। वहाँ उनकी आयु तैंतीस सागर प्रमाण थी तथा शरीर एक हाथ ऊँचा तथा श्वेत रङ्ग का था। वे कभी सकल्प मात्र से प्राप्त हुए जल, चन्दन आदि से जिनेन्द्र देव की पूजा करते तथा कभी अपनी इच्छा से पास में आये हुए अहमिन्द्रों के साथ तत्व-चर्चाएँ करते थे। तैंतीस हजार वर्ष बीत जाने पर उन्हें आहार की अभिलाषा होती थी; सो तत्काल उनके कण्ठ में अमृत झर जाता था; इसके पश्चात् फिर उतने ही समय के लिए वे निश्चिन्त हो जाते थे। उनका श्वासोच्छ्वास भी तैंतीस पक्ष में चला करता था। ससार में उन जैसा कोई दूसरा नहीं था। यह अहमिन्द्र ही आगे चल कर कथानायक भगवान वृषभनाथ होगा। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सुबाहु, बाहु, पीठ, महापीठ तथा धनदेव भी, जो इन्हीं के साथ दीक्षित हो गये थे, आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक शरीर छोड़ कर सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुए थे। इन सब का वैभव आदि भी अहमिन्द्र बज्रनाभि के समान था। ये सभी भगवान श्री वृषभनाथ के साथ मोक्ष प्राप्त करेंगे।

पूर्व-भव परिचय

घनाक्षरी छन्द

आदि जै वर्मा दूजै महाबल भूप, तीजै स्वर्ग ईशान ललितांग देव भयो है।
चौथे बज्रजंघ राय, पाँचवें युगल देह, सम्यक् हो दूजे देवलोक फिर गयो है॥

सातवें सुविधि देव, आठवें अच्युत इन्द्र, नौमें भो नरीन्द्र बज्रनाभि नाम पायो है।
दशमें अहमिन्द्र जान, ग्यारमें ऋषभभान नाभिवंश भूधर के माथे जन्म लियो है ॥

—भूधरदास

(२)

भरतैरावतयो वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्या मुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ।

भगवान उमास्वामी ने कहा है कि भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल के द्वारा क्रम से वृद्धि एवं हानि होती रहती है—जिस प्रकार शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा की कलाएँ दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती हैं, उसी प्रकार उत्सर्पिणी काल में लोगों की कला, विद्या, आयु आदि वस्तुएँ बढ़ती जाती हैं। भरत एव ऐरावत क्षेत्र में शुक्ल पक्ष एव कृष्ण पक्ष की भाँति उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल का परिवर्तन होता रहता है। उनके छह भेद हैं — १ दुःषमा-दुःषमा, २ दुःषमा, ३ दुःषमा-सुषमा, ४ सुषमा-दुःषमा, ५ सुषमा एव ६ सुषमा-सुषमा — यह क्रम उत्सर्पिणी का है। अवसर्पिणी का क्रम इससे उल्टा होता है। ये दोनों मिल कर कल्पकाल कहलाते हैं, जिसका प्रमाण बीस कोड़ा-कोड़ी सागर है।

अभी इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी काल का सञ्चार हो रहा है। उसके सुषमा-सुषमा नामक पहिले भेद का समय चार कोड़ा-कोड़ी सागर है। उसके प्रारम्भ में मनुष्य उत्तर कुरु के मनुष्यों के समान होते थे। वहाँ पर जीवों की आयु तीन पल्य की होती है, शरीर की ऊँचाई छह हजार धनुष की होती है। वहाँ के लोगों का रङ्ग सोने-सा चमकीला होता है एव वे तीन-तीन दिन बाद थोड़ा-सा आहार लेते हैं। फिर क्रम-क्रम से हानि होने पर दूसरा सुषमा काल आता है, जिसका प्रमाण तीन कोड़ा-कोड़ी सागर है उसके प्रारम्भ में मनुष्य हरिवर्ष क्षेत्र के मनुष्यों की भाँति होते हैं; उनकी आयु दो पल्य की एव शरीर की ऊँचाई चार हजार धनुष की होती है। वे दो दिन बाद थोड़ा-सा आहार लेते हैं; उनका शरीर शङ्ख के समान श्वेत वर्ण का होता है। फिर क्रम से हानि होने पर तीसरा सुषमा-दुषमा काल आता है, जिसका प्रमाण दो कोड़ा-कोड़ी सागर है। उसके प्रारम्भ में मनुष्य हैमवत क्षेत्र के मनुष्यों की भाँति होते हैं; वे एक पल्य तक जीवित रहते हैं, उनका शरीर दो हजार धनुष ऊँचा होता है, वे एक दिन

बाद थोड़ा आहार लेते हैं एवं उनके शरीर का रङ्ग नील कमल के समान नीला होता है। फिर क्रम से हानि होने पर चौथा दुःषमा-सुषमा काल आता है, जिसका प्रमाण ब्यालीस हजार वर्ष न्यून एक कोड़ा-कोडी सागर है। उसके प्रारम्भ काल मे मनुष्य विदेह क्षेत्र के मनुष्यों सदृश होते है। उनके शरीर की ऊँचाई पॉच सौ धनुष की एव आयु एक करोड़ वर्ष की होती है। वे दिन में एक-दो बार आहार करते हैं। फिर क्रम से हानि होने पर पॉचवॉ दुःषमा काल आता है, जिसका प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष का है। इसके प्रारम्भ में मनुष्यों को ऊँचाई पहिले से बहुत कम हो जाती है; यहॉ तक कि साढ़े तीन हाथ ही रह जाती है; आयु भी बहुत कम हो जाती है। उस समय के लोग दिन में कई बार खाने लगते हैं, फिर क्रम से परिवर्तन होने पर दुःषमा-दुषमा नाम का छट्ठा काल आता है, जिसका प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष का है। छट्ठे काल में लोगों की अवगाहना शरीर की ऊँचाई एक हाथ की रह जाती है, आयु बिलकुल थोड़ी रह जाती है एव उनके शरीर भी कुरूप होने लगते हैं। इसी तरह उत्सर्पिणी के भी छह भेद होते हैं तथा उनका प्रमाण भी दश कोड़ा-कोड़ी सागर का होता है; परन्तु इनका क्रम अवसर्पिणी के क्रम से विपरीत होता है। जब यहॉ अवसर्पिणी का क्रम पूरा हो चुकेगा, तब उत्सर्पिणी का सञ्चार होगा।

हमें जिस समय का वर्णन करना है, उस समय यहॉ अवसर्पिणी का तीसरा सुषमा-दुःषमा काल चल रहा है। तीसरे काल मे यहॉ जघन्य भोगभूमि जैसी रचना थी। कल्प-वृक्षों के द्वारा ही मनुष्यों की आवश्य-कताएँ पूर्ण हुआ करती थीं। स्त्री एव पुरुष साथ में उत्पन्न होते थे एव वे सात सप्ताह में पूर्ण यौवन प्राप्त हो जाते थे। उस समय कोई किसी बात के लिए दुःखी नही था, सभी मनुष्य एक समान वैभववाले थे, कोई किसी के आश्रित नहीं था, सभी स्वतन्त्र थे पर ज्यो-ज्यों तीसरा काल बीतता गया, त्यों-त्यों ऊपर कही हुई बातों में न्यूनता आती गई। यहॉ तक कि तीसरे काल के अन्तिम पल्य में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुके थे।

स्त्री-पुरुषों का एक साथ उत्पन्न होना बन्द हो गया था। पहिले बालक-बालिकाओं के उत्पन्न होते ही उनके माता-पिता की मृत्यु हो जाती थी; पर जब वह प्रथा धीरे-धीरे बन्द होने लगी, तब कल्पवृक्षों की कांति मन्द पड़ गयी एव फिर धीरे-धीरे वे नष्ट भी हो गये। बिना वपन किये हुए अनाज पैदा होने लगा; सिंह, व्याघ्र आदि पशु उपद्रव करने लगे। इन सब विचित्र परिवर्तनों से जब जनता घबड़ाने लगी, तब क्रम से इस भारतवर्ष

में प्रतिश्रुति १, सन्मति २, क्षेमङ्कर ३, क्षेमन्धर ४, सीमङ्कर ५, सीमन्धर ६, विमलवाहन ७, चक्षुष्मान ८, यशस्वी ९, अभिचन्द्र १०, चन्द्राभ ११, मरूदेव १२, प्रसेनजित १३ एवं नाभिराज १४ — ये चौदह महापुरुष हुए। इन महापुरुषों ने अपने बुद्धि-बल से जनता का सरक्षण किया — इसलिये लोग इन्हें 'कुलकर' कहते थे। यहाँ पर चौदहवें कुलकर नाभिराज का कुछ वर्णन करना अनावश्यक नहीं होगा ; क्योंकि कथानायक भगवान श्री वृषभनाथ का इनके साथ विशेष सम्बन्ध रहा है।

यहाँ जब भोगभूमि की रचना मिट चुकी थी एव कर्मभूमि की रचना प्रारम्भ हो रही थी, तब अयोध्या नगरी मे अन्तिम कुलकर नाभिराज का जन्म हुआ था। ये स्वभाव से ही परोपकारी, मृदुभाषी एवं प्रतिभाशाली पुरुष थे। इनकी आयु एक करोड़ पूर्व की थी एवं शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष की थी। इनके मस्तक पर बँधा हुआ सोने का मुकुट बड़ा ही भव्य मालूम होता था। इनके समय में जन्म के समय बालक की नाभि में नाल दिखलाई देने लगी थी। महाराज नाभिराज ने उस नाल के काटने का उपाय बतलाया था, इसलिये उनका 'नाभिराज' सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ था। इन्हीं के समय में आकाश में श्यामल मेघ दिखने लगे थे एवं उनमें इन्द्रधनुष की विचित्र आभा छिटकने लगी थी। कभी उन मेघों में मृदङ्ग की ध्वनि जैसा सुन्दर शब्द सुनाई पड़ता एव कभी विद्युत चमकती थी। वर्षा होने से पृथ्वी की शोभा अपूर्व हो गई थी। कहीं सुन्दर निर्झर कलरव करते हुए बहने लगे थे, कहीं पहाड़ों की गुफाओं से इठलाती हुई नदियाँ बहने लगी थीं, कहीं मेघों की गर्जना सुन कर वनों में मयूर नाचने लगे थे, आकाश में श्वेत बगुले उड़ने लगे थे एव समस्त पृथ्वी पर हरी-हरी घास उत्पन्न हो गई थी, जिससे ऐसा मालूम पड़ता था, मानो पृथ्वी हरी साड़ी पहिन कर नवीन अभ्यागत पावस ऋतु का स्वागत करने के लिये अत्यधिक उद्यत हुई हो। उस वर्षा से खेतों में अपने-आप तरह-तरह के धान्य के अकुर उत्पन्न होकर समय पर योग्य फल देनेवाले हो गये थे। इस प्रकार उस समय यद्यपि भोग-उपभोग की समस्त सामग्री मौजूद थी, परन्तु उस समय की प्रजा उसे काम में लाना नहीं जानती थी; इसलिये वह यह सब देख कर भ्रम में पड़ गई थी। अब तक भोगभूमि बिलकुल मिट चुकी थी एव कर्म-युग का प्रारम्भ हो गया था, परन्तु लोग कर्म करना नहीं जानते थे; इसलिये वे भूख-प्यास से दुःखी होने लगे।

एक दिन चिन्ता से आकुल हुए समस्त प्राणी महाराज नाभिराज के पास पहुँचे एवं उनसे दीनतापूर्वक प्रार्थना कर कहने लगे — 'महाराज ! आप के उदय से अब मनचाहे फल देनेवाले कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं ; इसलिये हम सब भूख-प्यास से व्याकुल हो रहे है, कृपा कर जीवित रहने का कुछ उपाय बतलाइये। नाथ ! देखिये , कल्पवृक्षों के बदले ये अनेक अन्य वृक्ष उत्पन्न हुए हैं , जो फल के भार से नीचे झुक रहे हैं। इनके फल खाने से हम लोग मर तो न जावेंगे ? और ये खेतों में कई तरह के छोटे-छोटे पौधे लगे हुए हैं, जो बालों के भार से झुकने के कारण ऐसे मालूम होते हैं, मानो अपनी-अपनी महीदेवी को नमस्कार ही कर रहे हों। कहिए, ये सब किसलिये पैदा हुए है ? महाराज ! आप हम सब के रक्षक हैं, बुद्धिमान हैं,इसलिये इस सङ्कट के समय हमारी रक्षा कीजिये।' प्रजा के ऐसे दीनता भरे वचन सुन कर नाभिराज ने मधुर वचनों से सब को सन्तोष दिलवाया एव युग के परिवर्तन का हाल बतलाते हुए कहा कि भाइयों ! कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर भी ये साधारण वृक्ष तुम्हारा वैसा ही उपकार करेंगे , जैसा कि पहिले कल्पवृक्ष किया करते थे। देखो , ये खेतों में अनेक तरह के अनाज पैदा हुए हैं ; इनके खाने से तुम लोगों की भूख शान्त हो जावेगी एव इन सुन्दर कुएँ, बावडी, निर्झर आदि का पानी पीने से तुम्हारी प्यास मिट जावेगी। इधर देखो , ये लम्बे-लम्बे गन्ने के पेड़ दिखलाई पड़ रहे हैं , जो बहुत अधिक मीठे हैं ; इन्हें दाँतों अथवा यन्त्र से पेल कर इनका रस पीना चाहिये एव इस ओर देखो , इन गाय-भैंसों के थनों से श्वेत-श्वेत मिष्ट दुग्ध झर रहा है , इसे पीने से शरीर पुष्ट होता है एव भूख मिट जाती है। इस तरह दयालु महाराज नाभिराज ने उस दिन प्रजा को जीवित रहने के सब उपाय बतलाये एव हाथी के गण्डस्थल पर थाली आदि कई तरह के मिट्टी के बर्तन बना कर दिये एव आगे इसी तरह का बनाने का उपदेश भी दिया। नाभिराज के मुख से यह सब सुन कर प्रजाजन बहुत अधिक प्रसन्न हुए एव उनके द्वारा बतलाये हुए उपायों को काम में ला कर सुख से रहने लगे।

पहिले लोग बहुत अधिक भद्र-परिणामी होते थे; इसलिये उनसे किसी प्रकार का अपराध नहीं होता था। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया , त्यों-त्यों लोगों के परिणाम कुटिल होते गये एव वे अपराध करने लगे ; इसलिये नाभिराज ने एव उनके पहिले के कुलकरों ने अपराधी मनुष्यों को दण्ड देने के लिये दण्ड-विधान भी चलाया था। ध्यानपूर्वक सुनो, उनका दण्ड-विधान ! प्रारम्भ के पाँच कुलकरों ने अपराधी मनुष्यों को 'हा'

इस तरह शोक प्रकट-रूप दण्ड देना शुरू किया था। उनके बाद के पाँच कुलकरों ने 'हा' शोक प्रकट करना तथा 'मा, अब ऐसा नहीं करना' ये दो दण्ड चलाये थे एव उनसे पीछे के कुलकरों ने 'हा' 'मा' 'धिक'— ये तीन प्रकार के दण्ड चलाये थे।

राजा नाभिराज की स्त्री का नाम मरुदेवी था। मरुदेवी के उत्कर्ष के विषय में उसके नख-शिख का वर्णन न कर इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उसके समान सुन्दरी एवं सदाचारिणी स्त्री पृथ्वीतल पर न हुई है, न है एव न होगी। राजा नाभिराज की राजधानी अयोध्यापुरी थी। राज-दम्पति अनेक प्रकार के सुख भोगते हुए बड़े आनन्द से वहाँ रहते थे एवं नये-नये उपायों से प्रजा का पालन करते थे। अब यहाँ पर यह प्रकट कर देना अनुचित न होगा कि बज्रनाभि चक्रवर्ती जो कि सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए थे, कुछ समय बाद वहाँ से चय कर इन्हीं राज-दम्पति के पुत्र होंगे एव भगवान श्री वृषभनाथ नाम से प्रसिद्ध होंगे। ये भगवान श्री वृषभनाथ ही इस युग के प्रथम तीर्थङ्कर कहलावेंगे।

सर्वार्थसिद्धि में ज्यों-ज्यों बज्रनाभि अहमिन्द्र की आयु कम होती जाती थी, त्यों-त्यों तीनों लोकों में आनन्द बढ़ता जाता था। यहाँ तक कि वहाँ उनकी आयु केवल छः माह की बाकी रह गई; तब इन्द्र की आज्ञा से धनपति कुबेर ने राजधानी अयोध्या के समीप ही एक दूसरी अयोध्या नगरी बनाई। वह नगरी बारह योजन लम्बी तथा नौ योजन चौड़ी थी। नगर के बाहर चारों ओर अगाध जल से भरी हुई सुन्दर परिखा थी, जिसमें कई रङ्गों के कमल खिले हुए थे एव उन कमलों के पराग से उस परिखा का पानी तपे हुए सुवर्ण की भाँति जान पड़ता था। उसके बाद सुवर्णमय कोट बना हुआ था। उस कोट के शिखर बहुत ऊँचे थे। कोट के चारों चोर चार गोपुर बने हुए थे, जिनके गगनचुम्बी शिखरों पर मणिमय कलश ऐसे मालूम होते थे, मानो उदयाचल के शिखरों पर सूर्य के बिम्ब ही विराजमान हों। उस नगरी में जगह-जगह विशाल जिन-मन्दिर बने हुए थे, जिनमें जिनेन्द्रदेव की रत्नमयी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की गई थीं। कहीं स्वच्छ जल से भरे हुए तालाब दिखलाई देते थे। उन तालाबों में कमल पुष्प खिल रहे थे एवं उन पर मधु के पीने से मत्त हुए भौंरे मनोहर शब्द करते थे। कहीं अगाध जल से भरी हुई वापिकाएँ नजर आती थीं, जिनके रत्न-खचित किनारों पर हंस, सारस आदि पक्षी क्रीड़ा किया करते थे। कहीं आम, नींबू, अमरूद, अनार, जम्बीर

आदि के पेडों से सुशोभित बड़े-बड़े उद्यान बनाये गये थे, जिनमें तरह-तरह के फूलों की सुगन्धि फैल रही थी। कहीं अच्छे-अच्छे वाजार बने हुए थे; जिनमें हीरा, मोती, पन्ना आदि मणियों के ढेर लगाये जाते थे। कहीं सेठ-साहूकारों के बड़े-बड़े महल बने हुए थे, जिनके शिखरों पर कई तरह के रत्न जड़े हुए थे। किसी सुन्दर स्थान में राज-भवन बने हुये थे, जिनके ऊँचे शिखर आकाश के अन्तःस्थल को भेदते हुए आगे चले गए थे एव कही निर्बाध स्थानों में विशाल विद्यालय बनाये गये थे, जिनकी दीवालों पर कई प्रकार के शिक्षाप्रद चित्र टॅगे हुये थे। कविवर अर्हद्दास ने ठीक ही लिखा है — जिसके बनने में इन्द्र सूत्रधार हो एव देव लोग स्वय कार्य करनेवाले हों, उस अयोध्या नगरी का वर्णन कहाॅ तक किया जा सकता है ? सचमुच उस नव-निर्मित अयोध्या के सामने इन्द्र की अमरावती अत्यधिक निकृष्ट मालूम होती थी।

एक दिन शुभ-मुहूर्त में सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने सब देवों के साथ आ कर उस नवीन नगरी में महाराज नाभिराज एव मरुदेवी का राज्याभिषेक कर उन्हें राज-भवन में रुकवाया। उसी दिन सब अयोध्या-वासियों को भी नवीन अयोध्या में प्रवेश करवाया, जिससे उसकी आभा अत्यधिक विशिष्ट हो गयी थी। इसके बाद वे देव लोग कई तरह के कौतुक दिखला कर अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

जब तक मनुष्य भोग लालसाओं में लीन रहते हैं, तब तक उनके हृदय में धर्म की प्रभावना दृढ़ नहीं होने पाती; पर जैसे-जैसे भोग लालसाएँ घटती जाती हैं, वैसे ही उनमें धर्म की भावना दृढ़ होती जाती है। इस भारत वसुन्धरा पर जब से कर्मयुग का प्रारम्भ हुआ, तब से लोगों के हृदय भोग-लालसाओं से बहुत कुछ विरक्त हो चुके थे; इसलिये वह समय उनके हृदयों में धर्म का बीज वपन करने के लिए सर्वथा योग्य था। उस समय ससार को ऐसे देवदूत की आवश्यकता थी, जो सृष्टि के विशृङ्खल, अव्यवस्थित लोगों को शृङ्खलाबद्ध व्यवस्थित बनावे, उन्हें कर्तव्य का ज्ञान करावे एवं उनके सुकोमल हृदय-क्षेत्रों में धर्म-कल्पवृक्ष के बीज वपन करे। वह महान् कार्य किसी साधारण मनुष्य से नहीं हो सकता था, उसके लिए तो किसी ऐसे महात्मा की आवश्यकता थी, जिसका व्यक्तित्व बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ा हो, जिसका हृदय अत्यन्त निर्मल एवं उदार हो। उस समय बज्रनाभि चक्रवर्ती का जीव जो कि सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र पद पर आसीन था, इस महान् कार्य के लिए उद्यत हुआ। देवताओं ने उसका सहर्ष अभिवादन किया। यद्यपि

उसे अभी भारत-भू पर आने के लिए कुछ समय बाकी था, तथापि उसके पुण्य-परमाणु सब ओर फैल गये थे। सब से पहिले देवों ने उस भव्यात्मा के स्वागत के लिए भव्य नगरी का निर्माण किया एवं फिर उसमें प्रतिदिन दिन में तीन-तीन बार करोड़ों रत्नों की वर्षा की।

एक दिन महारानी मरुदेवी गङ्गा जल के समान स्वच्छ वस्त्र से शोभित शैय्या पर शयन कर रही थी। उस समय सरयू नदी की तरल तरगों के आलिंगन से शीतल हुई वायु धीरे-धीरे बह रही थी, इसलिये वह सुख की नींद सो रही थी। जब रात पूर्ण हुआ चाहती थी, तब उसने आकाश में नीचे लिखे सोलह स्वप्न देखे — १ ऐरावत हाथी, २ श्वेत बैल, ३ गरजता हुआ सिंह, ४ लक्ष्मी, ५ दो मालाएँ, ६ चन्द्रमण्डल, ७ सूर्य-बिम्ब, ८ सुवर्ण के दो कलश, ९ तालाब में खेलती हुई दो मछलियाँ, १० निर्मल जल से भरा हुआ सरोवर, ११ लहराता हुआ समुद्र, १२ रत्नों से जड़ा हुआ सिंहासन, १३ देवों का विमान, १४ नागेन्द्र भवन १५ रत्नराशि एवं १६ निर्धूम अग्नि। स्वप्न देखने के बाद उसने अपने मुख में प्रवेश करते हुए कुन्द पुष्प के समान श्वेत वर्णवाला एक बैल देखा। इतने में रात पूर्ण हो गई, पूर्व दिशा में लाली छा गई एवं राज-मन्दिर में वादित्रों की मंगल-ध्वनि होने लगी। वादित्रों की ध्वनि एवं बन्दीजनों के स्तुति भरे वचनों से महा-रानी मरुदेवी की नींद खुल गई। वह पञ्च-परमेष्ठी का स्मरण करती हुई शैय्या से उठी, तो अभूतपूर्व स्वप्नों का स्मरण कर आश्चर्य-सागर में निमग्न हो गई। जब उसे बहुत कुछ सोच-विचार करने पर भी स्वप्नों के फल का पता न चला, तब वह शीघ्र ही नहा-धो कर प्रस्तुत हुई एव बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहिन कर सभा-मण्डप की ओर गई। महाराज नाभिराज ने हृदय-वल्लभा मरुदेवी का यथोचित सत्कार कर उसे योग्य आसन पर बैठाया एव मधुर वचनों से कुशल-प्रश्न पूछ चुकने के बाद उसके राज-सभा में आने का कारण पूछा। मरु-देवी ने विनयपूर्वक रात में देखे हुए स्वप्न राजा नाभिराज से कहे एवं उनके फल जानने की इच्छा प्रकट की। राजा नाभिराज को अवधिज्ञान था; इसलिये सुनते ही वे स्वप्नों का फल जान गये थे। जब मरुदेवी अपनी जिज्ञासा प्रकट कर चुप हो रहीं, तब महाराज नाभिराज ने बोलना आरम्भ किया। बोलते समय उनके उज्ज्वल दाँतों की किरणें मरुदेवी के वक्षस्थल पर पड़ रही थीं, जिनसे ऐसा मालूम होता था, मानो महाराज नाभिराज अपनी प्रियतमा को मोतियों का हार ही पहिना रहे हों। उन्होंने कहा —

‘देवी। ऐरावत हाथी के देखने से तुम्हारे एक अत्यन्त उत्कृष्ट पुत्र होगा, बैल के देखने से वह समस्त ससार का अधिपति होगा, सिह के देखने से वह अत्यन्त पराक्रमी होगा, लक्ष्मी के देखने से अत्यन्त वैभवशाली होगा, दो मालाओं के देखने से धर्म-तीर्थ का कर्त्ता होगा, पूर्ण चन्द्रमा के देखने से समस्त प्राणियों को आनन्द देनेवाला होगा, सूर्य को देखने से तेजस्वी होगा, सोने के कलश देखने से निधियों का स्वामी होगा, मछलियों के देखने से अनन्त सुखी एव सरोवर के देखने से उत्तम लक्षणों से भूषित होगा, समुद्र के देखने से सर्वदर्शी एव सिंहासन के देखने से स्थिर साम्राज्यवान् होगा, देव-विमान देखने से वह स्वर्ग से आवेगा, नागेन्द्र का भवन देखने से अवधिज्ञानी, रत्नों की राशि देखने से गुणों की खानि एव निर्धूम अग्नि के देखने से वह कर्मरूपी ईधन को जलानेवाला होगा तथा स्वप्न देखने के बाद जो तुमने मुख में प्रवेश करते हुए श्वेत बैल को देखा है, उससे मालूम होता है कि तुम्हारे गर्भ में किसी देव ने अवतार लिया है।’

जब राजा नाभिराज मरुदेवी के स्वप्नों का फल बतला रहे थे, तब देवों के आसन अकस्मात् कम्पायमान् हुए, जिससे उन्हें भगवान वृषभनाथ के गर्भारोहण का निश्चय हो गया। इन्द्र की आज्ञानुसार दिक्कुमारियाँ एव श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी आदि देवियाँ जिन-माता महारानी मरुदेवी की सेवा के लिए उपस्थित हो गई। इन्द्र आदि समस्त देवों ने आ कर अयोध्यापुरी मे खूब उत्सव किया एव वस्त्र-आभूषण आदि से राजा नाभिराज एव मरुदेवी का खूब सत्कार किया। जो रत्नों की धारा गर्भाधान के छह माह पहिले से बरसती थी, वह गर्भाधान के दिनों में भी वैसी ही बरसती रही। इस तरह आषाढ़ शुक्ला द्वितीया के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र मे बज्रनाभि अहमिन्द्र ने सर्वार्थसिद्धि से चय कर महादेवी मरुदेवी के गर्भ में स्थान पाया। जब भगवान माता के गर्भ में आये थे, तब तीसरे सुषमा-दुःखमा काल के चौरासी लाख पूर्व एव चार वर्ष साढ़े पॉच माह बाकी थे।

मरुदेवी की सेवा के लिए जो दिक्कुमारियॉ एव श्री, ह्री आदि देवियॉ आई थीं, उन्होंने सब से पहिले स्वर्ग लोक से लाई हुई दिव्य औषधियों से उनका गर्भ-शोधन किया एव फिर निरन्तर गर्भ की रक्षा एव उसके पोषण में दत्तचित्त रहने लगीं। वे देवियॉ मरुदेवी की हर प्रकार से सेवा करने लगीं — कोई शरीर में तैल का मर्दन करती थी, कोई उबटन लगाती थी, कोई नहलाती थी, कोई चन्दन-कपूर-कस्तूरी आदि

सुगन्धित द्रव्यों का लेप लगाती थी, कोई बालों को सम्भाल कर उन्हें सुगन्धित फूलों से सजाती थी, कोई उत्तम वस्त्र पहिनाती थी, कोई ककरा, केयूर, मजीर आदि अनेक प्रकार के आभूषरा पहिनाती थी, कोई अमृत के समान अत्यन्त मधुर भोजन कराती थी, कोई शिर पर छत्र लगाती थी, कोई उत्तम ताम्बूल के बीड़े समर्पण करती थी, कोई रत्नों के चूर्ण से चौक पूरती थी, कोई तलवार ले कर पहरा देती थी, कोई आँगन बुहारती थी एव कोई मनोहर कविताओं, कहानियों, पहेलियों एव समस्याओं के द्वारा उनका चित्त अनुरञ्जित करती थी। इस तरह देवियों के साथ नृत्य-गीत आदि विनोदों के द्वारा मरुदेवी का समय सुख से बीतता था। उस समय की विचित्र घटना यह थी कि गर्भ के दिन तो क्रमशः बीतते जाते थे, पर उनके शरीर में गर्भ के कोई भी चिह्न प्रकट नहीं हुए थे। न उदर बढ़ा था, न मुख की कान्ति फीकी पड़ी थी, न आँखों एवं स्तनों में ही कोई परिवर्तन हुआ था।

जब धीरे-धीरे गर्भ का समय पूरा हो गया, तब चैत्र कृष्ण नवमी के दिन उत्तम लग्न में प्रातःकाल के समय मरुदेवी ने पुत्र-रत्न का प्रसव किया। उस समय वह पुत्र सूर्य के समान तेजस्वी मालूम होता था, क्योंकि जिस प्रकार सूर्य उदयाचल से प्राची दिशा में प्रकट होता है, उसी प्रकार वह भी महाराज नाभिराज से महारानी मरुदेवी में प्रकट हुआ था। जिस तरह सूर्य किरणों से प्रकाशमान होता है एवं अन्धकार नष्ट करता है, उसी तरह वह भी मति-श्रुति-अवधि-ज्ञानरूपी किरणों से चमक रहा था एव अज्ञान-तिमिर को नष्ट करता था। बालक-रूपी बाल-सूर्य को देख कर देवांगनाओं के नयन-कमल विकसित हो गये थे एव उनसे हर्षाश्रु-रूपी मकरन्द झरने लगा था। बालक की अनुपम प्रभा से समस्त प्रसूति-गृह अन्धकार-रहित हो गया था; इसलिये देवियों ने जो दीपक जलाये थे, वे केवल मङ्गल के लिये थे। उस समय तीनो लोकों में उल्लास मच गया था। कुछ क्षण के लिये नारकी भी सुखी हो गये थे। दिशाएँ निर्मल हो गयीं थीं। आकाश निर्मेघ हो गया था; नदी तालाब आदि का जल स्वच्छ हो गया था, सूर्य की कान्ति फीकी पड़ गई थी, मन्द सुगन्धित पवन बह रहा था। वन में एक साथ छहों ऋतुओं की शोभा प्रकट हो गयी थी; गृह-गृह उत्सव मनाये जा रहे थे, जगह-जगह पर लय एव ताल के साथ सुन्दर सगीत हो रहे थे, मृदङ्ग, वीणा आदि वादित्रों की मधुर ध्वनि समस्त गगन में गूँज रही थी, मकानों की छतों पर कई रङ्ग की पताकाएँ फहराई गई

थीं, सड़कों पर सुगन्धित जल सींच कर चन्दन छिड़का गया था एवं उत्तम-उत्तम पुष्प बिखेरे गये थे एवं आकाश से तरह-तरह के रत्न,मन्दार,सुन्दरनमेरु,पारिजात,सन्तान आदि कल्पवृक्षों से पुष्प बरस रहे थे। इन सब से अयोध्यापुरी की शोभा अत्यधिक अनुपम मालूम होती थी। उस समय वहाँ ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं था, जिसका हृदय बालक तीर्थङ्कर का जन्म सुन कर आनन्द से उमड़ न रहा हो। देव, नारकी, तिर्यञ्च, मानव आदि सभी प्राणियों के हृदयों में आनन्द-सागर लहरा रहा था।

बालक के पुण्य प्रताप से भवनवासी देवों के बिना बजाये ही शङ्ख बजने लगे थे। व्यन्तरों के भवनों में भेरी की ध्वनि होने लगी थी। ज्योतिषियों के विमान सिंहनाद से प्रतिध्वनित हो उठे थे एव कल्पवासी देवों के विमानों में घण्टों की सुन्दर ध्वनि होने लगी थी। जगद्गुरु जिनेन्द्रदेव के सामने किसी दूसरे का राज्य सिहासन सुदृढ़ नहीं रह सकता, मानो यह प्रकट करते हुए ही देवों के आसन हिल गये थे। जब इन्द्र अपनी हजार आँखों से भी आसन हिलने का कारण न जान सका, तब उसने अवधिज्ञान-रूपी लोचन खोला, जिससे वह शीघ्र ही समझ गया कि अयोध्यापुरी में महाराज नाभिराज के गृह में प्रथम तीर्थङ्कर का जन्म हुआ है। यह जान कर इन्द्र ने शीघ्रतापूर्वक सिंहासन से उठ कर अयोध्यापुरी की ओर सात कदम जा कर बालक तीर्थङ्कर को परोक्ष नमस्कार किया। फिर भगवान के जन्माभिषेक-महोत्सव में अनुगमन करने के लिये प्रस्थान भेरी बजवाई। भेरी की गम्भीर ध्वनि, मानो चिरकाल से सोये हुए समीचीन-धर्म को जगाती हुई तीनों लोको में फैल गयी थी; प्रस्थान-भेरी की ध्वनि सुन समस्त देव-सेनाएँ अपने-अपने आवासों से निकल कर स्वर्ग के गोपुर-द्वार पर इन्द्र की प्रतीक्षा करने लगीं। सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र भी इन्द्राणी के साथ ऐरावत हाथी पर बैठ कर समस्त देव सेनाओं के साथ अयोध्यापुरी की ओर चला। मार्ग मे अनेक सुर-नर्तकियाँ नृत्य करती जाती थीं। सरस्वती वीणा बजाती थी, गन्धर्व गाते थे एव भरताचार्य नृत्य की व्यवस्था कर रहे थे। उस समय परस्पर घर्षण से टूट-टूट कर नीचे गिरते हुए मालाओं के मणि ऐसे मालूम पड़ते थे, मानो ऐरावत हाथियों के पाद-सञ्चार से चूर्ण हुए नक्षत्रों के टुकड़े हो हों। धीरे-धीरे वह देव-सेना आकाश से नीचे उतरी एव अयोध्यापुरी की तीन प्रदक्षिणाएँ दे कर उसे चारों ओर से घेर कर आकाश में स्थिर हो गई। इन्द्र-इन्द्राणी आदि कुछ प्रमुख देव राजा नाभिराज के भवन पर पहुँचे एवं

तीन प्रदक्षिणाएँ दे कर उसके भीतर प्रविष्ट हुए। वहाँ राज-मन्दिर की अनूठी शोभा देख कर इन्द्र बहुत अधिक हर्षित हुआ। बालक-जिन को लाने के लिये इन्द्र ने इन्द्राणी को प्रसूति-गृह में भेजा एवं स्वयं आँगन में खड़ा रहा। वहाँ जब उसकी दृष्टि माता के पास शयन करते हुए बालक-जिन पर पड़ी, तब उसका हृदय आनन्द से भर गया। इन्द्राणी ने उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार किया एवं फिर वह मरुदेवी को मायामयी निद्रा से अचेत कर उसके समीप माया-निर्मित एक बालक को सुला कर बालक-जिन को बाहर ले आई। उस समय उनके आगे-आगे दिक्कुमारियाँ अष्ट मङ्गल लिए हुए चल रही थीं, कोई जय-जय घोष कर रही थीं एव कोई मनोहर मङ्गल-गीत गा रही थीं। इन्द्राणी ने जिन-बालक को ले जा कर इन्द्र को सौंप दिया। कहते हैं कि इन्द्र दो आँखों से बालक का सौंदर्य देख कर सन्तुष्ट नहीं हो सका था; इसलिए उसने उसी समय विक्रिया से हजार आँखें बना ली थीं। पर कौन कह सकता है कि वह हजार आँखों से भी उन्हें देख कर सन्तुष्ट हुआ होगा? उस समय देव-सेना में 'जय-जयकार' घोष के सिवाय अन्य कोई शब्द सुनाई नहीं पड़ता था। सौधर्म इन्द्र ने उन्हें ऐरावत हाथी पर बैठाया एवं स्वयं उन्हें गोद में ले कर अपने हाथों से आश्रय देता रहा। उस समय बालक वृषभनाथ के सिर पर ऐशान स्वर्ग का इन्द्र धवल छत्र लगाये हुए था। सनत्कुमार एवं माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र दोनों चमर ढुल रहे थे तथा अवशिष्ट इन्द्र एवं देव जय-जयकार कर रहे थे। इसके अनन्तर वह विशाल सेना आकाश-मार्ग से मेरु पर्वत की ओर चली एवं धीरे-धीरे चल कर निन्यानवे हजार योजन उच्च मेरु पर्वत पर पहुँच गई। मेरु पर्वत के शिखर पर जो पाण्डुक वन है, उसमें देव-सेना को ठहरा कर देवराज इन्द्र उस वन में ईशान दिशा की ओर गया। वहाँ उसकी दृष्टि पाण्डुक-शिला पर पड़ी। वह शिला स्फटिक मणियों से बनी हुई थी, देखने में अर्धचन्द्र-सी मालूम होती थी, पचास योजन चौड़ी, सौ योजन लम्बी एव आठ योजन ऊँची थी। उसके बीच भाग में एक रत्न-खचित सोने का सिंहासन रक्खा था एव उस सिंहासन के दोनों ओर दो अन्य सिंहासन भी रक्खे हुए थे। इन्द्र ने वहाँ पर वस्त्रांग जाति के कल्पवृक्षों से प्राप्त हुए वस्त्रों से एक सुन्दर मण्डप तैयार करवा कर उसे अनेक तरह के रत्न एवं चित्रों से सजवाया था। इसके अनन्तर इन्द्र ने बालक-जिन को ऐरावत हाथी के गण्डस्थल से उतार कर बीच के सिंहासन पर विराजमान कर दिया एव बगल के दोनों आसनों

पर सौधर्म एवं ऐशान स्वर्ग के इन्द्र बैठे। इन दोनों इन्द्रों के आसन से ले कर क्षीर-समुद्र तक देवों की दो पक्तियाँ बनी हुई थीं , जो वहाॅ से जल से भरे कलशे हाथों-हाथ इन्द्रों के पास पहुॅचा रही थीं । दोनों इन्द्रों ने विक्रिया से हजार-हजार हाथ बना लिये थे; इसलिये उन्होंने एक साथ हजार कलशे ले कर बालक का अभिषेक किया। बालक-जिन में जन्म से ही अतुल्य बल था; इसलिये वे उस विशाल प्रचण्ड जल-धारा से रञ्चमात्र भी विचलित नहीं हुए थे। यदि वह प्रचण्ड धारा किसी बज्रमय पर्वत पर पड़ती , तो वह भी खण्ड-खण्ड हो जाता, पर वह प्रचण्ड जल-धारा जिनेन्द्र-बालक पर पुष्पों की कलिका से भी लघु मालूम पड़ती थी। जब अभिषेक का कार्य पूरा हो गया, तब उत्तम वस्त्र से बालक-जिन का शरीर पोंछ कर इन्द्राणी ने उन्हें तरह-तरह के आभूषण पहिनाये। मनोहर शब्द एव अर्थ से भरे हुए अनेक स्तोत्रो के द्वारा देवराज ने उनकी खूब स्तुति की। भक्ति से भरी हुई देव-नर्तकियों ने सुन्दर अभिनय-नृत्य किया एव समस्त देवों ने उनका जन्म-कल्याणक देख कर अपनी देव-पर्याय को सफल माना था। 'बालक वृष (धर्म) से शोभायमान है'—ऐसा देख कर इन्द्र ने उनका नाम 'वृषभनाथ' रक्खा। इस तरह इन्द्र आदि देवमण्डल मेरु पर्वत पर अभिषेक महोत्सव समाप्त कर पुनः अयोध्या को वापिस आये एव वहाॅ उन्होंने जिन-बालक को माता की गोद में दे कर अभिषेक-विधि के सब समाचार सुनाये। इसे सुन कर उनके माता-पिता आदि परिवार के लोग बहुत अधिक प्रसन्न हुए। उसी समय इन्द्र ने 'आनन्दोद्य' नाम का एक नाटक किया , जिसमें उसने अपनो अनूठी नृत्य-कला के द्वारा समस्त दर्शको के चित्त को मोहित कर लिया था। फिर विक्रिया से भगवान वृषभदेव के महाबल आदि दश पूर्व-भवो का दृश्य-परिचय करवाया। महाराज नाभिराज ने भी दिल खोल कर पुत्रोत्पत्ति के उपलक्ष्य मे अनेक उत्सव किये थे। उस समय अयोध्यापुरी की शोभा एव सजावट के सामने कुबेर की अलकापुरी एव इन्द्र की अमरावती भी बहुत अधिक फीकी मालूम होती थी। जन्माभिषेक का महोत्सव पूरा कर देव एव देवेन्द्र अपने-अपने स्थानों को चले गये। जाते समय इन्द्र नाभिराज के भवन पर भगवान के लालन-पालन में चतुर कुछ देव-कुमार एव देव-कुमारियों को छोड़ गया था। वे देव-कुमार विक्रिया से अनेक रूप बना कर भगवान का मनोरञ्जन करते थे एव देव-कुमारियाॅ तरह-तरह के उत्तम पदार्थो से उनका लालन-पालन करती थीं। कहते हैं कि इन्द्र ने भगवान के हाथ के अगूठे में अमृत छोड़ दिया था, जिसे

चूस-चूस कर वे बड़े हुए थे, उन्हें माता का दुग्ध पीने की आवश्यकता नहीं हुई थी। बाल-भगवान अपनी लीलाओं से सभी का मन हर्षित करते थे। उस समय ऐसा कौन होगा, जो बालक की मन्द मुसकान, तोतली बोली एवं मनोहर चेष्टाओं से प्रमुदित न हो जाता हो? उन्हें जन्म से ही मति-श्रुति एवं अवधिज्ञान था। उनकी बुद्धि इतनी प्रखर थी कि उन्हें किसी गुरु से विद्या सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ी। वे अपने-आप ही समस्त विद्याओं एवं कलाओं में कुशल हो गये थे। उनके अद्भुत पाण्डित्य के सामने अच्छे-अच्छे विद्वानों को भी अपना अभिमान छोड़ देना पड़ता था।

वे कभी विद्वान मित्रों के साथ कोमल-कान्त पदावली के द्वारा कविता की रचना करते थे, कभी अलङ्कार-शास्त्र की चर्चा करते थे, कभी तरह-तरह की पहेलियों के द्वारा मन बहलाया करते थे, कभी न्याय-शास्त्र की चर्चा से अभिमानी वादियों का मान-भङ्ग करते थे, कभी सुन्दर सङ्गीत-सुधा का पान करते थे, कभी मयूर-तोता-हंस-सारस आदि पक्षियों की मनोहर चेष्टायें देख-देख कर प्रसन्न होते थे, कभी आये हुए प्रजाजन से मधुर वार्तालाप करते थे, कभी हाथी पर सवार होकर नदी-नद-तालाब-उद्यान आदि की सैर करते थे एवं कभी ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों की चोटियों पर चढ़ कर प्रकृति की शोभा देखते थे। इस प्रकार राजकुमार वृषभनाथ ने सुखपूर्वक कुमारकाल व्यतीत कर तरुण अवस्था में पदार्पण किया। उस समय उनके शरीर की शोभा तप्त काञ्चन की तरह अत्यधिक भली मालूम होती थी। उनका शरीर नन्द्यावर्त आदि एक सौ आठ लक्षण एवं मसूरिका आदि नौ सौ व्यञ्जनों से विभूषित था। उनका रुधिर दुग्ध के समान श्वेत था। शस्त्र, पाषाण, धूप, सरदी, वर्षा विष, अग्नि, कटक आदि कोई भी वस्तुयें उन्हें कष्ट नहीं पहुँचा सकती थीं। उनके शरीर से खिले हुए कमल-सी सुगन्ध निकलती थी। युवावस्था ने उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में अपूर्व शोभा ला दी थी। यदि आप कवियों की वाणी को केवल कल्पना न समझते हों, तो मैं कहूँगा कि उस समय निशा-नायक चन्द्रमा अपने कलङ्क को दूर करने के लिए भगवान का मुख बन गया था एव उसकी स्त्री निशा अपना नाम-दोष हटाने के लिए उनके केश बन गई थी। यदि ऐसा न हुआ होता, तो वहाँ उत्पल (नयन-कुमुद) एवं उत्तम श्री (अन्धकार की शोभा तथा उत्कृष्ट शोभा) कहाँ से आती? क्योंकि उत्पलों की शोभा चन्द्रमा के रहते हुए एवं अन्धकार की शोभा रात्रि के रहते हुए ही होती है।

६

उनके गले में तीन रेखायें थीं, जिनसे मालूम होता था कि वह गला तीनों लोकों में सब से सुन्दर है। गले की सुन्दर आभा देख कर बेचारे शङ्ख से न रहा गया एवं वह पराजित होकर समुद्र में डूब मरा। कोई कहते हैं कि उनका वक्षःस्थल मोक्षस्थान था, क्योंकि वहाँ पर शुद्ध दोष रहित मुक्ता (मोती) तथा मुक्त जीव विद्यमान थे एवं कोई कहते हैं कि उनका वक्षःस्थल हिमालय पर्वत था; क्योंकि उस पर मुक्ता-हार-रूपी गङ्ग का प्रवाह पड़ रहा था। उनकी नाभि सरोवर के समान सुन्दर थी, उसमें मिथ्यात्वरूपी धूप से सन्तप्त धर्म-रूपी हस्ती डूबा हुआ था;इसलिये उसके पास काली रोमराजि उस हस्ती की मद-धारा-सी मालूम होती थी। उनके कन्धे बैल के ककुद के समान अत्यन्त स्थूल थे। भुजायें घुटनों तक लम्बी थीं। उरु त्रिभुवन-रूप भवन के मजबूत खम्भों के समान जान पड़ती थीं एवं चरण लाल कमलों की तरह मनोहर थे।

यह आश्चर्य की बात थी कि जो युवावस्था प्रत्येक मानव-हृदय पर विकार की छाप लगा देती है; उस युवावस्था में भी राजपुत्र वृषभनाथ के मन पर विकार के कोई चिह्न प्रकट नहीं हुए थे। उनकी बालकों जैसी खुली हँसी एव निर्विकार चेष्टायें उस समय भी ज्यों की त्यों विद्यमान थीं।

एक दिन महाराज नाभिराज ने वृषभनाथ के बढ़ते हुए यौवन को देख कर उनका विवाह करना चाहा, पर ज्यों ही उनकी निर्विकार चेष्टाओं एवं उदासीनता पर महाराज नाभिराज की दृष्टि पड़ी, त्यों ही वे कुछ हिचक गये। उन्होंने सोचा — 'इनका हृदय अभी से निर्विकार है — विकारशून्य है। जब ये बन्धन-मुक्त हाथी की भाँति हठ कर तप के लिये वन को चले जावेंगे, तब दूसरे की कन्या का क्या होगा?' क्षणैक के लिए ऐसा विचार करने बाद उनके मन में आया कि 'सम्भव है, विवाह कर देने से ये कुछ परिचित हो सकेंगे; इसलिये सहसा वन को न भागेंगे एवं दूसरी बात यह भी है कि यह युग का प्रारम्भ है, इस समय के लोग बहुत अधिक भोले हैं, सृष्टि की व्यवस्था एक प्रकार से नहीं के बराबर है। लोग प्रायः एक दूसरे का अनुकरण करते हैं; अतएव इस युग में विवाह की रीति प्रचलित करना तथा सृष्टि को व्यवस्थित बनाना अत्यन्त आवश्यक है। सम्भव है, जब तक इनकी काल-सन्धि (तप करने के योग्य समय की प्राप्ति) नहीं आई है, तब तक ये विवाह-सम्बन्ध स्वीकार कर भी लेंगे।' ऐसा सोच कर एक समय पिता नाभिराज वृषभनाथ के पास गये। वृषभनाथ ने पिता का उचित सत्कार किया। कुछ समय रुक कर महाराज नाभिराज

ने कहा — 'हे त्रिभुवनपते ! यद्यपि मैं समझता हूँ कि आप स्वयम्भू हैं — अपने-आप ही उत्पन्न हुए हैं, मैं आप की उत्पत्ति में केवल उसी प्रकार निमित्त मात्र हूँ, जिस प्रकार सूर्य की उत्पत्ति में उदयाचल होता है, तथापि निमित्त मात्र की अपेक्षा से मैं आप का पिता हूँ; इसलिए मेरी आज्ञा का पालन करना आप का कर्तव्य है। मुझे आशा है कि आप जैसे उत्तम पुत्र गुरुजनों की बातों का उल्लङ्घन नहीं करेंगे। मैं जो बात कहना चाहता हूँ, वह यह है कि इस समय आप लोक की सृष्टि की ओर दृष्टि दीजिये, जिसमें आप को लोक की सृष्टि में प्रवृत्त हुआ देख कर दूसरे लोग भी उसमें प्रवृत्त होंगे। इस समय मानव-समाज को सृष्टि का क्रम सिखलाने के लिए आप अत्यधिक सर्वोत्तम हैं, आप का ही व्यक्तित्व सब से ऊँचा है। इसलिये आप किसी योग्य कन्या के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित करने की अनुमति दीजिये।' इतना कह कर महाराज नाभिराज जब मौन हो गये, तब भगवान वृषभनाथ ने केवल मन्द मुसकान से पिता के वचनों का उत्तर दिया। महाराज नाभिराज पुत्र की अनुमति पा कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसी समय इन्द्र की सहायता से विवाह की तैयारियाँ करनी शुरू कर दीं एवं किसी शुभ-मुहूर्त में राजा कच्छ की बहिन यशस्वती एवं महाकच्छ की बहिन सुनन्दा के साथ भगवान वृषभनाथ का विवाह कर दिया। यशस्वती एवं सुनन्दा के सौन्दर्य के विषय में विशेष न लिख कर इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि वे दोनों अनुपम सुन्दरी थीं। उस समय उन जैसी सुन्दरी युवतियाँ दूसरी नहीं थीं। भगवान वृषभनाथ के विवाहोत्सव में देव एवं देवराज सभी ने सहयोग दिया था। पुत्र-वधुओं को देख कर माता मरुदेवी का हृदय फूला न समाता था। उन दिनों अयोध्या में कई तरह के उत्सव मनाये गये थे। यशस्वती एवं सुनन्दा ने अपने रूप-पाश से भगवान वृषभनाथ के चञ्चल चित्त को अपने वश में कर लिया था। वे उन दोनों के साथ अनेक तरह की क्रीड़ाएँ करते हुए सुख से समय बिताने लगे।

एक दिन रात के समय महादेवी यशस्वती अपने महल की छत पर रत्नजड़ित पलङ्ग पर सो रही थीं। सोते समय उन्होंने रात्रि के पिछले प्रहर में सुमेरु पर्वत, सूर्य, चन्द्र, कमल, महो-ग्रसन एवं समुद्र — ये स्वप्न देखे। प्रातः होते ही माङ्गलिक वादित्रों तथा बन्दीजनों की स्तुतियों के मनोहर शब्दों से उनकी नींद खुल गई। जब वह सो कर उठी, तब उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने स्वप्नों का फल जानने के लिये बहुत

अधिक प्रयत्न किये , पर जब सफलता न मिली , तब नहा-धो कर एवं सुन्दर वस्त्राभूषण पहिन कर भगवान वृषभनाथ के पास गईं। उन्होंने उनका खूब सत्कार किया एव अपने पास में ही सुवर्णमय आसन पर बैठाया। कुछ समय बाद उनसे महादेवी यशस्वती ने रात्रि में देखे हुए स्वप्न कहे एवं उनका फल जानने की इच्छा प्रकट की। हृदयवल्लभा के वचन सुन कर भगवान वृषभनाथ ने हँसते हुए कहा — 'सुन्दरी ! तुम्हारे सुमेरु पर्वत के देखने से चक्रवर्ती, सूर्य के देखने से प्रतापी, चन्द्रमा के देखने से कान्तिवान्, कमल के देखने से लक्ष्मीवान् , मही-ग्रसन के देखने से समस्त वसुधा का पालनकर्त्ता एवं समुद्र के देखने से गम्भीर हृदयवाला चरम-शरीरी पुत्र उत्पन्न होगा। वह पुत्र इस इक्ष्वाकु वश की कीर्ति-कौमुदी को प्रसारित करेगा एव अपने अतुल्य भुजबल से भरतक्षेत्र के छहों खण्डों का राज्य करेगा।' पतिदेव के मुख से स्वप्नों का फल सुन कर महादेवी यशस्वती बहुत अधिक हर्षित हुई। इसके अनन्तर व्याघ्र का जीव सुबाहु, जो कि सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था, वहाँ से चय कर महादेवी यशस्वती के गर्भ में आया। धीरे-धीरे महादेवी के शरीर में गर्भ के चिह्न प्रकट हो गये,समस्त शरीर रक्तहीन हो गया,स्तन-युगल स्थूल अधिक कृष्ण वर्ण हो गये, मध्य भाग कृश हो गया एवं उदर वृद्धि को प्राप्त हो गया था। उस समय उनका मन श्रृङ्गार-चेष्टाओं से हट कर वीर-चेष्टाओं में रमता था। वह सान पर घिसी हुई तलवार में मुख देखती थीं, योद्धाओं के वीरता भरे वचन सुनती थीं, धनुष की टङ्कार सुन कर अत्यन्त हर्षित होती थीं, पिंजड़े में बन्द किये हुए सिंहों के बच्चों को दुलार करती थीं एव शूर-वीरों की युद्ध-कला देख कर अत्यन्त प्रसन्न होती थीं। महादेवी यशस्वी की उक्त चेष्टाओं से स्पष्ट मालूम होता था कि उसके गर्भ में किसी विशेष पराक्रमी पुरुष ने अवतार लिया है।

क्रम-क्रम से जब नौ महीने बीत चुके, तब किसी शुभ लग्न में प्रातःकाल के समय उसने एक तेजस्वी बालक को प्रसूत किया। उस समय वह बालक प्रतापी सूर्य की भाँति एव महादेवी यशस्वती प्राची दिशा की भाँति मालूम होती थी। वह बालक अपनी भुजाओं से जमीन को छूता हुआ उत्पन्न हुआ था, इसलिये निमित्त-शास्त्र के जानकारों ने कहा था कि यह पुत्र सार्वभौम समस्त पृथ्वी का अधिपति अर्थात् चक्रवर्ती होगा। पुत्र-रत्न की उत्पत्ति से जिनराज वृषभदेव बहुत अधिक प्रसन्न हुए थे। मरुदेवी एवं नाभिराज के हर्ष का तो पारावार ही न था। उस समय अयोध्या में ऐसा कोई भी मानव नहीं था , जिसे वृषभदेव के पुत्र

की उत्पत्ति सुन कर हर्ष न हुआ हो। सम्पूर्ण नगरी तरह-तरह की पताकाओं से सजाई गई थी, राज-मार्ग सुगन्धित जल से सींचे गये थे एवं उन पर सुगन्धित पुष्प बिखेरे गये थे। प्रत्येक गृह के आँगन में रत्नचूर्ण से चौक पूरे गये थे एव अट्टालिकाओं में सारङ्गी, तबला आदि मनोहर वाद्यों के साथ सगीत-चतुर पुरुषों के श्रुति-सुगम गान हुए थे। राजा नाभिराज ने जो अभूतपूर्व दान दिया था, उससे पराजित होकर कल्पवृक्ष, कामधेनु एव चिन्तामणि रत्न भी भूलोक छोड़ कर कहीं अन्यत्र जा छिपे थे। कच्छ, महाकच्छ आदि राजाओं ने मिल कर नाती का जन्मोत्सव मनाया एव उसका नाम 'भरत' रक्खा। भरत अपनी बाल चेष्टाओं से माता-पिता का मन हर्षित करता हुआ बढ़ने लगा।

भगवान वृषभनाथ के बज्रजंघ भव में जो आनन्द नाम का पुरोहित था एवं क्रम से सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था, वह कुछ समय बाद महादेवी यशस्वती के गर्भ से वृषभसेन नाम का पुत्र हुआ। फिर क्रम-क्रम से सेठ धनमित्र, शार्दुलार्य, वराहार्य, वानरार्य एव नकुलार्य के जीव सर्वार्थसिद्धि से च्युत होकर उसी महादेवी यशस्वती के गर्भ से क्रम से अनन्तविजय, अनन्तवीर्य, अच्युत, वीर एवं वरवीर नाम के पुत्र हुए। इस तरह भरत के बाद महादेवी यशस्वती के गर्भ से निन्यानवे पुत्र तथा ब्राह्मी नामक एक पुत्री उत्पन्न हुई। अब भगवान वृषभनाथ की दूसरी पत्नी सुनन्दा का हाल ध्यानपूर्वक सुनो —

एक दिन रात्रि के समय सुनन्दा ने भी उत्तम स्वप्न देखे, जिसके फलस्वरूप उसके गर्भ में बज्रजंघ-भव का सेनापति जो क्रम-क्रम से सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था, अवतीर्ण हुआ। नौ माह के बाद सुनन्दा ने बाहुबली नाम का पुत्र उत्पन्न किया। बाहुबली का जैसा नाम था, वैसे ही उसमें गुण थे। उनकी वीर चेष्टाओं के सामने महादेवी यशस्वती के समस्त पुत्रों को मुंह की खानी पड़ती थी। भगवान वृषभेश्वर की बज्रजघ-भव में अनुन्दरी नाम की बहिन थी, वह कुछ समय बाद उसी सुनन्दा के गर्भ से सुन्दरी नाम की पुत्री हुई। इस प्रकार भगवान वृषभनाथ का समय अनेक पुत्र-पुत्रियों के साथ सुख से व्यतीत होता था।

एक दिन भगवान वृषभेश्वर सभा भवन में स्वर्ण-सिंहासन पर बैठे हुए थे, कई अमर-कुमार चमर ढुल रहे थे। बन्दीगण गर्भ-कल्याणक, जन्म-कल्याणक आदि की महिमा का आख्यान कर रहे थे; पास में ही देव, मनुष्य, विद्याधर आदि बैठे हुए थे। इतमें ब्राह्मी तथा सुन्दरी दोनों उनके पास पहुँची। दोनों

कन्याओं ने पिता वृषभदेव को झुक कर प्रणाम किया। वृषभदेव ने उन्हें उठा कर अपनी गोद में बैठा लिया तथा प्रेम से कुशल-प्रश्न पुछा। पुत्रियों की विनयशीलता देख कर वे बहुत अधिक प्रसन्न हुये। उसी समय दोनों को विद्या प्रदान के योग्य समझ कर उन्हें विद्या प्रदान करने का निश्चय किया तथा निश्चयानुसार वर्ण-माला सिखलाने के बाद उन्होंने ब्राह्मी को गणित-शास्त्र तथा सुन्दरी को व्याकरण,छन्द तथा अलङ्कार-शास्त्र सिखलाये। ज्येष्ठ पुत्र भरत के लिये अर्थ-शास्त्र तथा नाट्य-शास्त्र,वृषभसेन के लिये सगीत-शास्त्र,अनन्तविजय को चित्र-कला तथा गृह-निर्माण विद्या, बाहुबली को काम-तन्त्र, सामुद्रिक-शास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, हस्ति-तन्त्र, अश्व-तन्त्र तथा रत्न-परीक्षा शास्त्र पढ़ाये। इसी तरह अन्य पुत्रों को भी लोकोपकारी समस्त शास्त्र पढ़ाये। उस समय अनेक शास्त्रों के जानकार पुत्रों से घिरे हुये भगवान वृषभनाथ तेजस्वी किरणों से उद्भासित सूर्य के समान प्रतीत होते थे। इस तरह महा प्रतापी पुत्रों एव गुणवती स्त्रियों के साथ विनोदमय जीवन बिताते हुए भगवान वृषभनाथ का दीर्घ समय क्षण भर समान बीतता गया।

यह पहिले लिख आये हैं कि वह समय अवसर्पिणी काल का था; इसलिये प्रत्येक विषय में ह्रास ही ह्रास होता था। कुछ समय पहिले कल्पवृक्षों के बाद बिना बोयी हुई धान्य पैदा होती थी; पर अब वह भी नष्ट हो गई, औषधि वगैरह की शक्तियाँ कम हो गई; इसलिये मनुष्य खाने-पीने के लिये दुःखी होने लगे। सब ओर 'त्राहि-त्राहि' की ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। जब लोगों को अपनी रक्षा का कोई भी उपाय नहीं सूझ पड़ा, तब वे एकत्रित होकर महाराज नाभिराज की आज्ञानुसार भगवान वृषभानाथ के पास पहुँचे एवं दीनता भरे वचनों में प्रार्थना करने लगे — 'ऐ त्रिभुवनपते! हे दयानिधे! हम लोगों के दुर्भाग्य से कल्पवृक्ष तो पहिले ही नष्ट हो चुके थे, पर अब रही-सही धान्य आदि भी नष्ट हो गई है। इसलिये भूख-प्यास की बाधायें हम सब को अत्यधिक कष्ट पहुँचा रही है। वर्षा, धूप एवं सर्दी से बचने के लिये हमारे पास कोई साधन नहीं है। नाथ! इस तरह हम लोग कब तक जीवित रहेंगे? आप हम सब के उपकार के लिये ही पृथ्वीतल पर अवतरित हुए हैं। आप विज्ञ हैं, समर्थ हैं, दया के सागर हैं, इसलिये जीविका के कुछ उपाय बतला कर हमारी रक्षा कीजिये, प्रसन्न होइये।' इस तरह लोगों को आर्त-वाणी सुन कर भगवान वृषभदेव का हृदय दया से भर आया। उन्होंने निश्चय किया कि पूर्व-पश्चिम विदेहों की तरह यहाँ पर भी ग्राम,

नगर आदि का विभाग कर असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य एवं विद्या—इन छह कार्यों की प्रवृत्ति करनी चाहिये। ऐसा करने पर ही लोग सुख से अपनी आजीविका ग्रहण कर सकेंगे। ऐसा निश्चय कर उन्होंने लोगों को आश्वासन दिया एवं इच्छानुसार समस्त व्यवस्था करने के लिये इन्द्र का स्मरण किया। उसी समय इन्द्र समस्त देवों के साथ अयोध्यापुरी आया एव भगवान वृषभेश्वर के चरण-कमलों में प्रणाम कर आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगा। भगवान वृषभेश्वर ने अपने समस्त विचार इन्द्र के सामने प्रकट किये। इन्द्र ने हर्षित होकर मस्तक झुका कर उनके विचारों का समर्थन किया एवं स्वय देव परिवार के साथ सृष्टि की रचना करने के लिये तत्पर हो गया।

सबसे पहिले उसने अयोध्यापुरी में चारों दिशाओं में बड़े-बड़े सुन्दर जिन-मन्दिरों की रचना की, फिर काशी - कौशल - कलिंग - कर्नाटक, अङ्ग - बङ्ग - मगध-चोल - केरल-मालवा-महाराष्ट्र-सोरठ-आन्ध्र-तुरुष्क-कररसेन, विदर्भ आदि देशों का विभाग किया। उन देशों में नदी-नहर-तालाब, वन-उपवन आदि लोकोपयोगी उपादानों का निर्माण किया। फिर उन देशों के मध्य में परिखा, कोट, उद्यान आदि से शोभायमान गाँव, पुर, खेर, कर्वट आदि की रचना की। उस समय पुर अर्थात् नगरों का विभाग करनेवाले इन्द्र का 'पुरन्दर' नाम सार्थक हो गया। भगवान वृषभेश्वर की आज्ञा पा कर देवेन्द्र ने उन नगरों में प्रजा को रुकवाया। प्रजाजन भी नव-निर्मित भवनों में रह कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। इन्द्र अपना कर्तव्य पूरा कर समस्त देवों के साथ स्वर्ग को चला गया। एक दिन अवसर पा कर भगवान वृषभदेव ने प्रजा के लोगों में क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन तीन वर्णों की स्थापना कर उन्हें उनके आजीविका के योग्य उपाय बतलाये। उन्होंने क्षत्रियों को धनुष-बाण, तलवार आदि शस्त्रों का चलाना सिखला कर दीन-हीन जनों की रक्षा का भार सौपा। वैश्यों को देश-विदेशों में भ्रमण कर तरह-तरह के व्यापार करना सिखलाया एवं शूद्रों को दूसरों की सेवा-शुश्रुषा का कार्य सौपा था। उस समय भगवान वृषभेश्वर का आदेश लोगों ने मस्तक झुका कर स्वीकार किया, जिससे सब ओर सुख-शान्ति विराजने लगी।

भगवान वृषभेश्वर ने सृष्टि की सुव्यवस्था की थी ; इसलिये लोग उन्हें 'स्रष्टा-ब्रह्मा' नाम से एवं उस युग को 'कृतयुग' नाम से पुकारने लगे थे। जब भगवान आदिनाथ का प्रजा के ऊपर पूर्ण व्यक्तित्व प्रगट हो गया,

तब इन्द्र ने समस्त देवों के साथ आ कर महाराज नाभिराज की सम्मतिपूर्वक उनका राज्याभिषेक किया। राज्याभिषेक के समय अयोध्यापुरी की खूब सजावट की गई थी, गगनचुम्बी अट्टालिकाओं पर कई रङ्ग की पताकाएँ फहराई गई थीं। स्थान-स्थान पर तोरण-द्वार बना कर उनमें मणिमय बन्दनवार बाँधे गए थे, सड़कें सुगन्धित जल से सींची गई थीं एव उन पर हरी-हरी दूब बिछाई गई थी। जगद्गुरु आदिनाथ का राज्याभिषेक था एव देव-देवेन्द्र उसके प्रवर्तक थे; अब किसकी लेखनी में शक्ति है, जो उस समय की शोभा का सविस्तार वर्णन कर सके ?

मणिखचित सुवर्ण सिहासन पर बैठे हुए भगवान आदिनाथ का तेजोमय मुख-कमल सूर्य के समान दमकता था। पास में खड़े हुए बन्दीगण मनोहर शब्दों में उनकी कीर्ति गा रहे थे। महाराज नाभिराज ने अपने हाथ से उनके मस्तक पर राज्यपट्ट बाँधा था। उस समय सनत्कुमार एव माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र चमर ढुल रहे थे एव ईशान स्वर्ग का इन्द्र शिर पर छत्र लगाये हुए था। सौधर्मेन्द्र ने सभास्थल में 'आनन्द' नाम का नाटक किया था, जिसे देख कर समस्त देव, दानव, नर, विद्याधर आदि अत्यन्त हर्षित हुए थे। भगवान आदिनाथ ने पहिले प्रभावक शब्दों में सुन्दर व्याख्यान किया; जिसमें धर्म, अर्थ आदि पुरुषार्थों का स्पष्ट विवेचन किया गया था। फिर अपनी लघुता प्रगट करते हुए सृष्टि का समस्त भार अपने कन्धों पर ले लिया — अर्थात् राज्य करना स्वीकार किया। भगवान आदिनाथ का राज्याभिषेक समाप्त कर देव, देवेन्द्र आदि अपने-अपने स्थान को चले गये।

यह हम पहिले लिख आये हैं कि भगवान वृषभदेव ने प्रजा को सुव्यवस्थित बनाने के लिए उसमें क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र वर्ण का विभाग कर दिया था एव उन्हें उनके योग्य कार्य-भार सौप दिया था। लोग उक्त व्यवस्था से सुखमय जीवन बिताने लगे थे, पर काल के प्रभाव से लोगों के हृदय उत्तरोत्तर कुटिल होते जाते थे; इसलिये कभी कोई वर्ण-व्यवस्था के क्रम का उल्लङ्घन भी कर बैठते थे। वह क्रमोल्लङ्घन भगवान आदिनाथ को सह्य नहीं हुआ; इसलिये उन्होंने द्रव्य-क्षेत्र, काल एव भाव का ध्यान करते हुए अनेक तरह के दण्ड-विधान प्रयुक्त किये थे।

उन्होंने अपने अतिरिक्त सोमप्रभ, हरि, अकम्पन एवं काश्यप नाम के चार महामाण्डलिक राजाओं का

भी राज्याभिषेक कराया था। उन चारों माण्डलिक राजाओं में प्रत्येक के चार हजार मुकुटबद्ध राजा आधीन थे। भगवान आदिनाथ ने इन राजाओं को अनेक प्रकार के दण्ड-विधान सिखला कर राज्य का भार सौंप दिया था एव स्वयं महा-मण्डलेश्वर होकर सब की देख-भाल किया करते थे। भगवान आदिनाथ ने सोमप्रभ को 'कुरुराज' नाम से पुकारा था एवं उनके वंश का नाम 'कुरुवश' रक्खा था। हरि को 'हरिकान्त' नाम से सम्बोधित किया था तथा उनके वंश का नाम 'हरिवंश' रक्खा था। अकम्पन को 'श्रीधर' नाम से प्रख्यात किया था तथा उनके वश का नाम 'नाथवश' रक्खा था तथा काश्यप को 'मघवा' नाम से पुकारा था तथा उनके वश का नाम 'उग्रवंश' रक्खा था। इसके उपरान्त कच्छ, महाकच्छ आदि राजाओं को भी भगवान वृषभेश्वर ने उपयुक्त देशों का राज्य-भार सौंपा था। अपने पुत्रों में ज्येष्ठ भरत को युवराज बनाया तथा शेष पुत्रों को भी योग्य पदों पर नियुक्त किया।

भगवान वृषभनाथ ने समस्त मनुष्यों को इक्षु (ईख) के रस का संग्रह करने का उपदेश दिया था; इसलिये लोग उन्हें 'इक्ष्वाकु' कहने लगे। उन्होंने प्रजा-पालन के उपाय प्रचलित किये थे, इसलिये लोग उन्हें 'प्रजापति' भी कहते थे। उन्होंने अपने वश-कुल का उद्धार किया था, इसलिये लोग उन्हें 'कुलधर' कहते थे। वे काश्य अर्थात् तेज के अधिपति थे, इसलिये लोग उन्हें 'काश्यप' कहते थे। वे कृतयुग के प्रारम्भ में सब से पहिले उत्पन्न हुए थे, इसलिये लोग उन्हें 'आदि ब्रह्मा' नाम से पुकारते थे। अधिक कहाँ तक कहें, उस समय की प्रजा ने उनके गुणों से विमुग्ध होकर उनके कई तरह के सुन्दर-सुन्दर नाम रख दिये थे।

उनके राज्य काल में कभी किसी स्थान में परस्पर राजाओं में कलह नहीं हुआ। सब देश खूब सम्पन्न थे; कहीं भी ईति-भीति का डर नहीं था, सभी लोग सुखी थे। वहाँ का प्रत्येक प्राणी, राज राजेश्वर भगवान वृषभदेव के राज्य की प्रशसा किया करता था। इस तरह उन्होंने तिरेसठ लाख पूर्व वर्ष तक राज्य किया। उनका वह विस्तृत समय पुत्र-पौत्र आदि का सुख भोगते हुए सहज ही में व्यतीत हो गया था।

एक दिन भगवान वृषभदेव राज-सभा में सुवर्ण सिंहासन पर बैठे हुए थे। उनके आस-पास में अन्य भी अनेक राजे, सामन्त, पुरोहित, मन्त्री आदि बैठे हुए थे। इतने में उपासना करने के लिये अनेक देव-देवियों के साथ सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र वहाँ आया। आते समय इन्द्र सोच रहा था कि भगवान वृषभदेव

अब तक सामान्य मनुष्यों की भाँति विषय-वासना में फँसे हुए हैं। जब तक ये विषय-वासना से हट कर मुनि-मार्ग में पदार्पण नहीं करेंगे, तब तक ससार का कल्याण होना मुश्किल है। इसलिये किसी भी उपाय से आज इन्हें विषय-भोगों से विरक्त कर देने का उद्यम करना चाहिये। यह सोच कर उसने राज-सभा में एक अप्सरा नीलाञ्जना को (जिसकी शेष आयु अत्यन्त अल्प रह गई थी) नृत्य करने के लिये खड़ा किया। जब नीलाञ्जना नृत्य करते-करते क्षण-भर में विद्युत की भाँति विलीन हो गई, तब इन्द्र ने रस में भग न हो इसलिये, उसी के समान रूप एवं वेष-भूषावाली दूसरी अप्सरा को नृत्य-स्थल में खड़ा कर दिया। वह भी नीलाञ्जना की तरह हाव-भावपूर्वक मनोहर अभिनय करने लगी। साधारण जन को इस सब परिवर्तन का कुछ भी पता नहीं लगा; पर भगवान वृषभदेव की दिव्य दृष्टि से यह रहस्य छिपा न रह सका। वे नीलाञ्जना के अदृश्य होते ही ससार से एकदम उदासीन हो गये। इन्द्र ने अपनी चतुराई से जो दूसरी अप्सरा खड़ी की थी, उसका भगवान वृषभदेव पर समुचित प्रभाव हुआ। वे सोचने लगे — 'यह शरीर वायु के वेग से कम्पित दीप-शिखा की भाँति नश्वर है। यह लक्ष्मी विद्युत की दमक की तरह क्षणभंगुर है, यौवन सध्या की लाली के समान देखते-देखते नष्ट हो जाता है एवं यह विषय-सुख समुद्र की लहरों के समान चञ्चल है। इन्द्र की आज्ञा से नृत्य करती हुई यह कमलनयनी देवी भी जब आयु क्षीण हो जाने पर मृत्यु को प्राप्त हुई है; तब दूसरा अन्य कौन ससार में अमर होगा? देवों के सामने मनुष्यों की आयु ही कितनी है? यह लक्ष्मी विषराशि (समुद्र) से उत्पन्न हुई है; तब भी लोग इसे अमृत-सागर से उत्पन्न हुई बतलाते हैं। जो शरीर इस आत्मा के साथ दूध एव जल की तरह मिला हुआ है — सुख-दुःख में साथ देता है, वह भी जब समय पा कर आत्मा से पृथक् हो जाता है; तब बिलकुल अलग रहनेवाले स्त्री, पुत्र, पुत्री, धन-सम्पति आदि में कैसे बुद्धि स्थिर की जा सकती है? यह प्राणी पाप के वश नरक गति में जाता है, वहाँ सागरों वर्ष पर्यन्त अनेक तरह के दुःख भोगता है; वहाँ से निकल कर तिर्यञ्चगति में शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदि के विविध दुःख उठाता है। कदाचित् सौभाग्य से मनुष्य भी हुआ, तो दरिद्रता, रोग आदि से दुःखी होकर हमेशा सक्लेश का अनुभव करता है एव कभी कुछ पुण्योदय से देव भी हुआ, तो वहाँ भी अनेक मानसिक दुःखों से दुःखी होता रहता है। इस तरह चारों गतियों में कहीं भी सुख का ठिकाना नहीं है। सच्चा सुख मोक्ष में ही

प्राप्त हो सकता है एवं वह मोक्ष मनुष्य पर्याय से ही प्राप्त किया जा सकता है। इस मनुष्य पर्याय को पा कर यदि मैं ने आत्म-कल्याण के लिये प्रयत्न नहीं किया, तब मुझ से मूर्ख अन्य कौन होगा?' इधर भगवान वृषभदेव अपने हृदय में ऐसा चिन्तवन कर रहे थे, उधर ब्रह्मलोक (पाँचवें स्वर्ग) में रहनेवाले लौकान्तिक देवों के आसन कम्पायमान हुए, जिससे वे भगवान आदिनाथ का हृदय विषयों से विरक्त समझ कर शीघ्र ही उनके पास आये एवं तरह-तरह के वचनों से स्तुति कर उनके चिन्तवन का समर्थन करने लगे। देवों के वचन सुन कर उनकी वैराग्य-धारा अत्यन्त वेगवती हो गई। अब उन्हें राज्य-सभा में, गगन-चुम्बी महलों में, स्वर्गपुरी को जीतनेवाली अयोध्यापुरी में एवं स्त्री-पुत्र-धन-धान्य आदि में किंचित् भी आनन्द नहीं आता था। जब लौकान्तिक देव अपना कार्य समाप्त कर हंसों की भाँति आकाश में उड़ गये, तब इन्द्र-प्रतीन्द्र आदि चारों निकायों के देवों ने अयोध्यापुरी आ कर जय-घोषणा के साथ भगवान वृषभदेव का क्षीर-सागर के जल से अभिषेक किया। अभिषेक के बाद में तप-कल्याणक की विधि प्रारम्भ की। इसी बीच में भगवान वृषभदेव ने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज-गद्दी दे कर बाहुबली को युवराज बना दिया था, जिससे वे राज्य-कार्य की ओर से बिलकुल निराकुल हो गये। उस समय तप-कल्याणक एवं राज्याभिषेक — इन दो महान उत्सवों से नर-नारियों एव देव-देवियों के हृदय में ही क्या, प्राणी मात्र के हृदय में आनन्द-सागर लहरा रहा था। त्रिभुवनपति भगवान वृषभनाथ महाराज नाभिराज एवं महारानो मरुदेवी आदि से आज्ञा ले कर वन में जाने के लिए देव-निर्मित पालकी पर सवार हुए। वह पालकी खूब सजाई गई थी, उसके ऊपर कई रङ्गों की पताकाएँ लगी हुई थीं एवं चारों ओर बँधी हुई मणियों की छोटी-छोटी घण्टियाँ रुन-झुन ध्वनि करती थीं। सब से पहिले बड़े-बड़े भूमिगोचरी राजे पालकी को अपने कन्धों पर रख कर जमीन में सात कदम चले, फिर विद्याधर राजे अपने कन्धों पर रख कर सात कदम आकाश में चले, इसके अनन्तर प्रेम से भरे हुए सुर-असुर उस पालकी को अपने कन्धों पर रख कर आकाश-मार्ग से चले। उस समय देव-देवेन्द्र 'जय-जय' घोष करते एवं कल्पवृक्ष के सुगन्धित पुष्पों की वर्षा करते जाते थे। असंख्य देव-देवियों का तथा नर-नारियों का समूह भगवान वृषभदेव के पीछे जा रहा था। शोक से विह्वल माता मरुदेवी, महादेवी, यशस्वती तथा सुनन्दा आदि अन्तःपुर को नारियाँ तथा महाराज नाभिराज, भरत, बाहुबली, कच्छ, महाकच्छ आदि

अब तक सामान्य मनुष्यों की भाँति विषय-वासना में फँसे हुए हैं। जब तक ये विषय-वासना से हट कर मुनि-मार्ग में पदार्पण नहीं करेंगे, तब तक ससार का कल्याण होना मुश्किल है। इसलिये किसी भी उपाय से आज इन्हें विषय-भोगों से विरक्त कर देने का उद्यम करना चाहिये। यह सोच कर उसने राज-सभा में एक अप्सरा नीलाञ्जना को (जिसकी शेष आयु अत्यन्त अल्प रह गई थी) नृत्य करने के लिये खड़ा किया। जब नीलाञ्जना नृत्य करते-करते क्षण-भर में विद्युत की भाँति विलीन हो गई, तब इन्द्र ने रस में भंग न हो इसलिये, उसी के समान रूप एवं वेष-भूषावाली दूसरी अप्सरा को नृत्य-स्थल में खड़ा कर दिया। वह भी नीलाञ्जना की तरह हाव-भावपूर्वक मनोहर अभिनय करने लगी। साधारण जन को इस सब परिवर्तन का कुछ भी पता नहीं लगा; पर भगवान वृषभदेव की दिव्य दृष्टि से यह रहस्य छिपा न रह सका। वे नीलाञ्जना के अदृश्य होते ही संसार से एकदम उदासीन हो गये। इन्द्र ने अपनी चतुराई से जो दूसरी अप्सरा खड़ी की थी, उसका भगवान वृषभदेव पर समुचित प्रभाव हुआ। वे सोचने लगे — 'यह शरीर वायु के वेग से कम्पित दीप-शिखा की भाँति नश्वर है। यह लक्ष्मी विद्युत की दमक की तरह क्षणभंगुर है, यौवन सध्या की लाली के समान देखते-देखते नष्ट हो जाता है एवं यह विषय-सुख समुद्र की लहरों के समान चञ्चल है। इन्द्र की आज्ञा से नृत्य करती हुई यह कमलनयनी देवी भी जब आयु क्षीण हो जाने पर मृत्यु को प्राप्त हुई है; तब दूसरा अन्य कौन ससार में अमर होगा? देवों के सामने मनुष्यों की आयु ही कितनी है? यह लक्ष्मी विषराशि (समुद्र) से उत्पन्न हुई है; तब भी लोग इसे अमृत-सागर से उत्पन्न हुई बतलाते हैं। जो शरीर इस आत्मा के साथ दूध एवं जल की तरह मिला हुआ है — सुख-दुःख में साथ देता है, वह भी जब समय पा कर आत्मा से पृथक् हो जाता है; तब बिलकुल अलग रहनेवाले स्त्री, पुत्र, पुत्री, धन-सम्पति आदि में कैसे बुद्धि स्थिर की जा सकती है? यह प्राणी पाप के वश नरक गति में जाता है, वहाँ सागरों वर्ष पर्यन्त अनेक तरह के दुःख भोगता है; वहाँ से निकल कर तिर्यञ्चगति में शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदि के विविध दुःख उठाता है। कदाचित् सौभाग्य से मनुष्य भी हुआ, तो दरिद्रता, रोग आदि से दुःखी होकर हमेशा सक्लेश का अनुभव करता है एवं कभी कुछ पुण्योदय से देव भी हुआ, तो वहाँ भी अनेक मानसिक दुःखों से दुःखी होता रहता है। इस तरह चारों गतियों में कहीं भी सुख का ठिकाना नहीं है। सच्चा सुख मोक्ष में ही

प्राप्त हो सकता है एवं वह मोक्ष मनुष्य पर्याय से ही प्राप्त किया जा सकता है। इस मनुष्य पर्याय को पा कर यदि मैं ने आत्म-कल्याण के लिये प्रयत्न नहीं किया, तब मुझ से मूर्ख अन्य कौन होगा ?' इधर भगवान वृषभदेव अपने हृदय में ऐसा चिन्तवन कर रहे थे, उधर ब्रह्मलोक (पाँचवें स्वर्ग) में रहनेवाले लौकान्तिक देवों के आसन कम्पायमान हुए, जिससे वे भगवान आदिनाथ का हृदय विषयों से विरक्त समझ कर शीघ्र ही उनके पास आये एवं तरह-तरह के वचनों से स्तुति कर उनके चिन्तवन का समर्थन करने लगे। देवों के वचन सुन कर उनकी वैराग्य-धारा अत्यन्त वेगवती हो गई। अब उन्हें राज्य-सभा में, गगन-चुम्बी महलों में, स्वर्गपुरी को जीतनेवाली अयोध्यापुरी में एवं स्त्री-पुत्र-धन-धान्य आदि में किंचित् भी आनन्द नहीं आता था। जब लौकान्तिक देव अपना कार्य समाप्त कर हंसों की भाँति आकाश में उड़ गये, तब इन्द्र-प्रतीन्द्र आदि चारों निकायों के देवों ने अयोध्यापुरी आ कर जय-घोषणा के साथ भगवान वृषभदेव का क्षीर-सागर के जल से अभिषेक किया। अभिषेक के बाद में तप-कल्याणक की विधि प्रारम्भ की। इसी बीच में भगवान वृषभदेव ने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज-गद्दी दे कर बाहुबली को युवराज बना दिया था, जिससे वे राज्य-कार्य की ओर से बिलकुल निराकुल हो गये। उस समय तप-कल्याणक एवं राज्याभिषेक — इन दो महान उत्सवों से नर-नारियों एव देव-देवियों के हृदय में ही क्या, प्राणी मात्र के हृदय में आनन्द-सागर लहरा रहा था। त्रिभुवनपति भगवान वृषभनाथ महाराज नाभिराज एवं महारानी मरुदेवी आदि से आज्ञा ले कर वन में जाने के लिए देव-निर्मित पालकी पर सवार हुए। वह पालकी खूब सजाई गई थी, उसके ऊपर कई रङ्गों की पताकाएँ लगी हुई थीं एवं चारों ओर बँधी हुई मणियों की छोटी-छोटी घण्टियाँ रुन-झुन ध्वनि करती थीं। सब से पहिले बड़े-बड़े भूमिगोचरी राजे पालकी को अपने कन्धों पर रख कर जमीन में सात कदम चले, फिर विद्याधर राजे अपने कन्धों पर रख कर सात कदम आकाश में चले, इसके अनन्तर प्रेम से भरे हुए सुर-असुर उस पालकी को अपने कन्धों पर रख कर आकाश-मार्ग से चले। उस समय देव-देवेन्द्र 'जय-जय' घोष करते एवं कल्पवृक्ष के सुगन्धित पुष्पों की वर्षा करते जाते थे। असंख्य देव-देवियों का तथा नर-नारियों का समूह भगवान वृषभदेव के पीछे जा रहा था। शोक से विह्वल माता मरुदेवी, महादेवी, यशस्वती तथा सुनन्दा आदि अन्तःपुर की नारियाँ तथा महाराज नाभिराज, भरत, बाहुबली, कच्छ, महाकच्छ आदि

प्रधान-प्रधान राजे अत्यन्त उत्कण्ठित भाव से भगवान वृषभदेव के तप-कल्याणक की महिमा देख रहे थे। देव लोग भगवान वृषभदेव की पालकी अयोध्यापुरी के समीपवर्ती 'सिद्धार्थ' नामक वन में ले गये। वह वन चारों ओर से सुगन्धित पुष्पों की सुवास से सुगन्धित हो रहा था। वहाँ चतुर देवांगनाओं ने कई तरह के चौक पूर रक्खे थे। देवों ने एक सुन्दर पटमण्डप बनवाया था, जिसमें देवांगनाओं का मनोहर अभिनय-नृत्य हो रहा था। वह वन गन्धर्व किन्नरों के सुरीले सगीत से गूँज रहा था। वन के मध्य भाग में एक चन्द्रकान्त मणि की शिला पड़ी थी। पालकी से उतर कर भगवान वृषभदेव उसी शिला पर बैठ गये। वहाँ उन्होंने क्षण-भर रुक कर सब की ओर मधुर दृष्टि से देखा एव देव, देवेन्द्र तथा कुटुम्बी-जनों से पूछ कर समस्त वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये। भगवान वृषभदेव ने पञ्च-मुष्ठियों से केश उखाड़ डाले तथा पूर्व दिशा की ओर मुख कर खड़े हो कर सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करते हुए इन्द्र, सिद्ध एवं आत्मा की साक्षीपूर्वक समस्त परिग्रहों का त्याग कर दिया था। इस तरह भगवान आदिनाथ ने चैत्र बदी नवमी के दिन सायंकाल के समय उत्तराषाढ़ नक्षत्र में जिन-दीक्षा ग्रहण की थी। इन्हें दीक्षा लेते समय ही मनःपर्यय ज्ञान एवं अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई थीं। इनके साथ में कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार राजाओं ने भी जिन-दीक्षा ग्रहण की थी। चार हजार मुनियों से घिरे हुए आदीश्वर महाराज, नक्षत्र परिवृत चन्द्रमा की तरह शोभायमान होते थे।

दीक्षा लेते समय भगवान वृषभदेव ने जो केश उखाड़ कर फेंक दिये थे, इन्द्र उन्हें रत्नमयी पिटारी में रख कर क्षीरसागर ले गया एव उसकी तरल तरङ्गों में श्रद्धापूर्वक छोड़ आया था। जिनेन्द्र के तप-कल्याणक का उत्सव पूरा कर समस्त देव-देवेन्द्र अपने-अपने स्थान चले गये। बाहुबली आदि राज-पुत्र भी पितृ-वियोग से कुछ खिन्न होते हुए अयोध्यापुरी को लौट आये।

वन में भगवान आदिनाथ छह महीना का अनशन धारण कर एक आसन से बैठे हुए थे। धूप, वर्षा, शीत आदि की बाधाएँ उन्हें रञ्च-मात्र भी विचलित नहीं कर सकी थीं। वे मेरु के समान अचल थे, बालक के समान निर्विकार थे, निर्मेघ आकाश की तरह शुद्ध थे, साक्षात् शरीरधारी शम के समान मालूम होते थे। उनकी दृष्टि नासा के अग्र भाग पर लगी हुई थी, हाथ नीचे को लटक रहे थे एव मुख के भीतर स्पष्ट रूप से कुछ मन्त्राक्षरों का उच्चारण हो रहा था। कहने का मतलब यह है कि वे समस्त इन्द्रियों को बाह्य व्यापार से

[illegible] लगा चुके थे। अपने-आप उत्पन्न हुए अलौकिक आत्मानन्द का अनुभव कर रहे थे। न उन्हें भूख का दुःख था, न प्यास का कष्ट था एवं न राज्य कार्य की ही कुछ चिन्ता थी।

इधर मुनिराज वृषभदेव आत्म-ध्यान में लीन हो रहे थे, इधर कच्छ एवं महाकच्छ आदि चार हजार राजा, जो कि देखा-देखी ही मुनि बन बैठे थे — मुनि-मार्ग का कुछ भी रहस्य नहीं समझ सके। कुछ दिनों में ही वे भूख-प्यास की बाधाओं से तिलमिला उठे। वे सब आपस में सलाह करने लगे — 'भगवान वृषभदेव न जाने किसलिये नग्न दिगम्बर होकर बैठे हैं। ये हम लोगों से कुछ कहते ही नहीं हैं। न इन्हें भूख-प्यास की बाधा सताती है; न ये धूप, वर्षा, सर्दी से ही दुःखी होते हैं। पर हम लोगों का हाल तो इनसे बिल्कुल उल्टा हो रहा है। अब हमसे भूख-प्यास की बाधा नहीं सही जाती है। हमने सोचा था कि इन्होंने कुछ दिनों के लिये ही यह वेष रखा है, पर अब तो दो माह हो गये हैं, फिर भी इनके रहस्य का पता नहीं चलता है। जो भी हो, शरीर की रक्षा तो हम लोगों को अवश्य करनी ही चाहिये एवं अब इसका उपाय क्या है ? यह चल कर इन्हीं से पूछना चाहिये।' ऐसी सलाह कर वे सब मुनि मुनिनाथ भगवान वृषभदेव के पास जा कर तरह-तरह के शब्दों में उनकी स्तुति करने लगे — उनकी धीरता की प्रशंसा करने लगे। स्तुति कर चुकने के बाद उन्होंने उनसे मुनि वेष धारण करने का कारण पूछा; उसकी अवधि पूछी — 'हम भूख-प्यास का दुःख नहीं सह सकते।' यह प्रकट कर उसके दूर करने का उपाय पूछा। पर वे तो मौन व्रत लिये हुए थे, आत्म-ध्यान में मस्त थे, उनकी दृष्टि बाह्य पदार्थों से सर्वथा हट गई थी — वे कुछ न बोले। जब उन्हें भगवान वृषभदेव की ओर से कुछ भी उत्तर नहीं मिला, जब उन्होंने आँख उठा कर भी उन लोगों की ओर नहीं देखा, तब वे अत्यधिक घबड़ाये एवं मुनि-मार्ग से भ्रष्ट होकर जंगलों में चले गये। उन्होंने सोचा था कि यदि हम अपने-अपने गृह जाते हैं, तो राजा भरत हम को दण्डित करेगा; इसलिये इन्हीं सघन वनों में रहना अच्छा है। यहाँ वृक्षों के कन्द-मूल-फल खा कर, नदी-तालाब आदि का मिष्ट जल पीवेंगे एवं पर्वतों की गुफाओं में रहेंगे। तब ये शेर, चीते वगैरह ही हम लोगों के परिवार होंगे। इस तरह भ्रष्ट होकर वे चार हजार दिगम्बरभेषी मुनि ज्यों ही तालाब में जल पीने के लिये प्रवेश किये, त्यों ही वन देवताओं ने प्रकट होकर कहा — 'यदि तुम दिगम्बर मुद्रा धारण कर ऐसा अन्याय करोगे, तो हम तुम्हें दण्डित करेंगे।' यह सुन कर

कईयों ने वृक्षों के पत्ते एवं वल्कल पहिन कर हाथ में पलास वृक्ष के दण्ड ले लिये। कईयों ने शरीर में भस्म रमा ली एव कईयों ने जटायें बढ़ा लीं। कहने का मतलब यह है कि उन्हें जिसमें सुविधा दिखलाई, वही वेष उन्होंने धारण कर लिया। इतना होने पर भी सब लोग भगवान आदिनाथ को ही अपना इष्ट देव समझते थे, उन्हें सिंह एव अपने को श्रृगाल समझते थे। वे लोग प्रतिदिन तालाबों में से कमल के पुष्प तोड़ कर लाते थे तथा उनसे भगवान आदिनाथ की पूजा किया करते थे।

भगवान वृषभदेव को बाह्य जगत् का कुछ भी ध्यान नहीं था। वे समता भाव से क्षुधा-तृषा की बाधा सहते हुए आत्म-ध्यान में लीन रहते थे। जिस वन में महामुनि वृषभेश्वर ध्यान कर रहे थे, उस वन में जन्म-विरोधी जीवों ने भी परस्पर का विरोध छोड़ दिया था—सिंहनी गाय के बच्चे को प्यार से दुग्ध पिलाती थी तथा गाय सिंहनी के बच्चे को प्रेम से पुचकारती थी, मृग तथा सिंह परस्पर खेला करते थे; सर्प, नेवला, मोर आदि विरोधी जीव एक दूसरे के साथ क्रीड़ा किया करते थे, हाथियों के बच्चे बड़े मृगराजों की अयालों — गर्दन के बालों को नोचते थे। सच है — विशुद्ध आत्मा का प्रभाव केवल प्राणियों पर क्यों, अचेतन वस्तुओं पर भी पड़ सकता है।

एक दिन कच्छ एव महाकच्छ राजाओं के पुत्र नमि एवं विनमि भगवान वृषभदेव के चरण-कमलों के समीप आ कर उनसे प्रार्थना करने लगे — 'हे त्रिभुवन नायक! आप अपने सब पुत्रों तथा अन्य राजकुमारों को राज्य दे कर सुखी कर आये, पर हम दोनों को आप ने कुछ भी नहीं दिया। भगवन्! आप तीनों लोकों के अधीश्वर हैं, समर्थ हैं, दयालु हैं, इसलिये हमे भी राज्य दे कर सुखी कीजिए। भगवान वृषभदेव आत्म-ध्यान में लीन हो रहे थे; इसलिये नमि-विनमि को यद्यपि उनकी ओर से कुछ भी उत्तर नहीं मिला, तथापि वे अपनी प्रार्थना में संलग्न ही रहे। इस घटना से एक धरणेन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ, जिससे भगवान वृषभदेव के ध्यान में कुछ बाधा समझ कर वह शीघ्र ही उनके पास आया। आ कर जब वह देखता है कि दोनों ओर खड़े हुए नमि-विनमि भगवान वृषभदेव से राज्य की याचना कर रहे हैं, तब धरणेन्द्र ने अपना वेष बदल कर दोनों राजकुमारों से कहा — 'आप लोग राजा भरत से राज्य की याचना कीजिये, जो आप की अभिलाषाओं को पूर्ण करने में समर्थ हैं। इनके पास क्या रक्खा है, जिसे दे कर ये आप की राज्य-लिप्सा

को पूर्ण करें ? आप लोग राजकुमार हो कर भी इतना नहीं समझ सके कि जिसके पास होता है, वही किसी को कुछ दे सकता है।' धरणेन्द्र की बातें सुन कर उन दोनों ने कहा — 'हे भद्र ! आप बड़े बुद्धिमान मालूम होते हैं, बोलने में आप अत्यधिक चतुर प्रतीत होते हैं, आप का वेष भी विश्वसनीय है; पर हमारी समझ में नहीं आता कि आप बिना पूछे ही हम लोगों के बीच में क्यों बोलने लगे ? तीनों लोकों के एकमात्र अधीश्वर भगवान वृषभदेव की चरण-छाया को छोड़ कर राजा भरत से राज्य की याचना करें, जो बेचारा खुद ही सामान्य भूमि का राजा है ? महाशय ! जो कमण्डलु महासागर के जल से नहीं भरा, वह क्या गोष्पद के जल से भर जावेगा ? क्या अनोखा उपदेश है आप का ?' राजकुमारों की उक्ति-प्रत्युक्ति से प्रसन्न होकर धरणेन्द्र ने अपना कृत्रिम वेष छोड़ दिया एवं प्रकृत वेष में प्रकट होकर नमि-विनमि से कहा — 'राजपुत्रों ! राज्य का विभाग करते समय भगवान वृषभेश्वर आप लोगों के अंश का राज्य मुझे बतला गये हैं; सो चलिये, मैं चल कर आप का राज्य आप को सौंप दूँ। इस समय वे ध्यान में लीन हैं, उनके मुख से आप को कुछ भी उत्तर नहीं मिलेगा।' इस प्रकार से समझा कर वह धरणेन्द्र उन्हें विमान पर बैठा कर विजयार्ध पर्वत पर ले गया। पर्वत की अलौकिक शोभा देख कर दोनों राज-पुत्र अत्यधिक प्रसन्न हुए।

उस पर्वत की दो श्रेणियाँ हैं — एक दक्षिण श्रेणी एवं दूसरी उत्तर श्रेणी। इन दोनों श्रेणियों पर सुन्दर-सुन्दर नगरों की रचना है, जिनमें विद्याधर लोग रहा करते हैं। वहाँ पहुँच कर धरणेन्द्र ने कहा — 'भगवान वृषभेश्वर आप लोगों को यहाँ का राज्य देना स्वीकार कर चुके हैं, सो आप यहाँ का राज्य प्राप्त कर देवराज की तरह अनेक भोगों को भोगो एवं इन विद्याधरों का पालन करो। ऐसा कह कर उसने दक्षिण श्रेणी के साम्राज्य में नमि का एवं उत्तर श्रेणी के साम्राज्य में विनमि का अभिषेक किया, उन्हें कई प्रकार की विद्यायें प्रदान की तथा जनता से उनका परिचय करवाया। नमि-विनमि विद्याधरों का राज्य पा कर अत्यधिक प्रसन्न हुए। धरणेन्द्र अपना कर्तव्य पूरा कर अपने स्थान को वापिस चला गया।'

ध्यान करते-करते जब छह माह व्यतीत हो गये, तब भगवान वृषभदेव ने अपनी ध्यान-मुद्रा समाप्त कर आहार लेने का विचार किया। यद्यपि उनके शरीर में जन्म से ही अतुल्य बल था, आहार न करने पर भी उनके शरीर में रञ्चमात्र भी शिथिलता न आती थी, तथापि मुनि-मार्ग चलाने का ध्यान करते हुए आहार

करने का निश्चय कर उन्होंने ग्रामों में विहार करना शुरू कर दिया। विहार करते समय वे चार हाथ जमीन देख कर चलते थे एवं किसी से कुछ बोलते न थे। यह हम पहिले ही लिख चुके हैं कि उस समय के लोग अत्यन्त भोले थे। भगवान आदिनाथ के पहिले वहाँ कोई मुनि हुआ ही नहीं था; इसलिये वे लोग मुनि-मार्ग से सर्वथा अपरिचित थे। वे यह नहीं समझते थे कि मुनियों के लिए आहार कैसे दिया जाता है। महामुनि आदिनाथ किसी को कुछ बतलाते न थे, क्योंकि यह नियम है कि दीक्षा लेने के बाद जब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक तीर्थङ्कर मौन होकर रहते हैं — किसी से कुछ कहते नहीं। इसलिए जब वे आहार के लिए नगरों में पहुँचते थे, तब कई लोग कहने लगते थे — 'हे देव! प्रसन्न होओ, कहिये कैसे आगमन हुआ?' कोई महामूल्यवान रत्न सामने रख कर ग्रहण करने की प्रार्थना करते थे; कोई हाथी, घोड़ा आदि सवारियाँ समर्पण कर उन्हें प्रसन्न करना चाहते थे, कोई सर्वाङ्ग सुन्दरी कन्यायें ले जा कर उन्हें स्वीकार करने का आग्रह करते थे एव कोई सोने की थालियों में उत्तम-उत्तम भोजन ले जा कर उनसे ग्रहण करने की प्रार्थना करते थे। पर विधिपूर्वक न मिलने के कारण वे बिना आहार लिए ही नगरों से वापिस चले जाते थे। इस तरह स्थान-स्थान घूमते हुए उन्हें एक माह अब बीत गया, पर उन्हें कहीं विधिपूर्वक उत्तम पवित्र आहार नहीं मिला। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि जिनके गर्भ में आने के छह माह पहिले इन्द्र किङ्कर की तरह हाथ जोड़ कर आज्ञा की प्रतीक्षा करता रहा, सम्राट् भरत जिनका पुत्र था एव जो स्वय तीनों लोकों के अधिपति कहलाते थे; वे भी बिना कोई आहार के निरन्तर छह माह तक एक-दो नहीं, कई नगरों में घूमते रहे, पर आहार न मिला। कितना विषम है, कर्मो का उदय!

इस तरह भगवान आदिनाथ ने एक वर्ष तक कुछ भी नहीं खाया-पिया, तो भी उनके चित्त एवं शरीर में किसी प्रकार की विकृति एव शिथिलता नहीं दिखलाई पड़ती थी। अब हम कुछ समय के लिए पाठको का चित्त वहाँ ले जाते है, जहाँ पर महामुनि आदिनाथ के लिए अकस्मात् आहार प्राप्त होगा।

जिस समय की यह बात है, उस समय कुरुजागल देश के हस्तिनापुर में राजा सोमप्रभ राज्य करते थे। वे बड़े ही धर्मात्मा थे, उनके छोटे भाई का नाम श्रेयासकुमार था। यह श्रेयांसकुमार भगवान आदिनाथ के बज्रजघ भव में श्रीमती का जीव था, जो क्रम-क्रम से आर्या, स्वयप्रभ देव, केशव, अच्युत प्रतीन्द्र, धनदेव आदि

होकर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था एवं वहाँ से चय कर श्रेयांसकुमार हुआ था। एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर में श्रेयांसकुमार ने अत्यन्त ऊँचा मेरु पर्वत, शाखाओं में लटकते हुए भूषणों से अलंकृत सुन्दर कल्पवृक्ष, मूँगा के समान लाल-लाल अयाल से शोभायमान सिंह, अपने सींगों पर मिट्टी लगाया हुआ बैल, दमकता हुआ सूर्य, किरणयुक्त चन्द्रमा, लहराता हुआ समुद्र एवं अष्ट मङ्गल द्रव्यों को लिए हुए व्यन्तर देव स्वप्न में देखे। प्रातःकाल होते ही उसने अपने पुरोहित से ऊपर कहे हुए स्वप्नों का फल पूछा। पुरोहित ने निमित्तज्ञान से विचार कर कहा कि मेरु पर्वत के देखने से उसके समान उन्नत कोई महापुरुष अपने शुभागमन से आप के भवन को अलकृत करेगा एवं बाकी के स्वप्न उन्हीं महापुरुष के गुणों की उन्नति बतला रहे हैं। पुरोहित के मुख से स्वप्नों का फल सुन कर राजा सोमप्रभ एवं श्रेयांसकुमार दोनों भाई हर्ष के मारे फूले न समाये। प्रातःकाल के समय देखे गये स्वप्न शीघ्र ही फल देते हैं। पुरोहित के इन वचनों ने तो उन्हें अत्यधिक हर्षित बना दिया था। राज-भवन में बैठे हुए दोनों भाई उस महापुरुष की प्रतीक्षा कर ही रहे थे कि इतने में महामुनि भगवान आदिनाथ ईर्या-समिति से विहार करते हुए हस्तिनापुर आ पहुँचे। जब वे राज-भवन के पास आये, तब सिद्धार्थ नामक द्वारपाल ने राजा सोमप्रभ एव युवराज श्रेयांसकुमार को उनके आने की सूचना दी। द्वारपाल के मुख से भगवान आदिनाथ के आगमन का शुभ समाचार सुन कर दोनों भाई दौड़े हुए आये एव उन्हें प्रणाम कर अत्यधिक आनन्दित हुए। युवराज श्रेयांसकुमार ने ज्यों ही भगवान आदिनाथ का दिव्य रूप देखा, त्यों ही उन्हें जाति-स्मरण हो आया। श्रीमती एवं बज्रजघ भव का समस्त वृत्तान्त उनकी आँखों के सामने ज्यों का त्यों भूलने लगा! पुण्डरीकिणीपुरी को जाते समय मार्ग में सरोवर के किनारे जो मुनि-युगल के लिए आहार दिया था, वह भी युवराज श्रेयांसकुमार को ज्यों का त्यों याद हो आया। यह प्रातःकाल का समय आहार देने योग्य है, ऐसा चिन्तवन कर उसने नवधा भक्तिपूर्वक उन्हें पड़गाहा एव श्रद्धा, तुष्टि आदि गुणों से युक्त होकर आदि जिनेन्द्र वृषभनाथ को आहार देने के लिए भीतर ले गया। वहाँ उसने राजा सोमप्रभ एवं उनकी स्त्री लक्ष्मीमती के साथ भगवान वृषभनाथ के पाणिपात्र में इक्षुरस की धाराएँ अर्पित कीं। इस पवित्र आहार दान से प्रभावित होकर देवों ने आकाश से रत्नों की वर्षा की, दुन्दुभि वाद्य बजाये, पुष्प वर्षाये एवं 'जय-जय' घोष ध्वनि के साथ 'अहो दानम्, अहो दानम्' कहते हुए

उत्तम दान की प्रशसा की। उस समय सब दिशाएँ निर्मल हो गई थीं। आकाश में मेघ का एक खण्ड भी दृष्टिगोचर नहीं होता था एव मन्द, सुगन्ध पवन चलने लगा था। महा मुनीन्द्र वृषभेश्वर के लिये दान दे कर दोनों भाईयों ने अपने-आप को कृतकृत्य समझा। अनेकों सत्पुरुषों ने इस दान की अनुमोदना की।

आहार ले चुकने के बाद भगवान वृषभदेव वन की ओर विहार कर गये। उस युग में सब से पहिले दान की प्रथा युवराज श्रेयांसकुमार ने ही चलाई थी; इसलिये देवों ने आ कर उनका खूब सत्कार किया। जब सम्राट् भरत को इस घटना का ज्ञान हुआ,तब वे भी समस्त परिवार के साथ हस्तिनापुर आये एवं वहाँ राजा सोमप्रभ, युवराज श्रेयासकुमार तथा लक्ष्मीमती का सम्मान कर प्रसन्न हुए। इसके अनन्तर युवराज श्रेयांस-कुमार ने दान का स्वरूप, दान की आवश्यकता तथा उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों का स्वरूप बतला कर दान-तीर्थ की प्रवृत्ति चलाई। प्रथम तीर्थङ्कर भगवान वृषभदेव को आहार दे कर युवराज श्रेयांसकुमार ने जिस लोकोत्तर पुण्य का उपार्जन किया था,उसका वर्णन भला कौन कर सकता है? आचार्यो ने कहा है कि जो तीर्थङ्करों को सब से पहिले आहार देता है, वह नियम से उसी भव से मोक्ष प्राप्त करता है; सो युवराज श्रेयांसकुमार भी लोक में अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त कर आयु के अन्त समय में मोक्ष प्राप्त करेंगे।

भगवान आदिनाथ बीहड़ अटवियों में ध्यान लगा कर आत्म-शुद्धि करते थे। वे अधिक दिनों का अन्तराल दे कर नगरों में आहार लेने के लिए जाते थे, वह भी रूख-सूखा स्वल्प आहार करते थे। वे अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसख्यान, रस-परित्याग, विविक्ति, शय्यासन, कायक्लेश-प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग एव ध्यान — इन बारह प्रकार के तपों को भलीभाँति करते थे। उन्होंने यत्र-तत्र विहार कर अपनी चेष्टाओं से मुनि-मार्ग का प्रचार किया था। यद्यपि वे उस समय मुख से कुछ बोलते न थे, तथापि उनकी क्रियाएँ इतनी प्रभावक होती थीं कि लोग उन्हें देख कर शीघ्र ही प्रतिबुद्ध हो जाते थे। वे कभी ग्रीष्म ऋतु में पहाड की चोटियों पर ध्यान लगा बैठते थे, कभी शीत काल की भीषण रात्रि में नदियों के तट पर आसन जमाते थे एवं कभी वर्षा ऋतु में वृक्षों के नीचे योगासन लगा कर बैठते थे। इस तरह उग्र तपश्चर्या करते-करते जब उन्हें एक हजार वर्ष बीत गये, तब वे एक दिन 'पुरीमताम' नामक नगर के पास पहुँचे एवं वहाँ शकट नामक वन में निर्मल शिलातल पर पद्मासन लगा कर बैठ गये। उस

समय उनकी आत्म-विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी, जिसके फलस्वरूप उन्होंने क्षपक श्रेणी में प्रवेश कर शुक्ल-ध्यान के द्वारा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय — इन चार घातिया-कर्मों का नाश कर फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में सकल पदार्थों को प्रकाशित करनेवाले 'केवलज्ञान' का लाभ किया। भगवान आदिनाथ केवलज्ञान के द्वारा तीनों लोक को एवं तीनों कालों के समस्त पदार्थों को एक साथ जानने, देखने लगे थे। ज्ञानावरण का नाश होने से उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। दर्शनावरण के अभाव में केवलदर्शन, मोहनीय के अभाव में अनन्त सुख एवं अन्तराय के अभाव में उन्हें अनन्त वीर्य प्राप्त हुआ था।

जिनेन्द्र भगवान वृषभनाथ को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है, इस बात का पता जब इन्द्र को चला, तब वह समस्त परिवार के साथ भगवान की पूजा के लिये 'पुरीमतालपुर' आया। इन्द्र के आने के पहिले ही धनपति कुबेर ने वहाँ दिव्य समवशरण-सभा की रचना कर दी थी। वह सभा बारह योजन विस्तृत नील मणि की गोल शिला-तल पर बनी हुई थी, जमीन से पाँच हजार धनुष ऊँची थी। ऊपर पहुँचने के लिये उसमें बीस हजार सीढ़ियाँ बनी हुई थीं, उस सभा के चारों ओर अनेक मणिमय सुवर्णमय कोट बने हुए थे। उसमें चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ बनाये गये थे, जिन्हें देखने से बड़े-बड़े मानियों का भी मान खण्डित हो जाता था। अनेक नाट्यशालायें बनी हुई थीं, जिनमें स्वर्ग की अप्सरायें भगवद्भक्ति से प्रेरित होकर नृत्य कर रही थीं। सभा में अनेक परिखाएँ थीं, जिनमें सहस्रदल (हजार पाँखुड़ीवाले) कमल खिल रहे थे। वहाँ के रत्नमय दरवाजों पर देव लोग पहरा दे रहे थे। ऊपर चल कर भगवान आदिनाथ की गन्धकुटी बनाई गई थी, जिसमें रत्नमय सिंहासन रक्खा हुआ था। सिंहासन के चारों ओर श्रीमण्डप बनवाया गया था, उसके सब ओर परिक्रमा-रूप में बारह सभाएँ बनाई गई थीं; जिनमें देव, देवियाँ, मनुष्य, तिर्यञ्च (पशु, पक्षी) आदि सभी सुख से बैठ सकते थे। कुबेर के द्वारा बनाई हुई दिव्य सभा को देख कर इन्द्र अत्यधिक हर्षित हुआ एवं भक्ति से 'जय-जय' घोष करता हुआ समस्त परिवार के साथ वहाँ जा पहुँचा जहाँ पूर्ण ज्ञानी, योगी, भगवान आदिनाथ विराजमान थे। ऊपर जिस गन्धकुटी का कथन कर आये हैं, भगवान आदिनाथ उसी में स्वर्ण सिंहासन पर चार अंगुल अन्तरिक्ष में विराजमान थे। वहाँ उनके दिव्य तेज से

सब ओर प्रकाश-सा फैल रहा था। इन्द्र ने विनय सहित नमस्कार कर सुमधुर शब्दों में एक हजार नामों से उन्हें अलंकृत कर उनकी स्तुति की।

महाराज भरत राज-सभा में बैठे हुए ही थे कि इतने में पुरोहित ने पहुँच कर उन्हें जगद्गुरु वृषभदेव के केवलज्ञान प्राप्त होने का समाचार सुनाया। उसी समय कंचुकी (अन्तःपुर के पहरेदार) ने आ कर महाराज भरत को पुत्रोत्पत्ति का समाचार सुनाया। उसी समय शस्त्रपाल ने आ कर कहा — 'नाथ ! शस्त्र-शाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है,जो अपने तेज से सूर्य के तेज को भी पराजित कर रहा है।' राजा भरत तीनों व्यक्तियों के मुख से एक साथ तीन शुभ समाचार सुन कर अत्यधिक प्रसन्न हुए। इन तीन उत्सवों में से पहिले किसमें योगदान करना चाहिये , यह विचार कर कुछ क्षण के लिये महाराज भरत व्याकुल-चित्त अवश्य हुए पर उन्होंने बहुत शीघ्र 'धर्म-कार्य ही प्रथम करना चाहिये' — ऐसा दृढ़ निश्चय कर लिया एवं इस निश्चय के अनुसार समस्त भाई, बन्धु, मन्त्री, पुरोहित, मरुदेवी आदि परिवार के साथ गुरुदेव-पितृदेव के कैवल्य-महोत्सव में योगदान करने के लिये 'पुरीमतालपुर' पहुँचे। वहाँ समवशरण की अद्भुत शोभा देख कर राजा भरत का चित्त अत्यधिक प्रसन्न हुआ। देव-द्वारपालों ने उन्हें सभा के भीतर पहुँचा दिया। वहाँ उन्होंने प्रथम पीठिका पर विराजमान धर्म-चक्रों की प्रदक्षिणा दी , फिर द्वितीय पीठिका पर शोभायमान ध्वजाओं की पूजा की, इसके अनन्तर गन्ध-कुटी में सुवर्ण सिंहासन पर चार अंगुल निरालम्बन विराजमान महायोगीश्वर भगवान वृषभदेव को देख कर उनका हृदय भक्ति से गद्गद् हो गया। राजा भरत आदि ने तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, फिर जमीन पर मस्तक झुका कर जिनेन्द्र देव को नमस्कार किया एवं श्रुति-सुखद शब्दों में अनेक स्तोत्रों से उनकी स्तुति कर जल,चन्दन आदि अष्ट द्रव्यों से उनकी पूजा की। भक्ति प्रदर्शित करने के बाद राजा भरत आदि मनुष्यों के लिये निश्चित कोठे में बैठ गये। उस समय जिनेन्द्र देव के आसन के पास अनेक किसलयों से शोभायमान अशोक वृक्ष था , जो अपनी श्यामल-रक्त-प्रभा से प्राणिमात्र के शोक-समूह को नष्ट कर रहा था। वे ऊँचे सिंहासन पर विराजमान थे, उनके शरीर पर तीन छत्र लगे हुए थे, जो इस बात के प्रतीक थे कि भगवान वृषभदेव तीन जगत् के स्वामी हैं। उनके पीछे भामण्डल लगा हुआ था, जो अपनी कान्ति से भास्कर (सूर्य) को भी पराजित कर रहा था। यक्षकुमार जाति के देव चौंसठ चमर ढुल रहे थे, जो भगवान वृषभदेव

के जिनकी धवल यश को सूचित कर रहे थे। देव लोग स्वर, ताल के साथ दुन्दुभि आदि हजारों तरह के बाजे बजा रहे थे तथा आकाश से मन्दार, सुन्दरनमेरु, पारिजात, सन्तानक आदि कल्पवृक्षों के सुगन्धित पुष्प बरसा रहे थे। उस समय उनका एक ही मुख चारों ओर से दिखलाई देता था। उनके पुण्य-प्रताप से चारों ओर एक योजन तक सुभिक्ष हो गया था; धन-धान्य के अभाव में कोई दुःखी नहीं था। उनके शरीर की छाया नहीं पड़ती थी। कोई किसी को सताता नहीं था, सभी के हृदय-क्षेत्रों में दया-सरिता कल-कल नाद करती हुई बह रही थी। त्रिभुवनपति भगवान वृषभदेव के इस दिव्य प्रभाव को देख कर सभी चकित हो गये थे। उनके मुखचन्द्र को देख कर प्राणिमात्र के हृदय में आनन्द का सागर लहरा रहा था। उस सभा में देव लोग अत्यन्त सुन्दर प्रबन्ध कर रहे थे कि जिससे किसी को कुछ भी कष्ट मालूम नहीं होने पाता था। जन्म के अन्धे-लँगड़े-बहरे आदि मनुष्य उस सभा में पहुँच कर नीरोग हो जाते थे। धीरे-धीरे सभा के बारहों कोठे देव-देवी, नर-नारी तथा पशु-पक्षी आदि से खचाखच भर गये। जब सभा में पूर्ण शान्ति विराजने लगी, तब भगवान वृषभदेव के मुखारविन्द से दिव्य वाणी प्रकट हुई। उनकी वह वाणी 'ओंकार' रूप थी। उसमें मुख से प्रकट होते समय अक्षरों का विभाग नहीं मालूम होता था, इसलिये लोग उसे 'निरक्षरी भाषा' कहते थे। उस भाषा में सब भाषाओं का रूप-परिणमन करने की शक्ति थी, इसलिये जो प्राणी जिस भाषा को समझता था, उसके कानों में भगवान वृषभदेव की वाणी उसी भाषा में परिणत हो जाती थी। उनकी वह वाणी इतनी मधुर एवं स्पष्ट होती थी कि उसे सुन कर सभी को मालूम होता था कि उनके कानों में अमृत के झरने झर रहे हैं।

उन्होंने अतिशयपूर्ण दिव्य ध्वनि में धर्म-अधर्म का स्वरूप समझा कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का; जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष — इन सात तत्वों का; जीव, पुद्गल, धर्म-अधर्म, आकाश एवं काल — इन छहों द्रव्यों का; पुण्य-पाप का एवं लोक-अलोक का स्वरूप बतलाया था। उन्होंने यह भी बतलाया कि 'जब तक प्राणियों की दृष्टि बाह्य भौतिक पदार्थों में उलझी रहेगी, तब तक उसे आत्मीय आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता। उसे प्राप्त करने के लिये तो सब ओर से छोड़ कर कठिन तपस्याएँ करने की आवश्यकता है — इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने की आवश्यक्ता है एवं आवश्यकता है, आत्म-

ध्यान में अचल होने की।' भगवान आदिनाथ की भव्य भारती सुन कर हर प्राणी का चित्त द्रवीभूत हो गया था। राजा भरत ने दृढ़ सम्यग्दर्शन धारण किया। कुरुकुल चूड़ामणि राजा सोमप्रभ, दान-तीर्थ के प्रवर्तक युवराज श्रेयांसकुमार एव राजा भरत का छोटा भाई वृषभसेन — इन तीन पुरुषों ने प्रभावित होकर उसी सभा में जिन-दीक्षा ले ली एव मति, श्रुति, अवधि एव मनःपर्यय ज्ञान के धारक गणधर (मुख्य श्रोता) बन गये। ब्राह्मी एवं सुन्दरी नाम की दोनों पुत्रियाँ भी पूज्य पिता के चरण-कमलों के आश्रय में आर्यिका के व्रत ले कर समस्त आर्यिकाओं की गणिनी (स्वामिनी) हो गई थीं। कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार राजे, जो कि पहिले मुनि-मार्ग से भ्रष्ट हो गये थे (भरत-पुत्र मरीचि को छोड़ कर), वे सब फिर से भावलिंग धारणपूर्वक सच्चे दिगम्बर मुनि हो गये थे। भगवान आदिनाथ का पुत्र अनन्तवीर्य भी दीक्षित हो गया था। श्रुतकीर्ति ने श्रावक के व्रत लिये एव प्रियव्रता ने श्राविका के व्रत ग्रहण किये। इनके अतिरिक्त असख्य नर-नारियों ने व्रत-विधान धारण किये थे। यहाँ सिर्फ दो-चार मुख्य-मुख्य व्यक्तियों का नामोल्लेख किया गया है। बहुत से देव-देवियों ने अपने-आप को सम्यग्दर्शन से अलकृत किया था। इस प्रकार भगवान आदिनाथ का केवलज्ञान-महोत्सव देख कर सम्राट् भरत राजधानी अयोध्या को वापिस लौट आये। लोगों का आना-जाना जारी रहता था; इसलिये समवशरण की भूमि देव, मनुष्य एव तिर्यञ्चों से कभी खाली नहीं होने पाती थी।

इन्द्र ने जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना की — 'हे देव! ससार के प्राणी अधर्म-रूपी सन्ताप से सन्तप्त हो रहे हैं। उन्हें हेय-उपादेय का ज्ञान नहीं है; इसलिये देश-विदेशों में विहार कर उन्हें हित का उपदेश देने के लिये यही समय उचित है। किसी एक स्थान पर जनता का उपस्थित होना अशक्य है; अतएव यह कार्य स्थान-स्थान पर विहार करने से ही सम्पन्न हो सकेगा।' इन्द्र की प्रार्थना सुन कर उन्होंने अनेक देशों में विहार किया। वे आकाश में चलते थे, चलते समय देव लोग उनके पैरों के नीचे सुवर्ण कमलों की रचना करते जाते थे। मन्द सुगन्धित वायु बहती थी, गन्धोदक की वृष्टि होती थी, देव 'जय-जय' घोष करते थे, उस समय पृथ्वी काँच के समान निर्मल हो गई थी, समस्त ऋतुएँ एक साथ अपनी-अपनी शोभा प्रकट कर रही थीं, पृथ्वी में कहीं कण्टक नहीं दिखलाई देते थे, सब ओर सुभिक्ष हो गया था, कहीं आर्त-ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती थी एव उनके आगे धर्म-चक्र तथा अष्ट-मङ्गल द्रव्य चला करते थे। कहने का मतलब यह है कि उनके पुण्य परमाणु इतने

सुभग गव विशाल थे कि वे जहाँ भी जाते थे, वहीं देव-दानव-मानव आदि सभी प्राणी उनके वशीभूत हो जाते थे। विहार करते-करते वे जहाँ रुक जाते थे, धनपति कुबेर वहीं पर पूर्व की तरह समवशरण-सभा की रचना कर देता था, जहाँ बैठ कर भव्य जीव सुखपूर्वक आत्म-हित का श्रवण करते थे। उनके उपदेश की वाणी इतनी मोहक थी कि वे जहाँ भी उपदेश देते थे, वहीं असंख्य नर-नारी प्रतिबुद्ध होकर मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका बन जाते थे। उस समय समस्त भारतवर्ष में अखण्ड रूप से जैन-धर्म फैला हुआ था। इस प्रकार देश-विदेशों में घूम कर वे कैलाशगिरि पर पहुँचे एवं वहाँ आत्म-ध्यान में लीन हो गये। अब सम्राट् भरत के विषय में कुछ ध्यानपूर्वक सुनिये —

समवशरण से लौट कर महाराज भरत ने पहिले चक्ररत्न की पूजा की एवं फिर याचकों को इच्छानुसार दान देते हुए पुत्रोत्पत्ति का उत्सव किया। 'अभिनव राजा भरत के पुत्र उत्पन्न हुआ है—' यह समाचार किसे न हर्षित बना देता? उस उत्सव में अयोध्यापुरी इतनी सजाई गई थी कि उसके सामने पुरन्दरपुरी अमरावती भी लज्जा से हतप्रभ हो जाती थी। प्रत्येक भवन के शिखरों पर तरह-तरह की पताकाएँ फहराई गई थीं। राज-मार्ग सुगन्धित जल से सींचे गये थे, वाद्यों की तुमुल ध्वनि से आकाश गूँज उठा था। सभी ओर मनोहर संगीत एवं नृत्य-ध्वनि सुनाई पड़ रही थी, स्थान-स्थान पर तोरण-द्वार बनाये गये थे एवं हर एक गृह के द्वार पर मणिमयी वन्दन-मालाएँ लटकाई गयी थीं। उस समय अन्तःपुर की शोभा तो सब से निराली एवं अनुपम थी।

इधर समस्त नगर में पुत्रोत्पत्ति का उत्सव मनाया जा रहा था, उधर महाराज भरत दिग्विजय की यात्रा के लिये तैयारी कर रहे थे। वह समय शरद् ऋतु का था। आकाश में कहीं-कहीं दुग्धफेन मेघों का समूह फैल रहा था, जो कि राजा भरत के निर्मल यश के समान प्रतीत होता था। गगन में जो सूर्य दमकता था, वह सम्राट् के तीव्र प्रताप की तरह जान पड़ता था; रात्रि में निर्मल चन्द्रमा शोभा देता था, जो कि राजा भरत के साधु स्वभाव की तरह दिखलाई देता था। नद-नदी, तालाब आदि का जल स्वच्छ हो गया था, सूर्य की तेजस्वी किरणों से मार्गों का कीचड़ सूख गया था, तालाबों में दिन में कमल एवं रात्रि में कुमुद खिलते थे। उन पर जब भ्रमर मनोहर गुंजार करते थे, तो ऐसा मालूम होता था, मानो वे राजा भरत का यश ही गा रहे

हैं। हंस अपने धवल पंख फैला कर निर्मल नीले आकाश में उड़ते हुए नजर आते थे, उस समय प्रकृति रानी की शोभा सब से निराली थी। राजा भरत ने उस समय को ही दिग्विजय के लिये योग्य समझ कर शुभ-मुहूर्त में प्रस्थान किया। प्रस्थान करते समय गुरुजनों ने राजा भरत का अभिषेक किया, सुन्दर वस्त्राभूषण पहिनाये, माथे पर कुँकुम का तिलक लगाया एवं आरती उतारी थी। समस्त वृद्धजनों ने आशीर्वाद दिया, युवकों ने अदम्य उत्साह प्रकट किया एव महिलाओं ने पुष्प तथा धान की खीलें बरसाई। उस समय भरत-राज की असख्य सेना उमड़ते हुए समुद्र की तरह मालूम होती थी। वृषभनन्दन राजा भरत आद्य चक्रवर्ती थे, इसलिये उनके चौदह रत्न एवं नौ निधियाँ प्रकट हुई थीं। रत्नों के नाम ये हैं — १ सुदर्शन चक्र, २ सूर्यप्रभ छत्र, ३ सौनन्दक खड्ग, ४ चण्डवेग दण्ड, ५ चर्मरत्न, ६ चूड़ामणि, ७ चिन्ताजननी काकिणी, ८ कामवृष्टि गृहपति, ९ अयोध्या सेनापति, १० भद्रमुख तक्षक, ११ बुद्धिसागर पुरोहित, १२ विजयार्धयाग हस्ती, १३ पवनञ्जय अश्व एव १४ मनोहर सुभद्रा स्त्री। इनमें से प्रत्येक रत्न की एक-एक हजार देव रक्षा करते थे। ये सब रत्न दिग्विजय के समय चक्रवर्ती के साथ चल रहे थे। इनके रहते हुए उन्हें कोई भी काम कठिन मालूम नहीं होता था। नव निधियाँ ये हैं — १ काल, २ महाकाल, ३ पाण्डुक, ४ मानवाख्य, ५ वैरूपाख्य, ६ सर्व रत्नाख्य, ७ शङ्ख, ८ पद्म एव ९ पिंगलाख्य। इन निधियों को भी हजार-हजार देव रक्षा करते थे। निधियों के रहते हुए सम्राट् भरत को कभी धन-धान्य की चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। इच्छानुसार समस्त वस्तुएँ निधियों से ही प्राप्त हो जाती थीं। भरत चक्रवर्ती अपने तक्षक-रत्न (उत्तम बढ़ई) के द्वारा बनाये गये रथ पर बैठे हुए थे। उनके मस्तक पर रत्न-खचित सोने का मुकुट दमक रहा था। शिर पर रजत छत्र लगा हुआ था एव दोनों ओर चँवर ढुले जा रहे थे। बन्दीगण गुणगान कर रहे थे। अनेक हाथी, घोड़े, रथ एवं प्यादों से भरी हुई सम्राट् की सेना बहुत प्रभावशाली मालूम होती थी।

उस समय सेना के पदाघात से उड़ती हुई धूलि ने सूर्य के प्रकाश को ढँक लिया था, जिससे ऐसा मालूम होता था, मानो सूर्य राजा भरत के प्रताप से पराजित होकर कहीं पर जा छिपा है। सैनिकों के हाथों में अनेक तरह के आयुध (हथियार) चमक रहे थे। राजा भरत का सैन्य-बल देखने के लिए आये हुए देव एव विद्याधरों के विमानों से समस्त आकाश भर गया था। वह सेना अयोध्यापुरी से निकल कर प्रकृति

की शोभा निहारती हुई मैदान में द्रुतिगति से जाने लगी थी। बीच-बीच में अनेक अनुयायी राजे अपनी सेना सहित राजा भरत के साथ आ मिलते थे, इसलिए वह सेना नदी की भाँति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी। बहुत कुछ मार्ग अतिक्रम करने पर राजा भरत गङ्गा नदी के पास पहुँचे। गङ्गा नदी की अनूठी शोभा देख कर राजा भरत का चित्त अत्यन्त हर्षित हो गया। गङ्गा नदी ने शीतल जल-कणों से मिली हुई एवं सरोज गन्ध से सुवासित मन्द समीर से उनका स्वागत किया। राजा भरत ने उस दिन गगा-तट पर ही बिताया। राजा भरत एव सेना के रुकने के लिये स्थपति ने अनेक तम्बू तैयार कर दिये थे, जिनसे ऐसा मालूम होता था कि राजा भरत के विरह से दुःखी होकर अयोध्यापुरी ही वहाँ पहुँच गई है। दूसरे दिन विजयार्ध गिरि के समान अत्यन्त ऊँचे विजयार्ध नामक हाथी पर बैठ कर समाट् भरत ने समस्त सेना के साथ गङ्गा नदी के किनारे-किनारे प्रस्थान किया। चण्डवेग नामक दण्ड के प्रताप से समस्त मार्ग पक्की सड़क के समान साफ होते जाते थे, इसलिये सैनिकों को चलने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने पाता था। बीच-बीच में अनेक नरपाल मुक्ताफल, कस्तूरी, सुवर्ण, चाँदी आदि का उपहार ले कर राजा भरत से भेंट करने के लिए आ जाते थे। इस तरह कुछ दूर तक चलने के बाद वे गङ्गा-द्वार पर जा पहुँचे। वहाँ पर उपसागर की अनुपम शोभा देख कर वे अत्यधिक प्रसन्न हुए। फिर क्रमपूर्वक स्थल-मार्ग से वेदी द्वार में प्रविष्ट हुए। वहाँ गङ्गा नदी के किनारे के वनों में अपनी विशाल सेना को ठहरा कर लवण समुद्र के ऊपर अधिकार करने की इच्छा से महाराज भरत तीन दिन तक वहीं रहे। वहाँ उन्होंने लगातार तीन दिन का अनशन किया एवं कुशासन पर बैठ कर जैन शास्त्रों के मन्त्रों की आराधना की। यह सब करते हुए भी राजा भरत परमेष्ठि-पूजा, सामयिक आदि नित्यकर्म नहीं भूलते थे। वहाँ भी उन्होंने पुरोहित के साथ मिल कर पञ्च-परमेष्ठि की पूजा की एव एकाग्रचित्त होकर ध्यान-सामायिक आदि किया था। फिर उन्होंने समस्त सेना की रक्षा के लिए सेनापति को छोड़ कर अजितञ्जय नामक रथ पर सवार होकर गङ्गा-द्वार से प्रवेश कर लवण-समुद्र में प्रस्थान किया। वे जिस रथ पर बैठे हुए थे, वह अनेक दिव्य अस्त्रों से भरा हुआ था। उसमें जो घोड़े जुते हुए थे, वे जल में भी स्थल की तरह चलते थे एव अपने वेग से मन के वेग को भी जीतते थे। उनका वह रथ जल में ठीक नाव की तरह चल रहा था। रथ-चालन के प्रबल वेग से समुद्र में जो ऊँची-ऊँची लहरें उठती थीं, उनसे ऐसा प्रतीत होता था,

मानो वह राजा भरत के अभिगमन से प्रसन्नचित्त होकर बढ़ रहा हो। चलते-चलते जब वे बारह योजन आगे निकल गये, तब उन्होंने बज्रमय धनुष पर अपना नामाङ्कित बाण आरोपित किया एव क्रोध से हुँकार करते हुए ज्यों ही उसे छोड़ा, त्यों ही वह मगध देव की सभा में जा पडा। बाण के पड़ते ही मगध देव के क्रोध का पारावार नहीं रहा। वह अपनी अल्प बुद्धि से चक्रवर्ती के साथ लड़ने के लिये तैयार हो गया। परन्तु उनके बुद्धिमान मन्त्रियों ने बाण में चक्रवर्ती राजा भरत का नाम देख उसे शान्त कर दिया एवं कहा — 'यह चक्रवर्ती राजा भरत का बाण है; इसकी दिव्य, गन्ध, अक्षत आदि से पूजा करनी चाहिये। इस समय प्रथम चक्रवर्ती राजा भरत दिग्विजय के लिये निकले हुए हैं, वे बड़े प्रतापी हैं। भरत क्षेत्र के छह खण्डों की वसुधा पर उनका एकछत्र राज्य होगा। सब देव , विद्याधर आदि उनके वश में रहेंगे ; इसलिये प्रबल शत्रु के साथ विग्रह करना उचित नहीं है।' मन्त्रियों के वचन सुन कर मगध देव का कोप शान्त हो गया। अब वह अनेक मणि, मुक्ताफल आदि ले कर मन्त्री आदि आत्मजनों के साथ सम्राट् भरत के पास पहुँचा एवं वहाँ उनके सामने समस्त उपहार भेंट कर विनम्र शब्दों में कहने लगा — 'देव ! आज हमारे पूर्वकृत शुभ कर्मों का उदय आया है, जिससे आप जैसे महापुरुषों का समागम प्राप्त हुआ है। आप के शुभागमन से मुझे जो हर्ष हो रहा है, वह वचनों से नहीं कहा जा सकता। साक्षात् परमेश्वर वृषभदेव जिनके पिता है एव चौदह रत्न तथा नौ निधियाँ अप्रमत्त होकर जिनकी सदा सेवा किया करती है , ऐसे आप के सामने यद्यपि यह मणि-मुक्ताओं की तुच्छ भेंट शोभा नहीं देती, तथापि महानुभाव से प्रार्थना है कि सेवक की इस अल्प भेंट को भी स्वीकार करें।' यह कह कर उसने राजा भरत के कानों में मणिमय कुण्डल एव गले में मणिमय हार पहिना दिये। महाराज भरत मगधदेव के नम्र व्यवहार से अत्यधिक प्रसन्न हुए। उन्होंने सुमधुर शब्दों मे उसके प्रति अपना आभार प्रकट कर मित्रता प्रकट की। मगधदेव भी कर्त्तव्य पूरा कर अपने स्थान को वापिस चला गया।

चक्रवर्ती भरत भी विजय प्राप्त कर शिविर (सेना-स्थान) वापिस आ गये। विजय का समाचार सुन कर चक्रवर्ती राजा भरत की समस्त सेना आनन्द से फूल उठी। उसने हर्ष-ध्वनि से समस्त आकाश को गुञ्जायमान कर दिया। फिर दक्षिण दिशा के राजाओं को वश में करने के लिए चक्रवर्ती भरत ने विशाल सेना के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। उस समय महाराज भरत उपसागर एव लवणसागर के बीच

में जो स्थल-मार्ग था, उसी पर गमन कर रहे थे। वहाँ उनकी वह विशाल सेना लहराते हुए तीसरे सागर की भाँति जान पड़ती थी। इस तरह अनेक देशों का उल्लङ्घन करते एवं उनके राजाओं को अपने आधीन बनाते हुए राजा भरत इष्ट स्थान पर पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने इलायची की बेलों के मनोहर वन में सेना को रुकवा कर पूर्व की तरह वैजयन्त महाद्वार से दक्षिण लवणोदधि में प्रवेश किया एवं बारह योजन दूर जा कर उसके अधिपति व्यन्तरदेव को पराजित कर वे वहाँ से वापिस लौट आये। फिर उसी समुद्र एवं उपसमुद्र के बीच के मार्ग से प्रस्थान कर पश्चिम की ओर रवाना हुए। क्रम-क्रम से सिन्धु नदी के द्वार पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने द्वार के बाहर ही चन्दन, नारियल, एला, लवग आदि के वृक्षों से शोभायमान वन में सेना रुकवा कर पहिले की तरह लवण-समुद्र में प्रवेश किया एवं बारह योजन दूर जा कर व्यन्तरों के अधीश्वर प्रभास नामक देव को पराजित किया। विजय प्राप्त कर लौटे हुए सम्राट् भरत का सेना ने हर्षपूर्वक स्वागत किया। इस प्रकार पूर्व, दक्षिण एव पश्चिम दिशा में विजय प्राप्त कर चुकने के बाद राजा भरत उत्तर दिशा को ओर चले। अब तक उनकी सेना अत्यधिक बढ़ गई थी, क्योंकि मार्ग में मिलनेवाले अनेक राजे मित्र होकर अपनी-अपनी सेना ले कर उन्हीं के साथ मिलते जाते थे। जब वह विशाल सेना चलती थी, तब उसके भार से पृथ्वी, पर्वत एव पादप आदि सभी काँप उठते थे। उसकी जय-ध्वनि सुनते ही शत्रु राजाओं के दिल दहल जाते थे। चलते-चलते चक्रवर्ती भरत विजयार्ध पर्वत के पास पहुँचे। वहाँ उन्होंने समस्त सेना को रुकवाया एवं आवश्यक कार्य कर चुकने के बाद मन्त्रों की आराधना में लग गये। कुछ समय बाद वहाँ पर एक देव राजा भरत से मिलने के लिए आया। राजा भरत ने उसे सत्कारपूर्वक आसन दिया। राजा भरत द्वारा प्रदत्त आसन पर बैठ कर देव ने निम्न शब्दों में अपना परिचय दिया — 'प्रभो, मैं विजयार्ध नाम का देव हूँ, मैं जाति का व्यन्तर हूँ,आप को आया हुआ देख कर सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। आज्ञा कीजिये, मैं हर तरह से आप का सेवक हूँ। देव ! देखिये, आप का निर्मल-धवल यश समस्त आकाश में कैसा छा रहा है—' आदि मनोहर स्तुति कर उसने चक्रवर्ती भरत का तीर्थोदक से अभिषेक किया एवं उन्हें अनेक वस्त्राभूषण, रत्न-शृङ्गार, श्वेत छत्र, दो चमर एव सिंहासन प्रदान किये। इसके बाद वह देव आभार प्रकट कर अपने स्थान पर वापिस चला गया। 'यह विजयार्ध देव विजयार्ध गिरि की दक्षिण श्रेणी में रहता है; इसलिये इसके

वशीभूत हो चुकने पर भी उत्तर श्रेणी के देव को वश में करना बाकी रह जाता है एवं जब समस्त विजयार्ध पर हमारा अधिकार हो चुकेगा, तभी दक्षिण भारत की दिग्विजय पूर्ण कहलायेगी' — ऐसा सोच कर महाराज भरत ने जल, सुगन्धि आदि से चक्ररत्न की पूजा की एव उपवास का व्रत रख कर मन्त्रों की आराधना की। फिर वे समस्त सेना के साथ प्रस्थान कर विजयार्ध गिरि की पश्चिम गुफा के पास आये। चक्रवर्ती भरत ने पास के वन में सेना रुकवा दी। वहाँ पर अनेक राजे तरह-तरह के उपहार ले कर उनसे मिलने के लिए आये। उत्तर विजयार्ध का स्वामी कृतमाल नामक देव भी राजा भरत के स्वागत के लिए आया। राजा भरत ने उसके प्रति प्रेम प्रदर्शन किया। कृतमाल ने चौदह आभूषण भेंट दे कर राजा भरत की खूब प्रशसा की एव गुफा में प्रवेश करने के उपाय बतलाये। चक्रवर्ती भरत ने प्रसन्न होकर कृतमाल को वापिस लौटा दिया एवं स्वयं दण्ड-रत्न से गुफा के द्वार का उद्घाटन किया। द्वार का उद्घाटन करते ही जब उसमें से चिरसञ्चित ऊष्मा (गर्मी) निकलने लगी, तब उन्होंने सेनापति से कहा — 'जब तक यहाँ की ऊष्मा शान्त होती है, तब तक तुम पश्चिम खण्ड पर विजय प्राप्त करो।' चक्रवर्ती भरत की आज्ञानुसार सेनापति अश्व-रत्न पर सवार होकर कुछ सेना के साथ पश्चिम की ओर आगे बढ़ा। उस समय उसके आगे दण्ड-रत्न भी चल रहा था। याद रहे कि राजा भरत का सेनापति हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ का पुत्र जयकुमार था। वह बड़ा वीर, बहादुर एव निर्मल बुद्धिवाला था। जयकुमार ने दण्ड-रत्न से गुहा-द्वार का उद्घाटन किया। पहिले द्वार के समान उसमें से भी ऊष्मा (दाह) निकलने लगी, पर उसने उसकी परवाह नहीं की। वह अश्व-रत्न पर सवार होकर शीघ्रता से आगे निकल गया। देवों की सहायता से उसकी समस्त सेना भी कुशलतापूर्वक आगे निकल गई। इस प्रकार सेनापति समस्त सेना के साथ विजयार्ध गिरि की तट-वेदिका को पार कर सिन्धु नदी की पश्चिम वेदिका के तोरण-द्वार से म्लेच्छ खण्डों में जा पहुँचा। वहाँ उसने घूम-घूम कर समस्त म्लेच्छ खण्डों में चक्रवर्ती भरत का शासन प्रतिष्ठित किया। फिर म्लेच्छ राजाओं एवं सेना के साथ वापिस आ कर पहिली गुफा के द्वार का निरीक्षण किया। सेनापति को म्लेच्छ खण्डों के जीतने में जितना (छह माह का) समय लगा था, उतने समय की अवधि में गुहा-द्वार की ऊष्मा शान्त हो चुकी थी। गुहा में प्रवेश करने के उपाय सोच कर विजयी जयकुमार चक्रवर्ती भरत से आ मिला। चक्रवर्ती

भरत ने उसका अत्यधिक सन्मान किया। जयकुमार ने साथ में आये हुए म्लेच्छ राजाओं का चक्रवर्ती भरत से परिचय कराया।

इसके अनन्तर सम्राट् भरत समस्त सेना के साथ उस गुहा-द्वार में प्रविष्ट हुए। सेनापति एवं पुरोहित गुफा की दोनों ओर की दीवालों पर काकिणी रत्न घिसते जाते थे, जिससे उस तमिस्रापूर्ण गुफा में सूर्य-चन्द्रमा के प्रकाश की तरह प्रकाश फैलता जाता था। गुहा का आधा मार्ग तय करने पर उन्हें 'निमग्ना' एवं 'उन्मग्ना' नाम की दो नदियाँ मिलीं। निमग्ना नदी हर पदार्थ को डुबो देती थी एवं उन्मग्ना नदी डूबे हुए पदार्थ को ऊपर ला देती थी। स्थपति-रत्न ने दोनों नदियों के ऊपर पुल तैयार कर दिये थे। चक्रवर्ती भरत समस्त सेना के साथ उन्हें पार कर आगे बढ़े। इस तरह कुछ दिनों तक निरन्तर चलने पर गुहा-मार्ग समाप्त हो गया एवं चक्रवर्ती भरत तट के वन में पहुँच गये। वहाँ सिन्धु नदी के शीतल जल-कणों से मिश्रित पवन के सुखद स्पर्श से सब को अत्यधिक आनन्द अनुभव हुआ। तट-वन की मनोहरता से प्रमुदित होकर चक्रवर्ती भरत ने कुछ दिनों तक वहीं पर विश्राम किया। राजा भरत की आज्ञा पा कर सेनापति जयकुमार ने पश्चिम की तरह पूर्व खण्डों में घूम-घूम कर उनका शासन स्थापित किया। जब जयकुमार लौट कर वापिस आये, तब चक्रवर्ती भरत ने उनका खूब आदर-सत्कार किया।

अब चक्रवर्ती भरत समस्त सेना ले कर मध्यम खण्ड को जीतने के लिये चले। वहाँ उनकी सेना का तुमुल रव सुन कर दो म्लेच्छ राजा युद्ध करने के लिए राजा भरत के सामने आये। उन म्लेच्छ राजाओं को उनके बुद्धिमान मन्त्रियों ने पहिले तो युद्ध करने से बहुत रोका, पर अन्त में जब उनका विशेष आग्रह देखा, तब उन्हें युद्ध करने के अनेक उपाय बतलाये। मन्त्रियों के कहे अनुसार म्लेच्छ राजाओं ने मन्त्र-बल से नागदेवों का आह्वान किया। नागदेव मेघों का रूप बना कर समस्त आकाश में फैल गये एवं लगे राजा भरत की सेना पर मूसलाधार जल बरसाने। जल बरसते समय ऐसा प्रतीत होता था, मानो आकाश फट जाने से स्वर्ग-गङ्गा का प्रबल प्रवाह ही वेग से नीचे गिर रहा हो। जब राजा भरत की सेना उस प्रचण्ड वर्षा से व्याकुल होने लगी, तब उन्होंने ऊपर छत्ररत्न एव नीचे चर्मरत्न की स्थापना कर उसके बीच में समस्त सेना के साथ विश्राम किया। लगातार सात दिन तक मूसलाधार वर्षा होती रही, जल के ऊपर दोनों रत्नों को देख कर

ऐसा प्रतीत होने लगा था कि राजा भरत की सेना समुद्र में तैर रही है। ऐसी परिस्थिति देख कर सम्राट् भरत ने उपद्रव दूर करने के लिये गणबद्ध देवों को आज्ञा दी। गणबद्ध देवों ने अपनी अप्रतिम हुँकार से समस्त दिशाएँ गुंजा दीं। उसी समय पराक्रमी जयकुमार ने दिव्य धनुष ले कर बाणों से समस्त आकाश को छा दिया एव सिंहनाद से सब नागों के दिल दहला दिये। वे डर कर भाग गये, जिससे आकाश निर्मल हो गया एव उसमें पहिले की भाँति सूर्य दमकने लगा। सम्राट् भरत ने जयकुमार की वीरता से प्रसन्न होकर उसका 'मेघेश्वर' नाम रक्खा एव उपद्रव दूर हुआ समझ कर छत्ररत्न का सकोच किया। जब नागदेव भाग गये, तब म्लेच्छ राजा अत्यधिक दुःखी हुए; क्योंकि उनके पास सम्राट् भरत की सेना के साथ लड़ने के लिये अन्य कोई उपाय नहीं था। अन्त में हार मान कर वे सम्राट् भरत से मिलने के लिये आये एव साथ में अनेक मणि-मुक्ता आदि का उपहार लाये। राजा भरत म्लेच्छ राजाओं से मित्र की तरह मिले। राजा भरत का सद्व्यवहार देख कर वे पराजित होने का दुःख भूल गये एवं कुछ देर तक अनुनय-विनय करने के बाद अपने-अपने स्थान पर चले गये। इसके अनन्तर राजा भरत समस्त सेना के साथ हिमवत् पर्वत की ओर गये। वहाँ मार्ग में सिन्धु देवी ने अभिषेक कर उन्हें एक उत्तम सिंहासन भेंट किया। कुछ दिनों तक गमन करने के बाद वे हिमवत् पर्वत के उपकण्ठ (समीप) में पहुँच गये। वहाँ उन्होंने पुरोहित के साथ उपवास कर के चक्ररत्न की पूजा की तथा अन्य भी अनेक मन्त्रों की आराधना की। फिर हाथ में बज्रमय धनुष ले कर हिमवत् पर्वत के शिखर को लक्ष्य कर अमोघ बाण छोड़ा। उसके प्रताप से वहाँ रहनेवाला देव नम्र होकर राजा भरत से मिलने आया एव साथ में अनेक वस्त्राभूषणों का भेंट लाया। राजा भरत ने उसके नम्र व्यवहार से प्रसन्न होकर उसे विदा किया। वहाँ से लौट कर वे वृषभाचल पर्वत पर पहुँचे। वह पर्वत श्वेत वर्ण का था; इसलिये ऐसा प्रतीत होता था, मानो राजा भरत का एकत्रित यश ही हो। राजा भरत ने वहाँ पहुँच कर अपनी कीर्ति-प्रशस्ति लिखनी चाही, पर उन्हें वहाँ कोई ऐसा शिला-तल खाली नहीं मिला, जिस पर किसी का नाम अङ्कित न हो। अब तक राजा भरत का हृदय दिग्विजय के अभिमान से फूला न समाता था; पर ज्यों ही उनकी दृष्टि असख्य राजाओं की प्रशस्तियों पर पड़ी, त्यों ही उनका समस्त अभिमान दूर हो गया। निदान, उन्होंने एक शिला पर दूसरे राजा की प्रशस्ति मिटा कर अपनी प्रशस्ति लिख दी। सच है — ससार के समस्त

प्राणी स्वार्थ-साधन में तत्पर रहा करते हैं। वृषभाचल से लौट कर वे गङ्गा-द्वार पर आये, वहाँ गङ्गादेवी ने अभिषेक कर उन्हें अनेक रत्नों के आभूषण भेंट किये। वहाँ से लौट कर विजयार्ध गिरि के पास आये। वहाँ गुहा-द्वार का उद्घाटन कर प्राच्य खण्ड को विजय करने के लिए सेनापति जयकुमार को भेजा एवं स्वयं वहीं पर छह मास तक सुख से रुक गये। इसी बीच में विद्याधरों के राजे नमि-विनमि अनेक उपहार ले कर सम्राट् भरत से भेंट करने के लिए आये। सम्राट् भरत के सद्व्यवहार से प्रसन्न हो कर राजा नमि ने उनके साथ अपनी बहिन सुभद्रा का विवाह कर दिया। अनिंद्य सुन्दरी सुभद्रा को पा कर राजा भरत ने अपना समस्त परिश्रम सफल माना। इतने में सेनापति जयकुमार प्राच्य खण्डों को जीत कर वापिस आ गया। अब सब सेना एवं सेनापति के साथ राजा भरत ने खण्डप्रपात नामक गुहा में प्रवेश किया। वहाँ नाट्यमाल नामक देव ने उनका खूब सत्कार किया एवं भेंट में अनेक वस्त्राभूषण दिये। गुहा पार करने के बाद क्रम-क्रम से महाराज भरत कैलाश गिरि पर पहुँचे, वहाँ उन्होंने कुछ दिनों तक विश्राम किया। कैलाशगिरि के गगन-चुम्बी धवल शिखरों ने राजा भरत के हृदय पर अपना अधिकार जमा लिया था। वहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य देखते हुए उनका जी उसे छोड़ना नहीं चाहता था। यही कारण था कि वहाँ पर कथानायक भगवान वृषभदेव समवशरण सहित कई बार पहुँचे थे एवं राजा भरत ने आगे चल कर वहाँ तीर्थङ्करों के सुन्दर मन्दिर बनवाये।

कैलाशगिरि से लौट कर राजा भरत ने राजधानी अयोध्या की ओर प्रस्थान किया एवं कुछ पड़ाव तय करने के बाद अयोध्यापुरी वापिस आ गये। दिग्विजयी चक्रवर्ती भरत के स्वागत के लिए अयोध्या नगरी खूब सजाई गई थी। समस्त नगरवासी एवं आस-पास के बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजे उनकी अगवानी के लिए गये थे। अपने प्रति प्रजा का असाधारण प्रेम देख कर राजा भरत अत्यधिक प्रसन्न हुए। वे सब लोगों के साथ अयोध्यापुरी मे प्रवेश करने के लिए चले। सब लोगों के आगे चक्ररत्न चल रहा था।

चक्रवर्ती भरत का जो सुदर्शन-चक्र भारतवर्ष की छह खण्ड वसुन्धरा में उनकी इच्छा के विरुद्ध कहीं पर नहीं रुका था, वह पुरी में पवेश करते समय बाह्य द्वार पर अचानक रुक गया। यक्षों के प्रयत्न करने पर भी जब चक्ररत्न तिल भर भी आगे नहीं बढ़ा, तब चक्रवर्ती भरत ने विस्मित होकर पुरोहित से उसका कारण पूछा। पुरोहितजी ने निमित्त-ज्ञान से उसका कारण बतलाया — 'अभी आप को अपने भाईयों को

वश में करना शेष है —' जब तक आप के सब भाई आप के अधीन न हो जायेंगे, तब तक चक्ररत्न का नगर में प्रवेश नहीं हो सकता; क्योंकि इस दिव्य शस्त्र का ऐसा नियम है कि जब तक छह खण्ड के समस्त प्राणी चक्रवर्ती भरत के अनुयायी न बन जावें,तब तक वह लौट कर नगर में प्रवेश नहीं कर सकता।' पुरोहित के वचन सुन कर चक्रवर्ती भरत ने अनेक उपहारों के साथ अपने भाईयों के पास चतुर दूत भेजे एव उन्हें अपनी आधीनता स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया। चक्रवर्ती भरत के भाईयों ने ज्यों ही दूतों के मुख से चक्रवर्ती भरत का सन्देश सुना, त्यों ही उन्होंने ससार से विरक्त होकर राज्य-तृष्णा छोड़ कर दीक्षा लेना उचित समझा एव निश्चय के अनुसार दीक्षा लेने के लिए भगवान आदिनाथ के पास चले भी गये। दूत ने लौट कर राजा भरत से सब समाचार सुनाये। भाईयों के विरह से उन्हें चिन्ता तो अवश्य हुई, किन्तु राज्य-लिप्सा भी कम बलवती नहीं है — उसके वशीभूत होकर उन्होंने अपने हृदय में भ्रातृ-विरह को अधिक स्थान नहीं दिया। फिर उन्होंने अपनी सौतेली माँ सुनन्दा के पुत्र राजा बाहुबली के पास एक चतुर दूत भेजा। उस समय बाहुबली पोदनपुर के राजा थे। वह दूत क्रम से अनेक देशों को लाँघता हुआ पोदनपुर पहुँचा एव वहाँ द्वारपाल द्वारा राजा बाहुबली के पास अपने आने की सूचना भेज दी। राजा बाहुबलि के सामने उपस्थित होने पर दूत के मन में सशय हुआ कि 'यह शरीरधारी है या अनङ्ग? मोहिनी आकृति से युक्त वसन्त है, मूर्तिधारी प्रताप है या सूर्य समान तेज का समूह है?' दूत ने उन्हें दूर से ही नमस्कार किया। राजा बाहुबलो ने भी बड़े भाई भरत के राजदूत का यथोचित सत्कार किया। कुछ समय बाद जब उन्होने उसके आने का कारण पूछा, तब वह विनीत शब्दों में कहने लगा — 'नाथ! राज-राजेश्वर भरत ने, जो कि भारतवर्ष की छह खण्ड वसुन्धरा को विजय कर वापिस आये हैं, राजधानी अयोध्या से मेरे द्वारा आप के प्रति यह सन्देश भेजा है — प्रिय भाई! यह विशाल राज्य तुम्हारे बिना शोभा नहीं देता; इसलिये तुम शीघ्र ही आ कर मुझ से मिलो। क्योंकि राज्य वही कहलाता है, जो समस्त बन्धु-बान्धुवों के भोग का साधन हो। यद्यपि मेरे चरण-कमलों में समस्त देव, विद्याधर एव सामान्य मनुष्य भक्ति से मस्तक झुकाते हैं; तथापि जब तक तुम्हारा प्रतापमय मस्तक मेरे पास मञाल मराल (मनोहर हस) की भाँति आचरण नहीं करेगा,तब तक उनकी शोभा नहीं।' इसके अनन्तर महाराज भरत ने यह भी कहला भेजा है कि 'जो कोई हमारे अमोघ

शासन को नहीं मानता, उनका शासन यह चक्ररत्न करता है।' जब दूत सन्देश सुना कर मौन हो गया, तब कुमार बाहुबली ने मृदु हास्य सहित कहा — 'साधु! तुम्हारे राज-राजेश्वर अत्यधिक बुद्धिमान प्रतीत होते हैं। उन्होंने अपने सन्देश में एक साथ ही साम, दाम एवं विशेष कर दण्ड एव भेद का कैसा अनुपम समन्वय कर दिखलाया है।' कहते-कहते कुमार बाहुबली की गम्भीरता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। उन्होंने गम्भीर स्वर में कहा — 'तुम्हारा राजा भरत बहुत अधिक मायाचारी प्रतीत होता है। उसके मन में कुछ अलग है एव सन्देश कुछ अन्य ही भेज रहा है। यदि दिग्विजयी सम्राट् भरत सचमुच में सुर-विजयी है, तो फिर दर्भ-कुशा के आसन पर बैठ कर उनकी आराधना क्यों करता था? इसी तरह यदि उसकी सेना अजेय थी, तो म्लेच्छों के साथ समर में लगातार सात दिन तक क्यों कष्ट उठाती रही? हमारे पूज्य पिताजी ने मुझे एव उसे समान रूप से राज-पद का अधिकारी बनाया था। फिर उसके साथ राज-राजेश्वर शब्द का प्रयोग कैसा? क्या सचमुच तुम्हारा राजा चक्री या कुम्हार है; उसे चक्र घुमाने का खूब अभ्यास है। इसीलिये वह अनेक पार्थिव घड़े बनाता रहता है, चक्र ही उसके जीवन का साधन है। उससे जा कर कह दो — 'यदि तुम अरिचक्र का सहार करोगे, तो जीवन-जल-आयु से हाथ धोना पड़ेगा।' सम्राट् भरत के सन्देश का अन्तिम उत्तर देते समय कुमार बाहुबली के ओंठ काँपने लगे थे, आँखें लाल हो गई थीं। उन्होंने दूत से कहा — 'मेरे सामने से दूर हो जाओ। तुम्हारा सम्राट् भरत सग्राम-स्थल में मेरे सामने ताण्डव नृत्य कर अपना 'भरत-नट' नाम सार्थक करे। मैं किसी तरह उसकी सेवा स्वीकार नहीं कर सकता।' उक्त उत्तर के साथ कुमार बाहुबली ने दूत को विदा किया एवं युद्ध के लिए सेना तैयार की। इधर दूत ने आ कर जब सम्राट् भरत से सब समाचार कह सुनाये, तब वे भी युद्ध के लिए सेना ले कर पोदनपुर जा पहुँचे। भाई-भाई का यह युद्ध किसी को अच्छा नहीं लगा। दोनों पक्ष के बुद्धिमान मन्त्रियों ने दोनों को लड़ने से रोका, पर राज्यलिप्सा एव अभिमान से भरे हुए उनके हृदयों में किसी के भी वचन स्थान न पा सके। अन्त में दोनों ओर के मन्त्रियों ने एकमत हो कर सम्राट् भरत एवं राजा बाहुबली से निवेदन किया कि इस युद्ध में सेना का व्यर्थ संहार होगा; इसलिये उत्तम है, आप दोनों परस्पर द्वन्द्व-युद्ध करें एवं सैनिक चुपचाप तटस्थ खड़े रहें। आप दोनों सर्वप्रथम दृष्टि-युद्ध, फिर जल-

१०

युद्ध एव अन्त में मल्ल-युद्ध करें। इन तीनों युद्धों में जो हार जावेगा, वही पराजित कहलावेगा। मन्त्रियों के सुझाव दोनों भाईयों को योग्य प्रतीत हुए; इसलिये उन्होंने अपनी-अपनी सेना को युद्ध करने से रोक दिया। निश्चयानुसार सर्वप्रथम दृष्टि-युद्ध करने के लिए दोनों भाई युद्ध-भूमि में उतरे। दृष्टि-युद्ध का नियम यह था — 'दोनों विजिगीषु एक दूसरे की आँखों की ओर देखें; इस प्रकार देखते हुए जिसके पलक पहिले झप जावें, वही पराजित कहलावेगा।' यहाँ इतना ध्यान रखिये कि सम्राट् भरत का शरीर पाँच सौ धनुष ऊँचा था एव राजा बाहुबली का पाँच सौ पच्चीस। इसलिये दृष्टि-युद्ध के समय सम्राट् भरत को ऊपर की ओर देखना पड़ता था एव राजा बाहुबली को नीचे की ओर। आँख में वायु भरने से सम्राट् भरत के पलक पहिले झप गये — विजय-लक्ष्मी राजा बाहुबली को प्राप्त हुई। इसके अनन्तर जल-युद्ध के लिए दोनों भाई तालाब मे प्रविष्ट हुए। जल युद्ध का नियम था — 'दोनों एक दूसरे पर जल फेंके; जो पहिले रुक जावेगा, वही पराजित कहलावेगा।' राजा बाहुबली ऊँचे थे, इसलिये वे जो जल-पुञ्ज निक्षेप करते थे, वह सम्राट् भरत के समस्त शरीर पर पड़ता एव सम्राट् भरत जो जल-पुञ्ज निक्षेप करते थे, वह राजा बाहुबली को छू भी न सकता था। निदान, राजा बाहुबली ही विजयी हुए। अन्त में मल्ल-युद्ध के लिए दोनों वीर प्रस्तुत होकर युद्ध-स्थल में उतरे। मल्ल-युद्ध देखने के लिए समागत देव एवं विद्याधरों के विमानों से आकाश भर गया था एव पृथ्वी-तल पर असख्य मनुष्य दीख रहे थे। देखते-देखते राजा बाहुबली ने चक्रवर्ती भरत को ऊपर उठा कर चक्र की भाँति आकाश में घुमा दिया। समस्त आकाश में राजा बाहुबली का जयनाद गूँज उठा। चक्रवर्ती भरत को अपना अपमान सह्य नहीं हुआ; इसलिये उन्होंने क्रोध में आ कर भाई बाहुबली के ऊपर सुदर्शन चक्र चला दिया, जो कि दिग्विजय के समय किसी के भी ऊपर नहीं चलाया गया था। पुण्य के प्रताप से चक्ररत्न राजा बाहुबली का कुछ भी न बिगाड़ सका, वह उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दे कर राजा भरत के पास वापिस लौट आया। जब सम्राट भरत ने चक्र चलाया था, तब सब ओर से 'धिक्-धिक्' की ध्वनि आ रही थी। बड़े भाई सम्राट भरत का यह नृशंस व्यवहार देख कर राजा बाहुबली का मन ससार से एकदम उदासीन हो गया। उन्होंने सोचा — 'मनुष्य, राज्य आदि की लिप्सा से कौन-कौन से अनुचित कार्य नहीं कर बैठते? जिस राज्य के लिए भाई भरत एवं मैं ने इतनी विडम्बना

की है, अन्त में उसे छोड़ कर ही चला जाना पड़ेगा' — ऐसा विचार कर उन्होंने अपने पुत्र महाबली को राज्य-भार सौंप कर जिन-दीक्षा ले ली। वे एक वर्ष तक खड़े-खड़े ध्यान-मग्न रहे, उनके पैरों में अनेक वन-लताएँ एवं साँप लिपट गये थे; फिर भी वे ध्यान से विचलित नहीं हुए। एक वर्ष के बाद उन्हें दिव्यज्ञान (केवलज्ञान) प्राप्त हो गया, जिसके प्रताप से वे तीनों कालों को एवं तीनों लोकों को एक साथ जानने एवं देखने लगे थे एवं अन्त में वे इस काल में सब से पहिले मोक्ष-धाम को गये।

इधर जब क्रोध का वेग शान्त हुआ, तब राजा भरत भी कुमार बाहुबली के विरह से अत्यधिक दुःखी हुए। किन्तु उपाय हो क्या था ? समस्त पुरवासी एवं सेना के साथ लौट कर उन्होंने अयोध्या में प्रवेश किया। वहाँ समस्त राजाओं ने मिल कर राजा भरत का राज्याभिषेक किया एवं उन्हें राजाधिराज-सम्राट् के रूप में स्वीकार किया। अब वे निष्कटक होकर समस्त पृथ्वी का शासन करने लगे। राजा भरत ने राज्य-रक्षा के लिए समस्त राजाओं को राज-धर्म, क्षत्रिय-धर्म का उपदेश दिया था, जिसके अनुसार प्रवृत्ति करने से राजा एवं प्रजा सभी लोग सुखी रहते थे। राजा-प्रजा की भलाई करने में सकोच नहीं करते थे एवं प्रजा भी राजा की भलाई में प्राण देने के लिए तैयार रहती थी। इस तरह महाराज भरत स्त्री-रत्न सुभद्रा के साथ अनेक प्रकार के ऐश्वर्य भोगते हुए सुख से समय बिताते थे।

एक दिन उन्होंने विचारा — 'मैं ने जो इतनी अधिक सम्पत्ति इकट्ठी की है, उसका क्या होगा ? बिना दान किये इसकी शोभा नहीं, पर दान दिया भी किसे जावे ? मुनिराज तो संसार से सर्वथा निस्पृह हैं; इसलिये वे न तो धन-धान्य आदि का दान ले सकते हैं, न उन्हें देने की आवश्यकता ही है। वे केवल भोजन की इच्छा रखते हैं, सो गृहस्थ उनकी इच्छा पूर्ण कर देते हैं। हाँ, गृहस्थ धन-धान्य का दान ले सकते हैं, पर अव्रती गृहस्थों को दान देने से लाभ ही क्या होगा ? इसलिये अच्छा यही होगा कि प्रजा में से कुछ दान-पात्रों का चुनाव किया जावे। जो योग्य हों, उन्हें दान दे कर इस विशाल सम्पत्ति को सफल बनाया जावे। वे लोग दान ले कर आजीविका की चिन्ता से निर्मुक्त हो धर्म का प्रचार करेंगे एवं पठन-पाठन की प्रवृत्ति करेंगे।' यह सोच कर उन्होंने किसी व्रत के दिन प्रजा को राज-मन्दिर में आने के लिए आमन्त्रित किया। राज-मन्दिर के मार्ग में हरी-हरी दूब लगवा दी, जब व्रतधारी लोगों ने मन्दिर के द्वार पर पहुँच कर

वहाँ हरी दूब देखी, तब वे अपने व्रत रक्षा के लिए आगे न बढ़ कर वहीं पर रुक गये। पर जो लोग अव्रती थे,वे पैरों से दूब को कुचलते हुए भीतर पहुँच गये। सम्राट् भरत ने जब व्रती मनुष्यों को बाहर बड़े हुए देखा, तो उन्हें दूसरे प्रासुक मार्ग से बुला कर उनका खूब सत्कार किया। उस समय व्रती मनुष्यों को सम्राट् भरत ने गृहस्थोपयोगी समस्त क्रियाकाण्ड, सस्कार, आवश्यक कार्य आदि का उपदेश दे कर यज्ञोपवीत प्रदान किये एवं जगत् में उन्हें 'वर्णोत्तम ब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध किया। पाठक भूले न होंगे कि पहिले ही भगवान वृषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र वर्ण की स्थापना की थी एव अब राजा भरत ने वर्णोत्तम ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की है। इस तरह सृष्टि को लौकिक एव धार्मिक व्यवस्था के लिए चार वर्णो की स्थापना हुई थी। राजा भरत ने ब्राह्मणों के लिये अनेक वस्त्राभूषण प्रदान किये एव उनकी आजीविका के समुचित प्रबन्ध कर दिये। धीरे-धीरे ब्राह्मणों की सख्या बढ़ती गई। वे आजीविका आदि की चिन्ता से निर्मुक्त होकर स्वतन्त्र चित्त से शास्त्रों का अध्ययन एव जैन-धर्म का प्रचार करते थे। वर्ण-व्यवस्था का उल्लङ्घन न हो, इस बात का राजा भरत अत्यधिक ध्यान रखते थे। उस समय क्षत्रिय प्रजा का पालन करते थे, वैश्य व्यापार के द्वारा सब की आर्थिक चिन्ता दूर करते थे, शूद्र एक दूसरे की सेवा करते थे एव ब्राह्मण पठन-पाठन का प्रचार करते थे। कोई भी अपने-अपने कर्मो में व्यतिक्रम नहीं करने पाता था; इसलिये सब लोग सुख-शान्ति से जीवन व्यतीत करते थे। एक दिन राजा भरत ने रात्रि के पिछले प्रहर मे कुछ अद्भुत स्वप्न देखे, जिससे उनके चित्त मे अत्यधिक उद्वेग पैदा हुआ। स्वप्नों का निश्चित फल जानने के लिए उन्होंने किसी अन्य व्यक्ति से नहीं पूछा। वे सीधे जगत्पूज्य भगवान आदिनाथ के समवशरण में जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने गन्धकुटी में विराजमान जगद्गुरु भगवान आदिनाथ को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया एवं जल, चन्दन आदि से उनकी पूजा की। पूजा कर चुकने के बाद चक्रवर्ती भरत ने पूछा — 'हे त्रिभुवनगुरो ! धर्म-मार्ग के प्रवर्तक आप के रहते हुए भी मैं ने अपनी बुद्धि-मन्दता से एक ब्राह्मण वर्ण की सृष्टि की है; उससे कुछ हानि तो न होगी ?' यह कह कर रात्रि के देखे हुए स्वप्न उन्हें कह सुनाये एव उनके फल जानने की इच्छा प्रकट की। चक्रवर्ती भरत का प्रश्न समाप्त होते ही भगवान आदिनाथ ने अपनी दिव्य वाणी में कहा —

पूजा द्विजानां श्रृणु वत्स ! साध्वी, कालान्तरे प्रत्युत दोष हेतुः।
काले कलौजाति मदादिमेते, बैर करिष्यन्ति यतः सुमार्गे॥ —अर्हद्दास

'वत्स ! यद्यपि इस समय ब्राह्मणों की पूजा श्रेयस्करी है, उससे कोई हानि नहीं है ; तथापि कालान्तर में वह दोष का कारण होगी , यही लोग कलिकाल में समीचीन मार्ग के विषय में जाति आदि अहंकार से विद्वेष करेंगे।' यह सुन कर चक्रवर्ती भरत ने कहा — 'यदि ऐसा है, तब मुझे इन्हें विध्वंस (नष्ट) करने में क्या देर लगेगी ? मैं शीघ्र ही इस ब्राह्मण वर्ण को मिटा दूँगा।' तब जगद्गुरु भगवान आदिनाथ ने कहा — 'नहीं, धर्म-सृष्टि का अतिक्रम करना उचित नहीं है।' इसके बाद उन्होंने स्वप्नों का जो फल बतलाया था, वह यह है — 'हे वत्स ! पृथ्वीतल में विहार करने के बाद पर्वत के शिखरों पर बैठे हुए तेईस सिंहों के देखने का फल यह है कि प्रारम्भ से तेईस तीर्थङ्करों के समय में दुर्नय की उत्पत्ति नहीं होगी, पर तुमने दूसरे स्वप्न में एक सिंह-बालक के पास जो एक हाथी खड़ा देखा है,उससे प्रतीत होता है कि अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर के तीर्थ में कुलिंगी साधु अनेक दुर्नय प्रकट करेंगे।'

हाथी के भार से जिसकी पीठ भग्न हो गई है , ऐसे घोड़े को देखने से यह प्रकट होता है कि दुःषमा पञ्चम काल के साधु तप का भार सहन नहीं कर सकेंगे। सूखे पत्ते खाते हुए बकरों का देखना यह बतलाता है कि कलिकाल में मनुष्य सदाचार को छोड़ कर दुराचारी हो जावेंगे।

मदोन्मत्त हाथी की पीठ पर बैठा हुआ बन्दर इस बात का प्रतीक है कि दुःषमा काल में अकुलीन मनुष्य राज्य-शासन करेंगे। कौओं के द्वारा उल्लुओं का मारा जाना सूचित करता है कि कालान्तर में मनुष्य सुखप्रदायक जैन-धर्म को छोड़ कर दूसरे मतों का अवलम्बन करने लगेंगे। नृत्य करते हुए भूतों के देखने से प्रतीत होता है कि आगे चल कर प्रजा के लोग व्यन्तरों को ही देव समझ कर पूजा करेंगे।

जिसका मध्य भाग सूखा हुआ है एव आस-पास जल भरा हुआ है , ऐसे तालाब देखने का फल यह है कि कालान्तर है; अतः मध्य खण्ड में सद्धर्म का अभाव हो जावेगा एव आस-पास में वह स्थिर रहेगा।

धूलिधूसर रत्नों के देखने से ज्ञात होता है कि दुःषमा काल में मुनियों के ऋद्धियाँ उत्पन्न नहीं होंगी।

कुत्ते का सत्कार देखना यह बतलाता है कि आगे चल कर व्रतरहित ब्राह्मण पूजे जावेंगे।

घूमते हुए जवान बैल के देखने का यह फल है कि मनुष्य युवावस्था में ही मुनि-व्रत धारण करेंगे।

चन्द्रमा के परिवेष (घेरा) देखने से यह प्रतीत होता है कि कलिकाल के मुनियों को अवधिज्ञान प्राप्त नहीं होगा।

परस्पर मिल कर जाते हुए बैलों को देखने से यह प्रकट होता है कि साधु एकाकी विहार नहीं कर सकेंगे।

सूर्य का मेघों में छिप जाना बतलाता है कि पञ्चम काल में प्रायः केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होगा।

सूखा वृक्ष देखने से यह प्रकट होता है कि पुरुष एवं स्त्रियाँ चरित्र से च्युत हो जावेंगे।

वृक्षों के जीर्ण (पके हुए) पत्तों के देखने से विदित होता है कि पञ्चम युग में महौषधियाँ तथा रस आदि नष्ट हो जावेंगे।

इस तरह उन्होंने स्वप्नों का फल बतला कर चक्रवर्ती भरत आदि समस्त श्रोताओं को विघ्न-शान्ति के लिए धर्म में दृढ़ रहने का उपदेश दिया। देवाधिदेव वृषभदेव की अमृत वाणी से सन्तुष्ट होकर महाराज भरत ने विघ्न-शान्ति के लिए उनकी पूजा की, स्तुति की एव अन्त में नमस्कार कर अयोध्यापुरी की ओर प्रस्थान किया।

चक्रवर्ती भरत के मरीचि, अर्ककीर्ति आदि पुत्र उत्पन्न हुए थे। ग्रन्थ-विस्तार के भय से उन सब का यहाँ उपाख्यान नहीं किया जाता है।

एक दिन मेघेश्वर जयकुमार ने, जो कि चक्रवर्ती भरत का सेनापति था, संसार से विरक्त होकर जिन-दीक्षा ले ली तथा तप को विशुद्धि से मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त कर के वह जिनेन्द्र भगवान वृषभदेव का गणधर बन गया। केवलज्ञान से शोभायमान त्रिभुवनपति वृषभदेव जिनेन्द्र धर्म-क्षेत्रों में धर्म का बीज वपन कर तथा उपदेशामृत की वृष्टि से उसे सींच कर पौष मास की पूर्णमासी के दिन चिर-परिचित कैलाश पर्वत पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने योग-निरोध किया, समवशरण में बैठना छोड़ दिया, उपदेश देना बन्द कर दिया। केवल मेरु की तरह अचल होकर आतम-ध्यान में लीन हो गये। जिस दिन भगवान वृषभदेव ने योग-निरोध किया था, उसी दिन सम्राट् भरत ने स्वप्न में लोक के अन्त तक लम्बायमान मन्दराचल देखा। युवराज ने

भवरोग नष्ट करने के बाद महौषधि को स्वर्ग जाने के लिए उद्यत देखा । गृहपति ने सकल नर-समूह को मनवांछित फल दे कर स्वर्ग जाने के लिये तैयार हुए कल्पवृक्ष को देखा । प्रधान मन्त्री ने याचकों को अनेक रत्न दे कर आगे जाते हुए रत्नद्वीप को देखा एवं सुभद्रा देवी ने महादेवी यशस्वती एवं सुनन्दा के साथ शोक करती हुई इन्द्राणी को देखा । जब सम्राट् भरत ने पुरोहित से स्वप्नों का फल पूछा , तब उसने कहा — 'ये सब स्वप्न देवाधिदेव वृषभनाथ के निर्वाण-प्रस्थान के सूचक हैं ।' इतने में ही आज्ञाकारी 'आनन्द' ने आ कर सम्राट् भरत से भगवान वृषभनाथ के योग-निरोध का सब समाचार कह सुनाया । सम्राट् भरत उसी समय समस्त परिवार के साथ कैलाश गिरि पर जा पहुँचे एव चौदह दिन तक त्रिलोकीनाथ की पूजा करते रहे ।

त्रिलोकीनाथ धीरे-धीरे अपने मन को बाह्य-जगत् से हटा कर अन्तरात्मा में लगाते जाते थे । उस समय वे कैलाश गिरि के शिखर पर पूर्व दिशा की ओर पल्यङ्कासन से बैठे हुए थे । उनके शरीर का एक रोम भी हिलता हुआ दृष्टिगोचर नहीं आता था । सब देव , विद्याधर , मनुष्य आदि हाथ जोड़े चुपचाप बैठे थे । वह दृश्य न जाने कितना शान्तिमय होगा ? योग-निरोध किये हुए जब तेरह दिन समाप्त हो गये एव माघ कृष्णा चतुर्दशी का मंजुल प्रभात आया , प्राची दिशा में लालिमा फैल गई , तब उन्होंने शुक्ल-ध्यान-रूपी खड्ग के प्रथम प्रहार से बहत्तर कर्म-शत्रुओं को धराशायी कर दिया । अब वे तेरहवें गुणस्थान से चौदहवें गुण-स्थान में पहुँच गये । वहाँ पहुँच कर वे 'अयोग केवली' कहलाने लगे । उस समय उनके न वचन-योग था , न काय-योग एवं न मनोयोग ही था । उनके इस आन्तरिक परिवर्तन के रहस्य का बाह्य लोगों को कैसे पता लगता ? वे तो उन्हें पूर्व की भाँति ही ध्यानारूढ़ देखते रहे । चौदहवें गुणस्थान में पहुँचे हुए उन्हें बहुत ही थोड़ा ('अ इ उ ऋ ऌ' — इन पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है) समय हुआ था कि उन्होंने शुक्ल-ध्यान-रूपी तीक्ष्ण तलवार के दूसरे प्रहार से बाकी बचे हुए तेरह कर्म-शत्रुओं को भी धराशायी कर दिया । अब आप सर्वदा के लिए सर्वथा स्वतन्त्र हो गये । उनकी आत्मा तत्क्षण लोक-शिखर पर पहुँच गई एव शरीर देखते-देखते विलीन हो गया । केवल नख तथा केश शेष बचे थे । उसी समय 'जय-ध्वनि' करते हुए आकाश से समस्त देवगण आये । उन्होंने माया से भगवान वृषभनाथ का दूसरा शरीर निर्माण कर उसे चन्दन , कर्पूर , लवंग , घृत आदि से बने हुए कुण्ड में विराजमान किया , फिर अग्निकुमार देव ने अपने

मुकुटों के परस्पर संघात से उसमें अग्नि-ज्वाला प्रज्वलित की। उसी समय कई गणधर तथा सामान्य केवली भी मोक्ष पधारे थे। देवों ने भगवत्कुण्ड से दक्षिण की ओर 'गणधर कुण्ड' तथा 'केवली कुण्ड' बना कर उनमें उनका अग्नि-सस्कार किया था।

आज पवित्र आत्माएँ ससार-बन्धन से मुक्त हो गई—यह सुन कर किस मुमुक्षु प्राणी को अनन्त आनन्द न हुआ होगा ? अग्नि शान्त होने पर समस्त देवों ने तीनों कुण्डों से भस्म निकाल कर अपने ललाट, कण्ठ, भुज, शीश तथा हृदय में लगा लिया। उस समय समस्त देवगण आनन्द से उन्मत्त हो रहे थे। उन्होने गायन-वादन कर मधुर सगीत में मुक्त आत्माओं की स्तुति की। इन्द्र ने आनन्द से 'आनन्द' नाटक किया तथा सुर गुरु वृहस्पति ने ससार का स्वरूप बतलाया। इस तरह भगवान वृषभदेव का निर्वाण महोत्सव मना कर देव लोग अपने-अपने स्थान पर चले गये। पिता के वियोग से सम्राट् भरत को दुःखी देख कर वृषभसेन गणधर ने उन्हें अपने उपदेशामृत से शान्त किया, जिससे सम्राट् भरत शोकरहित होकर गणधर महाराज को नमस्कार कर अयोध्यापुरी लौट आये।

नाभिराज, मरुदेवी, यशस्वती, सुनन्दा, ब्राह्मी, सुन्दरी आदि के जीव अपनी-अपनी तपस्या के अनुसार स्वर्ग में देव हुए हुए। पिता के निर्वाण के बाद सम्राट् भरत कुछ समय तक राज्य-शासन तो अवश्य करते रहे,पर अन्तर से बिलकुल उदासीन रहते थे। भगवान वृषभदेव की निर्वाण-भूमि होने के कारण कैलाश गिरि उस दिन से 'सिद्धक्षेत्र' नाम से प्रसिद्ध हो गयी। सम्राट् भरत ने वहाँ पर चौबीस तीर्थङ्करों के सुन्दर मन्दिर बनवा कर उनमें मणिमयी जिन प्रतिमाएँ विराजमान करायी थीं।

एक दिन राजा भरत दर्पण में अपना मुख देख रहे थे कि उनकी दृष्टि अपने धवल केशों पर पड़ी। दृष्टि पड़ते ही उनके हृदय में वैराग्य-सागर उमड़ पड़ा। उन्होंने तप को ही सच्चे कल्याण का मार्ग समझ कर पुत्र अर्ककीर्ति को राज्य दे दिया तथा स्वय गणीन्द्र वृषभसेन के पास जा कर दीक्षा ले ली। राजा भरत का हृदय इतना अधिक निर्मल था कि उन्हें दीक्षा लेने के कुछ समय बाद ही 'केवलज्ञान' प्राप्त हो गया। केवली भरत ने भी स्थान-स्थान पर विहार कर धर्म का प्रचार किया तथा अन्त में कर्म-शत्रुओं को नष्ट कर आत्म-स्वातन्त्र्य-रूप मोक्ष प्राप्त किया। वृषभसेन, अनन्तविजय, अनन्तवीर्य, अच्युत, वीर, वरवीर, श्रेयांस,

आत्म-स्वातन्त्र्य-रूप मोक्ष प्राप्त किया। वृषभसेन, अनन्तविजय, अनन्तवीर्य, अच्युत, वीर, वरवीर, श्रेयांस,
जयकुमार आदि गणधरों ने भी काल-क्रम से मोक्ष लाभ किया। इस तरह प्रथम तीर्थङ्कर भगवान वृषभनाथ का पवित्र चरित्र पूर्ण हुआ। इनके बैल का चिह्न था।

(२) भगवान श्री अजितनाथजी

स ब्रह्मनिष्ठः सममित्र शत्रुर्विद्या विनिर्वान्त कषाय दोषः।
लब्धात्म लक्ष्मी रजितोऽजितात्मा जिनः श्रियं मे भगवान विधत्ताम् ॥ —समन्तभद्र

वे आत्म-स्वरूप में लीन, शत्रु एव मित्रों को समान रूप से देखनेवाले, सम्यक्ज्ञान से कषाय-रूपी शत्रुओं को हटानेवाले, आत्मीय विभूति को प्राप्त किये हुए, अजेय है आत्मा जिनकी ऐसे भगवान अजितनाथ जिनेन्द्र मुझे कैवल्य लक्ष्मी से युक्त करें।

पूर्व-भव परिचय

इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण किनारे पर एक मत्स नाम का देश है। उसमें धन-धान्य से सम्पन्न एक सुसीमा नगरी है। वहाँ किसी समय विमलवाहन राजा राज्य करता था। राजा विमलवाहन समस्त गुणों से विभूषित था। वह उत्साह, मन्त्र एव प्रभाव — इन तीन शक्तियों से सतत् न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता था। राज्य कार्य करते हुए भी वह आत्म-धर्म, संयम, सामायिक आदि को नहीं भूलता था। वह अत्यधिक मन्द-कषायी था।

एक दिन राजा विमलवाहन को कुछ कारण वश वैराग्य उत्पन्न हो गया। विरक्त होकर वह सोचने लगा — 'ससार के भीतर कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है। यह मेरी आत्मा भी एक दिन इस शरीर को

छोड़ कर चली जावेगी, क्योंकि आत्मा एवं शरीर का सम्बन्ध तभी तक रहता है, जब तक कि आयु शेष रहती है। यह आयु भी धीरे-धीरे घटती जा रही है; इसलिए आयु पूर्ण होने के पहिले ही आत्म-कल्याण की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिये।'

इस प्रकार विचार कर वह वन में गया एवं वहाँ पर एक दिगम्बर यती के सानिध्य में दीक्षित हो गया। उसके साथ अन्य भी बहुत से राजा दीक्षित हुए थे। गुरु के चरणों के समीप रह कर उसने खूब विद्याध्ययन किया, जिससे उसे ग्यारह अङ्ग का ज्ञान हो गया था। उसी समय उसने दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तवन भी किया था, जिससे उसके 'तीर्थङ्कर' नामक महापुण्य-प्रकृति का बन्ध हो गया।

राजा विमलवाहन आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक मर कर विजय विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहाँ उसकी आयु तैतीस सागर की थी। उसका शरीर जैसा शुक्ल था, वैसा ही हृदय भी शुक्ल था। उसे वहाँ सकल्प मात्र से ही सब पदार्थ प्राप्त हो जाते थे। पहिले की तरह वहाँ भी उसका चित्त विषयों से उदासीन रहता था। वह वहाँ पर विषयानन्द को छोड़ कर आत्मानन्द में ही लीन रहता था। तैतीस हजार वर्ष बीत जाने पर उसे एक बार आहार की इच्छा होती थी एव तैतीस पक्ष बाद एक बार श्वासोच्छ्वास लिया करता था। वहाँ उसके शरीर की ऊँचाई एक हाथ की थी। अहमिन्द्र (राजा विमलवाहन) को विजय विमान में पहुँचते ही 'अवधिज्ञान' हो गया था, जिससे वह त्रस नाड़ी के भीतर के परोक्ष पदार्थों को प्रत्यक्ष की तरह स्पष्ट जान लेता था। यही अहमिन्द्र आगे चल कर भगवान अजितनाथ होंगे।

वर्तमान परिचय

इसी भारत वसुन्धरा पर अत्यन्त शोभायमान एक साकेतपुरी (अयोध्यापुरी) है। उसमें किसी समय इक्ष्वाकुवशीय काश्यप गोत्रीय राजा जितशत्रु राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम विजयसेना था। ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर आये है, उसकी आयु जब वहाँ पर छः माह बाकी रह गई, तब यहाँ राजा जितशत्रु के गृह पर प्रतिदिन तीन-तीन वार साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होने लगी। इन्द्र की आज्ञा पा कर कुवेर रत्न बरसाता था। यह अतिशय देख कर राजा जितशत्रु अत्यधिक आनन्दित होते थे। इसके

८२

बाद ज्येष्ठ मास की अमावस्या के दिन रात्रि के पिछले भाग में जब कि रोहिणी नक्षत्र का उदय था, तब ब्रह्म मुहूर्त के कुछ पहिले महारानी विजयसेना ने ऐरावत आदि सोलह स्वप्न देखे एवं उसके बाद अपने मुख में एक मत्त हस्ती को प्रवेश करते हुए देखा।

प्रातः होते ही महारानी ने स्वप्नों का फल राजा जितशत्रु से पूछा, तो उन्होंने देशावधि-रूपी लोचन से देख कर कहा — 'हे देवी! तुम्हारे कोई तीर्थङ्कर पुत्र उत्पन्न होगा। उसी के पुण्य-बल के कारण छह माह पहिले से प्रतिदिन ये रत्न बरस रहे हैं एवं आज तुमने ये सोलह स्वप्न भी देखे हैं।' स्वप्नों का फल सुन कर विजयसेना आनन्द से फूली न समाती थी। जिस समय उसने स्वप्न में मुख में प्रवेश करते हुए गन्ध हस्ती को देखा था, उसी समय अहमिन्द्र (राजा विमलवाहन का जीव) विजय विमान से चय कर उसके गर्भ में अवतीर्ण हुआ था। उसी दिन देवों ने आ कर साकेतपुरी में खूब उत्सव किया था।

धीरे-धीरे गर्भ पुष्ट होता गया। महाराज जितशत्रु के गृह पर रत्नों की धारा गर्भ के दिनों में भी पहिले की तरह ही बरसती रहती थी। भावी पुत्र के अनुपम अतिशय का ध्यान कर महाराज जितशत्रु को अत्यधिक आनन्द होता था। जब गर्भ का समय व्यतीत हो गया, तब माघ शुक्ला दशमी के दिन महारानी विजयसेना ने पुत्र-रत्न का प्रसव किया। वह पुत्र जन्म से ही मति-श्रुति एव अवधि — इन तीनों ज्ञानों से शोभायमान था। उसकी उत्पत्ति के समय अनेक शुभ शकुन हुए थे। उसी समय देवों ने सुमेरु पर्वत पर ले जा कर उसका जन्माभिषेक किया एव 'अजित' नाम रक्खा। भगवान अजितनाथ धीरे-धीरे बढ़ने लगे। वे अपनी बाल-सुलभ चेष्टाओं से माता-पिता तथा बन्धु वर्ग आदि का मन प्रमुदित करते रहते थे। आपस के खेल-कूद में भी जब इनके भाई इनसे पराजित हो जाते थे, तब वे इनका 'अजित' नाम सार्थक समझने लगते थे।

भगवान आदिनाथ को मुक्त हुए पचास लाख करोड़ सागर बीत जाने पर इनका जन्म हुआ था। उक्त अन्तराल में लोगों के हृदय में धर्म के प्रति जो कुछ शिथिलता-सी आ गयी थी; इन्होंने उसे दूर कर फिर से धर्म का प्रद्योत किया था। इनके शरीर का रङ्ग तपे हुए सुवर्ण की भाँति था। ये बहुत ही वीर एवं क्रीड़ा-चतुर पुरुष थे। अनेक तरह की क्रीड़ा करते हुए जब इनके अठारह लाख पूर्व बीत गये, तब इन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया। उस समय इनके शरीर की शोभा बड़ी ही विचित्र हो गई थी। महाराज

जितशत्रु ने अनेक सुन्दरी कन्याओं के साथ इनका विवाह कर दिया एवं शुभ मुहूर्त में इन्हें राज्य दे कर स्वय धर्म-सेवन करते हुए सद्गति को प्राप्त हुए।

भगवान अजितनाथ ने राज्य पा कर प्रजा का इस तरह पालन किया कि इनके गुणों से मुग्ध होकर उनके मन से महाराज जितशत्रु की स्मृति भी मिट गई। इन्होंने समयोपयोगी अनेक सुधार करते हुए त्रेपन लाख पूर्व तक राज्य-लक्ष्मी का उपभोग किया।

एक दिन भगवान अजितनाथ महल की छत पर बैठे हुए थे कि उन्होंने दमकती हुई विद्युत को अचानक नीचे गिर कर नष्ट होते हुए देखा। उसे देख कर उनका हृदय विषयों से विरक्त हो गया। वे सोचने लगे — 'ससार का हर एक पदार्थ इसी विद्युत की तरह क्षण-भगुर है। मेरा यह सुन्दर शरीर एव यह मनुष्य पर्याय भी एक दिन इसी तरह नष्ट हो जावेंगे। जिस उद्देश्य के लिये मेरा जन्म हुआ था, उसके लिये तो मैं ने अभी तक कुछ भी नहीं किया। खेद है कि मैं ने सामान्य अज्ञ मनुष्यों की तरह अपनी आयु का बहुभाग व्यर्थ ही खो दिया। अब आज से मैं सर्वथा विरक्त होकर दिगम्बर मुद्रा को धारण कर वन में रहूँगा। क्योंकि इन रग-बिरगे महलों में रहने से चित्त को शान्ति नहीं मिल सकती।' इधर इनके चित्त में ऐसा चिन्तवन हो रहा था, उधर लौकान्तिक देवों के आसन कॉपने लगे। आसन कॉपने से उन्हें निश्चय हो गया था—'भगवान अजितनाथ का चित्त वैराग्य की ओर बढ़ रहा है।' निश्चयानुसार वे शीघ्र ही इनके पास आये तथा तरह-तरह के सुभाषणों से इनकी वैराग्य-धारा अत्यधिक प्रवर्द्धित कर अपने-अपने स्थान पर चले गये। उसी समय तपःकल्याणक का उत्सव मनाने के लिये वहॉ समस्त देवगण आ कर उपस्थित हुए। सब से पहिले भगवान ने अभिषेकपूर्वक 'अजितसेन' नामक पुत्र को राज्य का भार सौपा एव फिर अनाकुल होकर वन में जाने के लिये प्रस्तुत हो गये। देवों ने उनका भी तीर्थ जल से अभिषेक किया एव उन्हें तरह-तरह के मनोहर आभूषण पहिनाये अवश्य, पर उनकी इस रागवर्द्धक क्रिया में भगवान अजितनाथ को कुछ भी आनन्द नहीं मिला। वे 'सुप्रभा' नामक पालकी पर सवार हो गये। इस पालकी को मनुष्य, विद्याधर एव देवगण लोग क्रम-क्रम से अयोध्या के सहेतुक वन मे ले गये। वहॉ वे एक तप्तपर्ण वृक्ष के नीचे सुन्दर शिला पर पालकी से उतरे। जिस शिला पर वे उतरे थे, उस पर देवांगनाओं ने रत्नों के चूर्ण से कई तरह के चौक पूरे थे। सप्तपर्ण वृक्ष

के नीचे विराजमान द्वितीय जिनेन्द्र अजितनाथ ने पहिले सब की ओर विरक्त दृष्टि से देख कर दीक्षित होने के लिये सम्मति ली। फिर पूर्व की ओर मुख कर 'ॐ नमः सिद्धेभ्य' कहते हुए वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये तथा पञ्च मुष्ठियों से केश उखाड़ डाले। इन्द्र ने केशों को उठा कर रत्नों के पिटारे में रख लिया तथा उत्सव समाप्त होने के बाद क्षीर-सागर में उनका क्षेपण कर दिया। दीक्षा लेते समय उन्होंने षष्ठोपवास धारण किया था। जिस दिन भगवान अजितनाथ ने दीक्षा धारण की थी, उस दिन माघ मास के शुक्ल पक्ष की नवमी थी तथा रोहिणी नक्षत्र का उदय था। उन्होंने दीक्षा सायकाल के समय ली थी। उनके साथ में एक हजार अन्य राजाओं ने भी दीक्षा धारण की थी। उस समय भगवान अजितनाथ की विशुद्धता इतनी अधिक बढ़ गई थी कि उन्हें दीक्षा लेते समय ही मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था।

जब प्रथम योग समाप्त हुआ, तब वे आहार के लिये अयोध्यापुरी में आये। वहाँ ब्रह्मा नामक एक श्रेष्ठी ने उन्हें उत्तम आहार दिया, जिससे उसके गृह पर देवों ने पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। भगवान अजितनाथ आहार ले कर चुपचाप वन को चले गये तथा वहाँ आत्म-ध्यान में लीन हो गये। योग पूरा होने पर वे आहार के लिये नगरों में जाते तथा आहार ले कर पुनः वन में लौट आते थे। इस तरह बारह वर्ष तक उन्होंने कठिन तपस्या की, जिसके फलस्वरूप उन्हें पौष मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन सायंकाल के समय रोहिणी नक्षत्र के उदय काल में 'केवलज्ञान' प्राप्त हो गया। अब भगवान अजितनाथ अपने दिव्यज्ञान (केवलज्ञान) से तीनों लोकों के सब चराचर पदार्थों को एक साथ जानने लगे। देवों ने आ कर ज्ञान-कल्याणक का उत्सव मनाया। इन्द्र की आज्ञा पा कर धनपति कुबेर ने विशाल समवशरण की रचना की। उसमें गन्धकुटी के मध्य भाग में भगवान अजितनाथ विराजमान हुए। जब वह सभा देव, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि से खचाखच भर गई, तब उन्होंने अपनी दिव्य-ध्वनि के द्वारा सब को धर्मोपदेश दिया, जिससे प्रभावित होकर लोग आत्म-धर्म में पुनः दृढ़ हो गये। भगवान अजितनाथ केवली ने देश-विदेश में विहार कर धर्म का खूब प्रचार किया था।

उनके सिंहसेन आदि नब्बे गणधर, तीन हजार सात सौ पचास पूर्वधारी, इक्कीस हजार छह सौ शिक्षक, हजार चार सौ अवधिज्ञानी, बीस हजार केवलज्ञानी, बीस हजार चार सौ विक्रिया ऋद्धिवाले, बारह हजार र सौ पचास मनःपर्यय ज्ञानी एव बारह हजार चार सौ अनुत्तर-वादी मुनि शिष्य थे। इस तरह सब मिला

कर एक लाख तपस्वी थे। प्रकुब्जा आदि तीन लाख बीस हजार आर्यिकाएँ, तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकाएँ, असख्य देव-देवियाँ एव असख्यात तिर्यञ्च शिष्य उनके सघ में थे।

समवशरण भूमि में वे सतत् आठ प्रातिहार्यो से युक्त रहते थे। अन्त में जब उनकी आयु एक महीने की शेष रह गयी, तब वे श्री सम्मेदशिखर पर जा पहुँचे एव वहाँ पर एक माह का योग धारण कर मौनपूर्वक खड़े हो गये। उस समय उन्होंने प्रति समय शुक्ल-ध्यान के प्रताप से कर्मो की असख्यात गुणी निर्जरा की। दण्ड, प्रतर आदि समुद्घात से अन्य कर्मो की स्थिति बराबर की एव फिर अन्त में व्युपरत, क्रिया-निवृत्ति शुक्ल-ध्यान से समस्त अघातिया-कर्मो का क्षय कर उन्होंने चैत्र शुक्ला पञ्चमी के दिन रोहिणी नक्षत्र के उदय काल में प्रातः के समय मुक्ति-धाम को प्राप्त किया। वे सदा के लिये सुखी, स्वतन्त्र हो गये।

भगवान अजितनाथ की कुल आयु बहत्तर लाख पूर्व की थी एव शरीर की ऊँचाई चार सौ पचास धनुष की थी। इनके समय में सगर नाम का द्वितीय चक्रवर्ती हुआ था। उसने भी आदि चक्रधर भरत की तरह भरतक्षेत्र के छह खण्डों पर विजय प्राप्त की थी। अप्रासगिक होने से यहाँ उसका विशेष चरित्र नहीं लिखा गया है। भगवान अजितनाथ के हाथी का चिह्न था।

(३) भगवान श्री शम्भवनाथजी

त्वं शम्भवः सम्भवतर्षरोगैः सतप्यमानस्य जनस्य लोके।
आसी रिहा कास्तिक एक वैद्यो, वैद्यो यथा नाथ! रुजा प्रशान्त्यै॥

—स्वामी समन्तभद्र

हे नाथ! जिस तरह रोगों की शान्ति के लिए कोई वैद्य होता है, उसी तरह आप श्री सम्भवनाथ भी उत्पन्न हुए तृष्णा-रोग से दुःखी होनेवाले मनुष्य की रोग-शान्ति के लिये अकस्मात् प्राप्त हुए वैद्य थे।

पूर्व-भव परिचय

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र सीता नदी के उत्तर तट पर एक कच्छ नाम का देश है, उसमें क्षेमपुर नाम का नगर है। क्षेमपुर का जैसा नाम था, उसमें वैसे हो गुण थे; अर्थात् उसमें सतत् क्षेम-मङ्गलों का ही निवास रहता था। वहाँ के राजा का नाम विमलवाहन था। राजा विमलवाहन ने अपने बाहुबल से समस्त विरोधी राजाओं को अपने वश में कर लिया था। शरद् ऋतु के इन्दु की तरह उसकी निर्मल कीर्ति सब ओर फैली हुई थी। वह जो भी कार्य करता था, वह मन्त्रियों के परामर्श से ही करता था; इसलिये उसके समस्त कार्य सुसम्पन्न हुआ करते थे।

एक दिन राजा विमलवाहन किसी कारणवश ससार से विरक्त हो गये, जिससे उन्हें पाँचों इन्द्रियों के विषय-भोग काले भुजङ्गों की तरह दुःखदायी प्रतीत होने लगे। वे बैठ कर सोचने लगे कि 'यमराज' किसी भी छोटे-बड़े का भेद नहीं रखता है। ऊँचे से ऊँचे एव दीन से दीन मनुष्य भी इसकी कराल दष्ट्रातल के नीचे दले जाते हैं। जब ऐसा है, तब क्या वह मुझे छोड़ देगा ? इसलिये जब तक मृत्यु निकट नहीं आती, तब तक तपस्या आदि से आत्म-हित की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिये। ऐसा चिन्तवन कर वह विमलकीर्ति नामक औरस-पुत्र को राज्य दे कर स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के पास दीक्षित हो गया। उनके समीप में रह कर उसने कठिन से कठिन तपस्याओं द्वारा आत्म-शुद्धि की एवं निरन्तर शास्त्रों का अध्ययन करते-करते ग्यारह अङ्ग तक का ज्ञान प्राप्त कर लिया। मुनिराज विमलवाहन यही सोचा करते थे कि इन दुःखी प्राणियों का ससार-सागर से कैसे उद्धार हो सकेगा ? यदि मैं इनके हित-साधन में कृतकार्य हो सका, तो अपने को धन्य समझूँगा। इसी समय उन्होंने दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तवन किया, जिससे उन्हें 'तीर्थङ्कर' नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। अन्त में समाधिपूर्वक शरीर त्याग कर पहिले ग्रैवेयक के सुदर्शन नामक विमान में वे अहमिन्द्र हुए। वहाँ उनकी आयु तेईस सागर प्रमाण थी, शरीर की ऊँचाई साठ अगुल थी एव रङ्ग धवल था। वे वहाँ तेईस पक्ष में श्वास लेते थे तथा तेईस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार करते थे। वे स्त्री-ससर्ग से सदा रहित थे। उन्हें जन्म से ही 'अवधिज्ञान' था एवं शरीर में अनेक

तरह की ऋद्धियाँ थीं। इसी तरह वे वहाँ आनन्द से समय बिताने लगे। यही अहमिन्द्र आगे चल कर भगवान शम्भवनाथ होंगे।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में श्रावस्ती नाम की एक नगरी है। उस नगरी की रचना अत्यधिक मनोहर थी। वहाँ गगनचुम्बी भवन थे, जिन पर अनेक रङ्गों की पताकाएँ फहरा रही थीं। स्थान-स्थान पर अनेक सुन्दर वापिकाएँ थीं। उन वापिकाओं के तटों पर मराल जल-क्रीड़ा किया करते थे। उनके चारों ओर अगाध जल से भरी हुई परिखा थी एव उसके बाद ऊँचे शिखरों से मेघों को छूनेवाला प्राकार-कोट था। जिस समय की यह कथा है, उस समय वहाँ दृढ़राज्य नाम के राजा राज्य करते थे। वे अत्यन्त प्रतापी, धर्मात्मा, सौम्य एव साधु स्वभाववाले व्यक्ति थे। उनका जन्म इक्ष्वाकु वंश एव काश्यप गोत्र में हुआ था। उनकी महारानी का नाम सुषेणा था। उस समय वहाँ महारानी सुषेणा के समान सुन्दरी स्त्री दूसरी नहीं थी। वह अपने रूप से देवांगनाओ को भी तिरस्कृत करती थी; तब नर-नारी एवं देवियों की तो बात ही क्या थी ? दोनों दम्पत्ति सुखपूर्वक अपना समय बिताते थे, उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी।

ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर आये है, उसकी वहाँ की आयु जब केवल छह माह की शेष रह गई, तब से राजा दृढ़राज्य के गृह पर प्रतिदिन असख्य रत्नों की वर्षा होने लगी। रत्न-वर्षा के अतिरिक्त अन्य भी अनेक शुभ शकुन होने लगे थे, जिससे राज-दम्पति आनन्द से फूले न समाते थे। एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर मे महारानी सुषेणा ने सोते समय ऐरावत हाथी आदि को ले कर सोलह स्वप्न देखे एवं स्वप्न देखने के बाद मुख में प्रवेश करते हुए एक गन्ध-सिन्दुर-मत्त हाथी को देखा। प्रातः होते ही उसने पतिदेव से स्वप्नों का फल पूछा। राजा दृढ़राज्य ने अवधिज्ञान से विचार कर कहा — 'आज तुम्हारे गर्भ में तीर्थङ्कर पुत्र ने अवतार लिया है। पृथ्वीतल मे तीर्थङ्कर के जैसा पुण्य किसी का नहीं होता। देखो न, वह तुम्हारे गर्भ में आया भी नहीं था कि छह माह पहिले से प्रतिदिन असख्य रत्न-राशि बरस रही है। कुबेर ने इस नगरी को कितना सुन्दर बना दिया है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु कितनी मोहक हो गई है कि उसे देखते-देखते नयन तृप्त नहीं

होते। यहाँ रानी को राजा स्वप्नों का फल बतला रहे थे, वहाँ भावी पुत्र के पुण्य प्रताप से देवों के अचल आसन भी हिल गये, जिससे समस्त देव तीर्थङ्कर का गर्भावतार समझ कर उत्सव मनाने के लिये श्रावस्ती आये एवं क्रम-क्रम से राज-मन्दिर में पहुँच कर उन्होंने राजा-रानी की खूब स्तुति की तथा उन्हें दैवीय वस्त्राभूषणों से खूब अलकृत किया। गर्भावतार का उत्सव मना कर देवगण अपने-अपने स्थानों पर वापिस चले गये एवं कुछ देवियों को जिन-माता की सेवा के लिए वहीं पर छोड़ गये। देवियों ने गर्भ-शुद्धि आदि को ले कर अनेक तरह से महारानी सुषेणा की शुश्रूषा करनी प्रारम्भ कर दी। राज-दम्पति भावी पुत्र के उत्कर्ष का ध्यान रख कर मन ही मन हर्षित होते थे। जिस दिन अहमिन्द्र (भगवान शम्भवनाथ का जीव) ने सुषेणा के गर्भ मे अवतार लिया था; उस दिन फाल्गुन कृष्णा अष्टमी का दिन था, मृगशिर नक्षत्र का उदय काल था एव प्राची दिशा में बाल-सूर्य कुमकुम रङ्ग बरसा रहा था। देव-कुमारियों की शुश्रूषा से एव विनोद-भरी वार्ताओं से जब रानी के गर्भ के दिन सुख से बीत गये (उन्हें गर्भ-सम्बन्धी कोई कष्ट नहीं हुआ) तब कार्तिक शुक्ला पूर्णमासी के दिन मृगशिर नक्षत्र में उनके पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। पुत्र उत्पन्न होते ही आकाश से असख्य देव-सेनायें श्रावस्ती नगरी में महाराज दृढ़राज्य के गृह आई। इन्द्र ने इन्द्राणी को भेज कर प्रसूति-गृह से जिनेन्द्र-बालक को मँगवाया। शिशु की स्वाभाविक सुन्दरता को देख कर इन्द्र आनन्द से फूला न समाता था। आई हुई देव-सेनाओं ने पहिले के दो तीर्थङ्करों की तरह मेरु पर्वत पर इनका भी जन्माभिषेक किया एवं वहाँ से वापिस आ कर उनको उनके माता-पिता को सौप दिया। बालक को देखने मात्र से ही 'शम्' अर्थात् सुख-शान्ति प्राप्त होती थी; इसलिये इन्द्र ने उनका 'शम्भवनाथ' नाम रक्खा था। शम्भवनाथ अपने गुणों से ससार में 'भगवान' कहलाने लगे। देवगण एव देवेन्द्र जन्म के समस्त उत्सव मना कर अपने-अपने स्थानों को चले गये।

भगवान शम्भवनाथ द्वितीया की चन्द्रमा की तरह धीरे-धीरे बढ़ने लगे। वे अपनी बाल-सुलभ अनर्गल लीलाओं से माता-पिता, बन्धु-बान्धवों को सतत् हर्षित किया करते थे। उनके शरीर का रङ्ग सुवर्ण के समान पीला था। भगवान अजितनाथ से तीस करोड़ वर्ष बाद उनका जन्म हुआ था। इस अन्तराल के मध्य धर्म के विषय में जो कुछ शिथिलता आ गई थी, वह इनके उत्पन्न होते ही धीरे-धीरे विनष्ट हो गई।

१२

इनकी पूर्ण आयु साठ लाख पूर्व की थी एवं शरीर की ऊँचाई चार सौ धनुष प्रमाण थी। जन्म से पन्द्रह लाख पूर्व बीत जाने पर इन्हें राज्य-विभूति प्राप्त हुई थी। इन्होंने राज्य पा कर अनेक सामयिक सुधार किये थे। समय की प्रगति देखते हुए आप ने राजनीति को पहिले बहुत कुछ परिवर्तित किया। पिता दृढ़राज्य ने योग्य कुलीन कन्याओं के साथ इनका विवाह कर दिया था; इसलिये वे अनुरूप भार्याओं के साथ सांसारिक सुख भोगते हुए चवालीस लाख पूर्व एवं चार पूर्वाङ्ग तक राज्य करते रहे।

एक दिन वे महल की छत पर बैठे हुए प्रकृति की सुन्दर शोभा देख रहे थे कि उनकी दृष्टि एक श्वेत मेघखण्ड पर पड़ी। वायु के वेग से क्षण-भर में वह मेघखण्ड विलीन हो गया — कहीं का कहीं चला गया। उसी समय भगवान शम्भवनाथ के चारित्र मोहनीय के बन्धन ढीले हो गये, जिससे वे ससार के विषय-भोगों से सहसा विरक्त हो गये। वे सोचने लगे — 'संसार की सभी वस्तुएँ इस मेघ-खण्ड की भाँति क्षणभंगुर हैं। एक दिन मेरा यह दिव्य शरीर भी नष्ट हो जायेगा। मैं जिन स्त्री-पुत्रों के मोह में उलझा हुआ आत्म-हित की ओर प्रवृत्त नहीं हो रहा हूँ, वे एक भी मेरे साथ न जावेंगे।' इस तरह भगवान शम्भवनाथ उदासीन हो कर वस्तु का स्वरूप चिन्तवन कर ही रहे थे कि लौकान्तिक देवों ने आ कर उनके चिन्तवन का पूर्ण समर्थन किया। बारह भावनाओं के द्वारा उनकी वैराग्य-धारा को खूब बढ़ा दिया। अपना कार्य समाप्त कर लौकान्तिक देवगण ब्रह्मलोक को वापिस चले गये। इधर भगवान शम्भवनाथ निज-पुत्र को राज्य दे कर वन में जाने के लिए प्रस्तुत हो गये। देवगण एवं देवेन्द्रों ने आ कर उनके 'तपःकल्याणक' का उत्सव मनाया। तदनन्तर वे 'सिद्धार्थ' नाम की पालकी पर सवार हो कर श्रावस्ती के समीपवर्ती सहेतुक वन में गये। वहाँ उन्होंने माता-पिता आदि इष्ट-जनों से सम्मति ले कर मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णिमा के दिन शालवृक्ष के नीचे एक हजार राजाओं के साथ जिन-दीक्षा ले ली। वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये, पञ्च-मुष्ठियों से केश उखाड़ डाले एवं उपवास की प्रतिज्ञा ले कर पूर्व की ओर मुख कर ध्यान धारण कर लिया। उस समय का दृश्य बड़ा ही प्रभावक था। देखनेवाले प्रत्येक प्राणी के हृदय पर वैराग्य की गहरी छाप लग जाती थी। उन्हें दीक्षा के समय ही जो मनःपर्यय ज्ञान हो गया था, वही उनकी आत्म-विशुद्धि को प्रत्यक्ष कराने के लिए प्रबल प्रमाण था।

दूसरे दिन उन्होंने आहार के लिए श्रावस्ती नगरी मे प्रवेश किया। उन्हें देखते ही राजा सुरेन्द्रदत्त ने

पड़गाह कर विधिपूर्वक आहार दिया। इस आहार-दान से प्रभावित होकर देवों ने सुरेन्द्रदत्त के गृह पर पञ्चाश्चर्य प्रकट किये थे। भगवान शम्भवनाथ आहार ले कर ईर्या-समिति से विहार करते हुए पुनः वन को वापिस चले गये एवं जब तक छद्मस्थ रहे, तब तक मौन धारण कर तपस्या करते रहे। यद्यपि वे मौनी हो कर ही उस समय सब स्थान पर विहार करते थे, तथापि उनकी सौम्य मूर्ति देखने मात्र से ही अनेक भव्य-जीव प्रतिबुद्ध हो जाते थे। इस तरह चौदह वर्ष तक तपस्या करने के बाद उन्हें कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के दिन मृगशिर नक्षत्र के उदय काल होने पर सन्ध्या के समय केवलज्ञान प्राप्त हो गया। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी एवं कल्पवासी — इन चारों प्रकार के देवों ने आ कर उनके 'ज्ञान-कल्याणक' का उत्सव किया। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवशरण की रचना की, जिसके मध्य में देव-सिंहासन पर अन्तरीक्ष विराजमान होकर उन्होंने अपनी सुललित दिव्य भाषा में सब को धर्मोपदेश दिया। वस्तु का वास्तविक स्वरूप समझाया, ससार का स्वरूप बतलाया, चारों गतियों के दुःख प्रकट किये एवं उनसे छुटकारा पाने के उपाय बतलाए। उनके उपदेश से प्रभावित होकर असंख्य नर-नारियों ने व्रत अनुष्ठान धारण किये थे। क्रम-क्रम से उन्होंने समस्त आर्य क्षेत्रों में विहार कर सार्वभौम-धर्म जैन-धर्म का प्रचार किया था।

उनके समवशरण में चारुषेण आदि एक सौ पाँच गणधर थे, दो हजार एक सौ पचास द्वादशांग के वेत्ता थे, एक लाख उन्तीस हजार तीन सौ शिक्षक थे, नौ हजार छह सौ अवधिज्ञानी थे, पन्द्रह हजार केवली थे, बारह हजार एक सौ पचास मनःपर्यय ज्ञानी थे, उन्नीस हजार आठ सौ विक्रिया ऋद्धि के धारी थे एवं बारह हजार वादी थे। इन गुणियों से भरा हुआ समवशरण बहुत अधिक भला प्रतीत होता था। धर्मार्या आदि तीन लाख बीस हजार आर्यिकाएँ थीं, तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकाएँ, असंख्य देव-देवियाँ एव असख्यात तिर्यञ्च उनके समवशरण की शोभा बढ़ाते थे। भगवान श्री शम्भवनाथ अपने दिव्य उपदेश से इन समस्त प्राणियों को हित का मार्ग बतलाते थे।

अन्त में जब आयु का एक महीना शेष रह गया, तब वे विहार समाप्त कर सम्मेद-शैल के एक शिखर पर जा विराजमान हुए एवं एक हजार शिष्यों के साथ प्रतिमा-योग धारण कर आत्म-ध्यान में लीन हो गये। अन्त में शुक्ल-ध्यान के प्रताप से शेष बचे हुए चार अघातिया-कर्मों का नाश कर चैत्र शुक्ला षष्ठी के दिन

सायकाल के समय मृगशिर नक्षत्र के उदय काल में सिद्धिसदन मोक्ष को प्राप्त हुए। देवों ने आ कर उनका निर्वाण-महोत्सव मनाया। इनका चिह्न अश्व (घोड़े) का था।
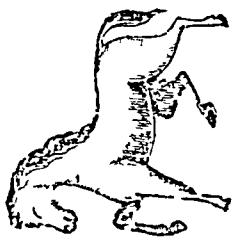
(४) भगवान श्री अभिनन्दननाथजी

गुणाभिनन्दा दभिनन्दनो भवान् दयाबधूं शान्ति सखी मशिश्रियत।
समाधि तन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यै गुणन चायुजत॥

—स्वामी समन्तभद्र

जिनेन्द्र ! सम्यग्दर्शन आदि गुणों का अभिनन्दन करने से 'अभिनन्दन' कहलानेवाले आप ने शान्ति-सखी से युक्त दया-रूपी स्त्री का आश्रय लिया था एव फिर उसकी सत्कृति के लिए ध्यानैकमान होते हुए आप द्विविध अन्तरङ्ग रूप निष्परिग्रहता से युक्त हुए थे।

पूर्व-भव परिचय

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर एक मगलावती नामक देश है। उसमें रत्नसञ्चय नाम का एक महा मनोहर नगर है। उसमें किसी समय महाबल नाम का राजा राज्य करता था। वह बहुत अधिक सम्पतिशाली था। उसके राज्य में सब प्रजा सुखी थी, चारों वर्णों के मनुष्य अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। राजा महाबल प्रकृत 'महाबल' ही था। उसने अपने बाहुबल से समस्त विरोधी राजाओं के दाँत खट्टे कर दिये थे। वह सन्धि, विग्रह, यान, सस्थान, आसन एवं द्वैधीभाव—इन

छह गुणों से विभूषित था। उसके साम, दाम, दण्ड एवं भेद — ये चार उपाय कभी निष्फल नहीं होते थे। वह उत्साह, मन्त्र एवं प्रभाव — इन तीन शक्तियों से युक्त था, जिससे वह हरएक सिद्धियों का पात्र बना हुआ था। कहने का मतलब यह है कि उस समय वहाँ राजा महाबल की बराबरी करनेवाला कोई दूसरा राजा नहीं था। अपनी कान्ति से देवांगनाओं को भी पराजित करनेवाली नारियों एव देवियों के साथ तरह-तरह के सुख भोगते हुए राजा महाबल का अधिकांश समय व्यतीत हो गया।

एक दिन किसी विशेष कारण से उसका चित्त विषय-वासनाओं से विरक्त हो गया, जिससे वह अपने पुत्र धनपाल को राज्य दे कर गुरु विमलवाहन के पास दीक्षित हो गया। अब मुनिराज महाबल के पास रञ्च मात्र भी परिग्रह नहीं रहा था। वे सरदी, गर्मी, वर्षा, क्षुधा आदि के दुःख समता भावों से सहने लगे। ससार एव शरीर के स्वरूप का चिन्तवन कर निरन्तर संवेग एव वैराग्य-गुण की वृद्धि करने लगे। आचार्य विमलवाहन के साथ रह कर उन्होंने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया एवं दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का विशुद्ध हृदय से चिन्तवन किया, जिससे उन्हें 'तीर्थङ्कर' नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में वे समाधिपूर्वक शरीर छोड़ कर विजय नाम के पहिले अनुत्तर में महा-ऋद्धिधारी अहमिन्द्र हुए। वहाँ उनकी तैंतीस सागर प्रमाण आयु थी, एक हाथ बराबर श्वेत देह थी, वे तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेते थे एव तैंतीस पक्ष में एक बार श्वासोछ्वास लेते थे। वहाँ वे इच्छा मात्र से प्राप्त हुए उत्तम द्रव्यों से जिनेन्द्रदेव की अर्चना करते थे एवं स्वेच्छा से मिले हुए देव मित्रों के साथ तत्व-चर्चा कर के मन बहलाते थे। यही अहमिन्द्र आगे चल कर भगवान अभिनन्दननाथ होंगे।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अयोध्या नाम की नगरी है, जो विश्वबन्धु तीर्थङ्करों के जन्म के कारण महापवित्र है। जिस समय की यह कथा है, उस समय वहाँ स्वयम्बर राजा राज्य करते थे; उनकी महारानी का नाम सिद्धार्था था। स्वयम्बर महाराज वीरलक्ष्मी के स्वयम्बर पति थे। वे बहुत अधिक विद्वान एवं पराक्रमी राजा थे। कठिन से कठिन कार्यों को वे अपने बुद्धिबल से अनायास ही कर डालते थे, जिससे देखनेवालों को दाँतों

तले अँगुली दबानी पड़ती थी। राज-दम्पति तरह-तरह के सुख भोगते हुए दिन बिताते थे।

ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर आये हैं , उसको आयु जब विजय विमान में छह माह की शेष रह गई, तब से राजा स्वयम्बर के महल के आँगन में प्रतिदिन रत्नों की वर्षा होने लगी। साथ में अन्य भी अनेक शुभ शकुन हुए , जिन्हें देख कर भावी शुभ की प्रतीक्षा करते हुए राज-दम्पति बहुत अधिक हर्षित होते थे। इसके अनन्तर महारानी सिद्धार्था ने वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन पुनर्वसु नामक नक्षत्र में रात्रि के पिछले प्रहर में सुर, कुञ्जर आदि सोलह स्वप्न देखे एव अन्त में अपने मुख में एक श्वेत वर्णवाले हाथी को प्रवेश करते हुए देखा। प्रातः होने पर महाराज स्वयम्बर ने रानी के पूछने पर उसके स्वप्नों का फल यों कहा — 'प्रिये आज तुम्हारे गर्भ में स्वर्ग से चय कर किसी पुण्यात्मा ने अवतार लिया है , जो नौ माह बाद तुम्हारे 'तीर्थङ्कर पुत्र-रत्न' होगा; जिसके बल, विद्या, वैभव आदि के सामने देव-देवेन्द्र भी अपने को तुच्छ मानेंगे। पति के मुख से भावी पुत्र का माहात्म्य सुन कर सिद्धार्था के हर्ष का पारावार नहीं रहा । उस समय उसने अपने-आप को समस्त स्त्रियों में श्रेष्ठ समझा। गर्भ में स्थित तीर्थङ्कर बालक के पुण्य प्रताप से देव-कुमारियाँ आ-आ कर महारानी की शुश्रूषा करने लगीं एव चतुर्निकाय के देवों ने आ कर उनका देवोपम वस्त्राभूषणों से खूब सत्कार किया , खूब उत्सव मनाया , खूब भक्ति प्रदर्शित की। धीरे-धीरे जब गर्भ के दिन पूर्ण हो गये , तब रानी सिद्धार्था ने माघ शुक्ला द्वादशी के दिन आदित्य योग एव पुनर्वसु नक्षत्र में उत्तम पुत्र प्रसव किया। देवों ने नवजात जिनेन्द्र-बालक को मेरु पर्वत पर ले जा कर रमणीय सलिल से उनका अभिषेक किया। इन्द्राणी ने तरह-तरह के आभूषण पहिनाये। फिर मेरु पर्वत से वापिस आ कर अयोध्यापुरी में अनेक उत्सव मनाये। राजा स्वयम्बर ने याचकों को मनचाहा दान दिया। उन्होंने राज-बन्धुओं की सलाह से बालक का 'अभिनन्दन' नाम रक्खा। बालक अभिनन्दन अपनी बाल चेष्टाओं से सब के मन को आनन्दित करता था; इसलिये उनका अभिनन्दन नाम सार्थक ही था। जन्म-कल्याणक का महोत्सव मना कर इन्द्र आदि अपने-अपने स्थानों को वापिस चले गये। पर इन्द्र की आज्ञा से बहुत से देव कुमार बालक अभिनन्दन के मनोविनोद के लिए वहीं पर रह गये। भगवान शम्भवनाथ के बाद दश लाख करोड़ सागर बीत चुकने पर भगवान अभिनन्दननाथ हुए थे। आयु पचास लाख पूर्व की थी, शरीर की ऊँचाई तीन सौ पचास धनुष की थी एव सुवर्ण की तरह पीला

वर्ण था। उनके शरीर से सूर्य के समान तेज निकलता था। वे मुतिधा

वर्ण था। उनके शरीर से सूर्य के समान तेज निकलता था। वे मूर्तिधारी पुण्य के प्रतीक थे।

जब इनकी आयु के साढ़े बारह लाख पूर्व बीत गये, तब महाराज स्वयम्बर ने इन्हें राज्य दे कर दीक्षा धारण कर ली। अभिनन्दन स्वामी ने भी राज्य सिंहासन पर विराजमान होकर साढ़े छत्तीस लाख पूर्व तथा आठ पूर्वाङ्ग तक राज्य किया।

एक दिन वे महल की छत पर बैठ कर आकाश की शोभा देख रहे थे। देखते-देखते अकस्मात् उनकी दृष्टि एक बादलों के समूह पर पड़ी। उस समय वह बादलों का समूह आकाश के मध्य भाग में स्थित था। उसका आकार किसी मनोहर नगर के समान था। भगवान अनिमेष दृष्टि से उसके सौन्दर्य को देख रहे थे। पर कुछ ही क्षण में वायु के प्रबल झोंके से वह बादलों का समूह नष्ट हो गया — कहीं का कहीं चला गया। बस, इसी घटना से उन्हें आत्मज्ञान प्रकट हो गया, जिससे उन्होंने राज्य-कार्य से मोह छोड़ कर दीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने भी आ कर उनके निश्चय का समर्थन किया, चतुर निकायों के देवों ने आ कर दीक्षा-कल्याणक का उत्सव किया। अभिनन्दन स्वामी राज्य का भार पुत्र को सौंप कर देव-निर्मित हस्तचित्रा पालकी पर सवार हुए। देव उस पालकी को उठा कर उग्र नामक उद्यान में ले गये। वहाँ उन्होंने माघ शुक्ला द्वादशी के दिन पुनर्वसु नक्षत्र के उदय काल में संध्या के समय जगद्वन्द्य सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार कर दीक्षा धारण कर ली — बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह सब त्याग दिये एवं केश उखाड़ कर फेंक दिये। उनके साथ में अन्य भी हजारों राजाओं ने दीक्षा ग्रहण की थी। उन सब से घिरे हुए भगवान अभिनन्दन अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे। उन्होंने दीक्षा लेते समय बेला अर्थात् दो दिन का उपवास धारण किया था।

जब तीसरा दिन आया, तब वे मध्याह्न से कुछ पहिले आहार के लिए अयोध्यापुरी में गये। उस समय वे आगे की चार हाथ जमीन देख कर चल रहे थे, किसी से कुछ कहते नहीं थे, उनकी आकृति सौम्य थी, दर्शनीय थी। वे उस समय ऐसे प्रतीत होते थे, मानो 'चचाल चित्र किलकाञ्चनाद्रि' मेरु पर्वत ही चल रहा हो। महाराज इन्द्रदत्त ने उन्हें पड़गाह कर विधिपूर्वक भोजन दिया, जिससे उनके गृह पर देवों ने पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। वहाँ से लौट कर अभिनन्दन स्वामी वन में जा विराजे एवं कठिन तपस्या करने लगे। इस

तरह अठारह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रह कर उन्होंने विहार किया।

एक दिन बेला उपवास का व्रत धारण कर वे शाल वृक्ष के नीचे विराजमान थे। उसी समय उन्होंने शुक्ल-ध्यान के अवलम्बन से क्षपक श्रेणी में पहुँच कर क्रम-क्रम से आगे बढ़ कर दशवें गुणस्थान के अन्त में मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर दिया; फिर बढ़ती हुई विशुद्धि से वे बारहवें गुणस्थान में जा पहुँचे। वहाँ अन्तर्मुहूर्त ठहर कर शुक्ल-ध्यान के प्रताप से अवशिष्ट तीन घातिया कर्मों का नाश किया, जिससे उन्हें पौष शुक्ला चतुर्दशी की सन्ध्या को पुनर्वसु नक्षत्र में अनन्त चतुष्टय — अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख एव वीर्य-प्राप्त हो गये। उस समय सब इन्द्रों ने आ कर उनकी पूजा की, ज्ञान-कल्याणक का उत्सव किया। धनपति ने समवशरण की रचना की, जिसके मध्य में सिंहासन पर अधर विराजमान होकर पूर्णज्ञानी भगवान अभिनन्दननाथ ने दिव्य-ध्वनि के द्वारा सब को हित का उपदेश दिया। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा एव मोक्ष — इन सात तत्वों का विशद व्याख्यान किया। ससार के दुःखों का वर्णन कर उससे मुक्ति के उपाय बतलाये। उनके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक प्राणी धर्म मे दीक्षित हो गये। वे जो कुछ कहते थे, वह विशुद्ध हृदय से कहते थे, इसलिये लोगो के हृदयों पर उनका अच्छा प्रभाव पड़ता था। आर्यक्षेत्र में स्थान-स्थान विहार कर उन्होंने जैन-धर्म का प्रचार किया एव ससार-सिन्धु में पड़े हुए प्राणियों को हस्तावलम्बन दे कर उससे तरने में सहायता प्रदान की।

उनके समवशरण में बज्रनाभि आदि को ले कर एक सौ तीन गणधर थे, दो हजार पाँच सौ द्वादशांग के पाठी थे, दो लाख तीस हजार पचास शिक्षक थे, नौ हजार आठ सौ अवधिज्ञानी थे, सोलह हजार केवलज्ञानी थे, ग्यारह हजार छह सौ मनःपर्यय ज्ञान के धारक थे, उन्तीस हजार विक्रिया ऋद्धि के धारण करनेवाले थे एव ग्यारह हजार वाद-विवाद करनेवाले थे; इस तरह सब मिला कर तीन लाख मुनिराज थे। इनके अतिरिक्त मेरुषेणा आदि को ले कर तीन लाख तीस हजार छह सौ आर्यिकाएँ थीं, तीन लाख श्रावक थे, पाँच लाख श्राविकाएँ थीं। असख्यात देव-देवियाँ थीं एव असख्यात तिर्यञ्च भी थे।

अनेक स्थान विहार करने के बाद वे आयु के अन्तिम समय में श्री सम्मेदशिखर पर जा पहुँचे। वहाँ प्रतिमायोग धारण कर अचल होकर बैठ गये। उस समय उनकी दिव्य-ध्वनि आदि बाह्य वैभव लुप्त हो गये थे।

वे हर प्रकार से आत्म-ध्यान में लीन हो गये थे। धीरे-धीरे उन्होंने योगों की प्रवृत्ति को भी रोक लिया था, जिससे उनके नवीन कर्मों का आस्रव बिलकुल बन्द हो गया एवं शुक्ल-ध्यान के प्रताप से सत्ता में स्थित अघातिया चतुष्क की पचासी प्रकृतियाँ धीरे-धीरे नष्ट हो गईं। इसस [illegible]

वे हर प्रकार से आत्म-ध्यान में लीन हो गये थे। धीरे-धीरे उन्होंने योगों की प्रवृत्ति को भी रोक लिया था, जिससे उनके नवीन कर्मों का आस्रव बिलकुल बन्द हो गया एवं शुक्ल-ध्यान के प्रताप से सत्ता में स्थित अघातिया चतुष्क की पचासी प्रकृतियाँ धीरे-धीरे नष्ट हो गईं। इससे वे वैसाख शुक्ला षष्ठी के दिन पुनर्वसु नक्षत्र में प्रातःकाल के समय मुक्ति-मन्दिर में जा पधारे। देवों ने आ कर उनके निर्वाण-कल्याणक का महोत्सव किया।

आचार्य गुणभद्र लिखते हैं कि जो पहिले विदेहक्षेत्र के रत्नसञ्चय नगर में महाबल नाम के राजा हुए, फिर विजय अनुत्तर में अहमिन्द्र हुए एव अन्त में साकेतपति अभिनन्दन नामक राजा हुए, वे अभिनन्दन स्वामी तुम सब की रक्षा करें। तीर्थङ्कर अभिनन्दननाथ के बन्दर का चिह्न था।

(५) भगवान श्री सुमतिनाथजी

रिपुनृप यम दण्डः पुण्डरीकिण्यधीशोहरिरिव रतिषेणो वैजयन्तेऽहमिन्द्रः।
सुमति रमित लक्ष्मीस्तीर्थकृद्यः कृतार्थः सकलगुणसमृद्धो वः संसिद्धिं विदध्यात्॥

—आचार्य गुणभद्र

जो शत्रुरूप राजाओं के लिए यमराज के दण्ड के समान अथवा हरि (इन्द्र) के समान पुण्डरीकिणी नगरी के राजा रतिषेण हुए, फिर वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र हुए, वे अपार लक्ष्मी के धारक, कृतकृत्य, सब गुणों से सम्पन्न भगवान सुमतिनाथ तीर्थङ्कर तुम सब को सिद्धि प्रदान करें — तुम्हारे मनोरथ पूर्ण करें।

पूर्व-भव परिचय

दूसरे धातकीखण्ड द्वीप में पूर्वमेरु से पूर्व की ओर विदेहक्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नामक देश है। उसमें पुण्डरीकिणी नगरी है, जो अपनी शोभा से पुरन्दरपुरी अमरावती को भी लज्जित करता है। किसी समय उसमें रतिषेण नामक राजा राज्य करते थे। महाराज रतिषेण ने अपने अतुल काय-बल से जिस तरह बड़े-बड़े शत्रुओं को जीत लिया था, उसी तरह अनुपम मनोबल से काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य्य एवं मोह — इन छह अन्तरङ्ग शत्रुओं को भी जीत लिया था। वे बड़े ही यशस्वी थे, दयालु थे, धर्मात्मा थे एव थे सच्चे नीतिज्ञ। अनेक प्रकार के विषय भोगते हुए जब उनकी आयु का बहु भाग व्यतीत हो गया, तब उन्हें एक दिन किसी कारणवश ससार से उदासीनता उत्पन्न हो गई। ज्यों ही उन्होंने विवेक-रूपी नेत्र से अपनी ओर देखा, त्यों ही उन्हें अपने बीते हुए जीवन पर बहुत अधिक सन्ताप हुआ। वे सोचने लगे — 'हाय, मैं ने अपनी लम्बी आयु इन विषय-सुखों के भोगने में हो बिता दी; पर विषय-सुख भोगने से सुख मिला ही क्या ? इसका कोई उत्तर नहीं है। मैं आज तक भ्रमवश दुःख के कारणों को ही सुख का कारण मानता रहा हूँ। ओह ! कैसा माया-जाल है ?' इत्यादि चिन्तवन कर वे अपने पुत्र अतिरथ को राज्य दे वन में जा कर कठिन तपस्या करने लगे। उन्होंने अर्हनन्दन गुरु के पास रह कर ग्यारह अगों का विधिपूर्वक अध्ययन किया तथा दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का शुद्ध हृदय से चिन्तवन किया, जिससे उन्हें 'तीर्थङ्कर' नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। मुनिराज रतिषेण आयु के अन्त में सन्यास-पूर्वक मर कर वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र हुए। वहाँ उनकी आयु तैंतीस सागर वर्ष की थी, शरीर एक हाथ ऊँचा एव रङ्ग उज्ज्वल श्वेत था। वे तैंतीस हजार वर्ष बाद एक बार मानसिक आहार लेते थे एव तैंतीस पक्ष में सुरभित श्वास लेते थे। इस तरह वहाँ जिन-अर्चा एवं तत्व-चर्चाओं से अहमिन्द्र रतिषेण के दिन सुख से बीतने लगे। यही अहमिन्द्र आगे के भव में कथानायक भगवान सुमतिनाथ होंगे। अब कुछ वहाँ का वर्णन ध्यानपूर्वक सुनिये, जहाँ आगे चल कर उक्त अहमिन्द्र जन्म धारण करेंगे।

वर्तमान परिचय

पाठकगण जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र की जिस अयोध्या से पर्ि है

९८

वर्तमान परिचय

पाठकगण जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र की जिस अयोध्या से परिचित होते आ रहे हैं, उसी में किसी समय मेघरथ नाम के राजा राज्य करते थे; उनकी महारानी का नाम मङ्गला था। मङ्गला सचमुच मङ्गला ही थी। महाराज मेघरथ के सर्व मङ्गल मङ्गला के ही आधीन थे। ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर आये हैं, उसकी वहाँ की आयु जब छह माह की शेष रह गई थी, तभी से महाराज मेघरथ के महल पर देवों ने रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी थी। श्रावण शुक्ला द्वितीया के दिन मघा नक्षत्र में मङ्गला देवी ने शेष प्रहर में ऐरावत आदि सोलह स्वप्न देखे एवं फिर अपने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। प्रातः होते ही उसने प्राणनाथ से स्वप्नों का फल पूछा। तब उन्होंने अवधिज्ञान से जान कर कहा—'आज तुम्हारे गर्भ में तीर्थङ्कर बालक ने अवतार लिया है— सोलह स्वप्न उसी की विभूति के परिचायक हैं।' पति के मुख से स्वप्नों का फल सुन कर एवं भावी पुत्र के सुविशाल वैभव की कल्पना कर के वह बहुत अधिक सुखी हुई। उसी दिन देवों ने आ कर राजा-रानी का खूब यश गाया, खूब उत्सव मनाये। इन्द्र की आज्ञा से सुर-कुमारियाँ महादेवी मङ्गला की अनेक प्रकार से शुश्रुषा करती थीं एव प्रमोदमय वचनों से उनका मन बहलाये रहती थीं।

नौ महीने बाद चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में महारानी ने श्रेष्ठ पुत्र-रत्न को जन्म दिया। पुत्र उत्पन्न होते ही तीनों लोकों में आनन्द छा गया। सब के हृदय आनन्द से उल्लसित हो उठे, कुछ क्षण के लिए नारकी भी मार-काट का दुःख भूल गये, भवनवासी देवों के भवनों में अपने-आप शङ्ख बज उठे, व्यन्तरों के मन्दिरों में भेरी की आवाज गूँजने लगी, ज्योतिषियों के विमानों में सिंहनाद हुआ तथा कल्पवासी देवों के विमानों में घण्टे की ध्वनि फैल गई। मनुष्य-लोक में भी दसों दिशाएँ निर्मल हो गईं, आकाश निर्मेघ हो गया, शीतल और सुगन्धित दक्षिणी वायु धीरे-धीरे बहने लगी; नदी तालाब आदि का जल स्वच्छ हो गया।

अथान्तर तीर्थङ्कर के पुण्य से प्रेरित होकर देवगण बालक तीर्थङ्कर को सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ उन्होंने क्षीर-सागर के जल से उनका अभिषेक किया। अभिषेक के बाद इन्द्राणी ने शरीर पोंछ कर उन्हें बालोचित उत्तम-उत्तम आभूषण पहिनाये एवं इन्द्र ने स्तुति की। फिर वे 'जय-जय' घोष से समस्त

आकाश को व्याप्त करते हुए अयोध्या आये एव बालक को उनके माता-पिता को सौप कर उन्होंने बड़े ठाट-बाट से जन्मोत्सव मनाया। उसी समय इन्द्र ने 'आनन्द' नाम का नाटक प्रस्तुत किया।

पुत्र का अनुपम माहात्म्य देख कर माता-पिता फूले न समाते थे। इन्द्र ने महाराज मेघरथ की सम्मति से बालक का नाम 'सुमति' रक्खा। उत्सव समाप्त कर देवगण अपने-अपने महल को चले गये।

बालक सुमतिनाथ द्वितीया के चन्द्रमा की तरह धीरे-धीरे बढ़ता गया। वह बालचन्द्र ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों अपनी कलाओं से माता-पिता के हर्ष-सागर को बढ़ाता जाता था। भगवान सुमतिनाथ, अभिनन्दन स्वामी के बाद नौ लाख करोड़ सागर बीत जाने पर अवतीर्ण हुए थे। उनकी आयु चालीस लाख पूर्व की थी, जी उसी अन्तराल में सयुक्त है। शरीर की ऊँचाई तीन सौ धनुष एव कान्ति तपे हुए स्वर्ण की तरह थी। उनका शरीर बहुत अधिक सुन्दर था — उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग से लावण्य फूट-फूट कर निकल रहा था। धीरे-धीरे जब उनके कुमारकाल के दश लाख पूर्व व्यतीत हो गये, तब महाराज मेघरथ उन्हें राज्य-भार सौंप कर दीक्षित हो गये।

भगवान सुमतिनाथ ने राज्य पा कर उसे इतना व्यवस्थित बनाया था कि उनका कोई भी शत्रु नहीं रहा था। समस्त राजे उनकी आज्ञाओं को मालाओं की तरह मस्तक पर धारण करते थे। उनके राज्य में हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि पाप देखने को भी न मिलते थे। उन्हें निरन्तर प्रजा के हित का ही ध्यान रहता था; इसलिये वे कभी ऐसे नियम नहीं बनाते थे, जिनसे कि प्रजा दुःखी हो। महाराज मेघरथ दीक्षित होने के पहिले ही भगवान सुमतिनाथ का पाणि-ग्रहण (विवाह) योग्य कुलीन कन्याओं के साथ करा गये थे। भगवान सुमतिनाथ उन नारी-देवियों के साथ अनेक सुख भोगते हुए अपना समय व्यतीत करते थे। इस तरह राज्य करते हुए जब उनके उन्नीस लाख पूर्व एव बारह पूर्वाङ्ग बीत चुके, तब एक दिन किसी कारणवश उनका चित्त विषय-वासनाओं से विरक्त हो गया, जिससे उन्हें ससार के भोग नीरस एव दुःखप्रद प्रतीत होने लगे। ज्यो ही उन्होने अपने अतीत-जीवन पर दृष्टि डाली, त्यों ही उनके शरीर के रोम-रोम खड़े हो गये। उन्होंने सोचा — 'हाय, मैं ने एक मूर्ख की तरह इतनी विशाल आयु व्यर्थ ही गँवा दी। दूसरों को हित का मार्ग बताऊँ, उनका भला करूँ' — यह जो मैं बाल्यावस्था में सोचा करता था, वह सब इस यौवन एव राज्य सुख के उन्माद में प्रवाहित हो गया। जैसे सैकड़ों नदियों का पान करने पर भी समुद्र को तृप्ति नहीं होती, वैसे ही इन अगणित विषय-सुखों को भोगते हुए भी प्राणियो को तृप्ति नहीं होती। ये विषयाभिलाषाएँ मनुष्य को आत्म-हित की ओर अग्रसर होने नहीं देतीं। इसलिये ...

के उन्माद में प्रवाहित हो गया। जैसे सैकड़ों नदियों का पान करने पर भी समुद्र को तृप्ति नहीं होती, वैसे ही इन अगणित विषय-सुखों को भोगते हुए भी प्राणियों को तृप्ति नहीं होती। ये विषयाभिलाषाएँ मनुष्य को आत्म-हित की ओर अग्रसर होने नहीं देतीं। इसलिये अब मैं इन विषय-वासनाओं को तिलांजलि दे कर आत्म-हित की ओर प्रवृत्ति करता हूँ।

इधर भगवान सुमतिनाथ विरक्त हृदय से ऐसा चिन्तवन कर रहे थे, इधर आसन काँपने से लौकान्तिक देवों को इनके वैराग्य का ज्ञान हो गया था, जिससे वे शीघ्र ही इनके पास आये एवं अपनी विरक्त वाणी से इनके वैराग्य को बढ़ाने लगे। जब लौकान्तिक देवों ने देखा कि अब इनका हृदय पूर्ण रूप से विरक्त हो चुका है, तब वे अपने-अपने स्थान पर वापिस चले गये एव उनके स्थान पर अन्य असख्य देवगण आ गये। उन्होंने आ कर वैराग्य-महोत्सव मनाना प्रारम्भ कर दिया। पहिले जिन देवियों का सगीत, नृत्य तथा अन्य चेष्टाएँ राग बढ़ानेवाली होती थीं, आज उन्हीं देवियों की समस्त चेष्टाएँ वैराग्य बढ़ा रही थीं।

भगवान सुमतिनाथ अपने पुत्र को राज्य दे कर देव-निर्मित 'अभया' पालकी पर बैठ गये। देवगण 'अभया' को अयोध्या के समीपवर्ती सहेतुक नामक वन में ले गये; वहाँ उन्होंने नर-सुरगण की साक्षी में जगद्वन्द्य सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार कर बैसाख शुक्ला नवमी के दिन मध्याह्न के समय मघा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा धारण करते समय ही वे तेला — तीन दिन के उपवास, की प्रतिज्ञा कर चुके थे; इसलिये लगातार तीन दिन तक ध्यानमग्न होकर एक आसन से बैठे रहे। ध्यान के प्रताप से उनकी विशुद्धता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी; इसलिये उन्हें दीक्षा लेने के बाद ही चौथा मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। जब तीन दिन समाप्त हुए, तब वे मध्याह्न में आहार के लिए सौमनस नगर में गये। वहाँ उन्हें 'द्युम्नद्युति' नामक राजा ने पड़गाह कर समयानुकूल योग्य आहार दिया। पात्र-दान के प्रभाव से राजा द्युम्नद्युति के महल पर देवों ने पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। भगवान सुमतिनाथ आहार ले कर वन को वापिस लौट आये एव फिर आत्म-ध्यान में लीन हो गये।

इस तरह थोड़े-थोड़े दिनों के अन्तराल से आहार ले कर कठिन तपश्चर्या कर करते हुए जब बीस वर्ष बीत गये, तब उन्हें प्रियंगु वृक्ष के नीचे, शुक्ल-ध्यान के प्रताप से घातिया कर्मों का नाश हो जाने पर चैत्र सुदी

एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में सायंकाल के समय लोक-अलोक को प्रकाशित करनेवाला 'केवलज्ञान' प्राप्त हुआ। देव, देवेन्द्रों ने आ कर भगवान सुमतिनाथ के ज्ञान-कल्याणक का उत्सव मनाया। अलकाधिपति कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा पाते ही समवशरण की रचना की। उसके मध्य में सिंहासन पर अचल रूप से अन्तरिक्ष विराजमान होकर तीर्थङ्कर सुमतिनाथ ने दिव्य-ध्वनि के द्वारा उपस्थित जनसमूह को धर्म-अधर्म का स्वरूप बतलाया। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एव काल — इन छह द्रव्यों के स्वरूप का व्याख्यान किया। भगवान सुमतिनाथ के मुखारविन्द से वस्तु का स्वरूप समझ कर वहाँ बैठी हुई जनता के मन उसी प्रकार हर्षित हो रहे थे, जिस प्रकार सूर्य की किरणों के स्पर्श से कमल हर्षित हो जाते। व्याख्यान समाप्त होते ही इन्द्र ने मधुर शब्दों में उनकी स्तुति की एव आर्यक्षेत्रों में विहार करने की प्रार्थना की। उन्होंने आवश्यकतानुसार आर्य क्षेत्रों में विहार कर समीचीन-धर्म का खूब प्रचार किया।

भगवान सुमतिनाथ का विहार उनकी इच्छापूर्वक नहीं होता था, क्योंकि मोहनीय-कर्म का अभाव होने से उनकी हर एक प्रकार की इच्छाओं का अभाव हो गया था। जिस दिशा में भव्य जीवों के विशेष पुण्य का उदय काल होता था, उसी दिशा में मेघों की भाँति उनका स्वाभाविक विहार हो जाता था। उनके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक नर-नारी जिन-धर्मानुसार दीक्षित हो जाते थे।

आचार्य गुणभद्रजी ने लिखा है कि उनके समवशरण में अमर आदि एक सौ सोलह गणधर थे, दो लाख चौवन हजार तीन सौ पचास शिक्षक थे, ग्यारह हजार अवधिज्ञानी थे, तेरह हजार केवलज्ञानी थे, दश हजार चार सौ मनःपर्यय ज्ञानी थे, अठारह हजार चार सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक थे एव दश हजार चार सौ पचास वादी थे। इस तरह सब मिला कर तीन लाख बीस हजार मुनि थे। अनन्तमती आदि तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ थीं, तीन लाख श्रावक थे एव पाँच लाख श्राविकाएँ थीं। इनके अतिरिक्त असंख्यात देव-देवियाँ एव असख्यात तिर्यञ्च थे।

जब उनकी आयु एक माह की शेष रह गई, तब वे श्री सम्मेद शैल पर आये एव वहीं योग-निरोध कर विराजमान हो गये। वहाँ उन्होंने शुक्ल-ध्यान के द्वारा अघातिया चतुष्टय का क्षय कर चैत्र सुदी एकादशी के दिन मघा नक्षत्र मे सन्ध्या समय मुक्ति-मन्दिर में प्रवेश किया। देवों ने सिद्धक्षेत्र श्री सम्मेद-शिखर पर आ कर उनकी पूजा की एव मोक्ष-कल्याणक का उत्सव किया। भगवान श्री सुमतिनाथ का चिह्न चकवा था।

शिखर पर आ कर उनकी पूजा की एव मोक्ष-कल्याणक का उत्सव किया। भगवान श्री सुमतिनाथ का चिह्न चकवा था।

(६) भगवान श्री पद्मप्रभजी

किं सेव्यं क्रम युग्म मब्जविजया दस्यैव लक्ष्म्यास्पदं
किं श्रव्यं सकल प्रतीति जनना दस्यैव सत्यं वचः।
किं ध्येयं गुणसंतित श्च्युत मलस्यास्यैव काष्ठाश्रया
दित्युक्त स्तुति गोचरः स भगवान्पद्मप्रभः पातु वः॥

—आचार्य गुणभद्र

सेवा किसकी करनी चाहिये ? कमल को जीतनेवाले लक्ष्मी के स्थानभूत भगवान पद्मप्रभ के चरण-युगल की। सुनना क्या चाहिये ? सब को विश्वास उत्पन्न करानेवाले इन्हीं भगवान पद्मप्रभ के सत्य वचन। ध्यान किसका करना चाहिये ? अन्तरहित होने के कारण, निर्दोष नहीं महाराज पद्मप्रभ गुण समूह का। इस प्रकार की स्तुति के विषयभूत भगवान पद्मप्रभ तुम सब की रक्षा करें।

पूर्व-भव परिचय

दूसरे धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में सीता नदी के दाहिनी किनारे पर एक वत्स नाम का देश था। उसके सुसीमा नगर में किसी समय अपराजित नाम का राजा राज्य करता था। वास्तव में राजा का जैसा नाम था, वैसा ही उसका बल था। वह कभी शत्रुओं से पराजित नहीं हुआ था। उसकी भुजाओं में अप्रतिम

बल था, जिससे उसके सामने रणक्षेत्र में कोई खड़ा भी न हो पाता था। उसके पास जो विशाल सेना थी, वह केवल प्रदर्शन के लिए ही थी; क्योंकि शत्रु लोग उसके अदम्य प्रताप के कारण दूर से ही भाग जाते थे। वह हमेशा अपनी प्रजा की भलाई में सलग्न रहता था। राजा अपराजित ने दान दे-दे कर दरिद्रों को धनी बना दिया था। उसकी स्त्रियाँ अपने अनुपम रूप-सौन्दर्य से सुर-सुन्दरियों को भी पराजित करनेवाली थीं। उन सब के साथ सासारिक सुख भोगता हुआ वह दीर्घकाल तक पृथ्वी का पालन करता रहा।

एक दिन किसी कारण से उसका चित्त विषय-वासनाओं से विरक्त हो गया था; इसलिये वह अपने पुत्र सुमित्र को राज्य दे कर वन में जा कर विहितास्रव आचार्य के पास दीक्षित हो गया। उसने आचार्य के पास रह कर खूब अध्ययन किया एव कठिन तपस्याओं से अपनी आत्मा को बहुत अधिक निर्मल बना लिया। उन्हीं के पास रहते हुए उसने दर्शन-विशुद्धि, विनय-सम्पन्नता आदि सोलह भावनाओं का चिन्तवन कर 'तीर्थङ्कर' नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध कर लिया था। जब उसकी आयु समाप्त होने को आई, तब वह समस्त बाह्य पदार्थों से मोह हटा कर शुद्ध आत्मा के ध्यान में लीन हो गया; जिससे मर कर वह नवमें ग्रैवेयक के 'प्रीतिकर' विमान में ऋद्धिधारी अहमिंद्र हुआ। वहाँ पर उसकी आयु इकतीस सागर की थी, शरीर दो हाथ ऊँचा था, लेश्या (शरीर का रङ्ग) श्वेत वर्ण था। वह इकतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता था एवं इकतीस पक्ष में वह एक बार सुगन्धित श्वास ग्रहण करता था। उसे जन्म से ही अवधिज्ञान प्राप्त था, जिससे ऊपर में वह विमान के ध्वजा-दण्ड तक एव नीचे सातवें नरक तक की बात स्पष्ट जान लेता था। वह प्रवीचार (मैथुन क्रिया) से रहित था। वह वहाँ निरन्तर जिन-अर्चा एव तत्व-चर्चा आदि में ही समय बिताया करता था। यही अहमिन्द्र ग्रैवेयक के सुख भोग कर भरतक्षेत्र में भगवान पद्मप्रभ नाम का तीर्थङ्कर होगा। ग्रैवेयक से चय कर वह जहाँ उत्पन्न होगा, अब वहाँ का हाल ध्यानपूर्वक सुनिये।

वर्तमान परिचय

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की कौशाम्बी नगरी में बहुत समय से इक्ष्वाकुवशीय राजाओं का राज्य चला आ रहा था। कालक्रम से उस समय वहाँ धरण राजा राज्य करते थे। उनकी स्त्री का नाम सुसीमा था। सुसीमा सब गुणों की खानि थी। उसमें सभी गुण प्रकर्षता को प्राप्त थे।

जब उक्त अहमिन्द्र की आयु वहाँ पर केवल छह माह की शेष रह गई, तभी से महा

प्रतिदिन आकाश से करोड़ों रत्न ब

श्री चौबीसी

ब्राह्मण आदि वर्ण अपने-अपने उसका पालन करने लगे। उनके राज्य में प्रजा को ईति-भीति का भय नहीं था। कार्यों में सलग्न रहते थे, इसलिये उस समय लोगों में परस्पर सघर्ष नहीं होता था। उन्होंने अपने गुणों से प्रजाजनों को इतना सन्तुष्ट कर दिया था कि जिससे वे धीरे-धीरे महाराज धरण को भी भूल गए थे। सुन्दरी सुशीला कन्याओं के साथ उनका विवाह हुआ। उनके साथ मनोरम स्थानों में तरह-तरह की क्रीड़ाएँ करते हुए वे यौवन के उपभोग्य समय को आनन्द से बिताते थे। वे धर्म, अर्थ एव काम का समान रूप से ही पालन करते थे। इस प्रकार इन्द्र की तरह विशाल राज्य का उपभोग करते हुए जब उनकी आयु का बहु-भाग व्यतीत हो गया एव सोलह पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व की आयु शेष रह गई, तब वे एक दिन द्वार पर बँधे हुए हाथी के पूर्व भव सुन प्रतिबुद्ध हो गये। उसी समय उन्हें अपने पूर्व भवों का ज्ञान हो आया, जिससे उनके अन्तरग-नेत्र खुल गये। उन्होंने सोचा कि मैं जिन पदार्थों को अपना समझ उनमें अनुराग कर रहा हूँ, वे किसी भी तरह मेरे नहीं हो सकते, क्योंकि मैं सचेतन जीव-द्रव्य हूँ एव ये पर-पदार्थ अचेतन (जड़) पुद्गल-रूप हैं। एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य-रूप-परिणमन त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। खेद है कि मैं ने इतनी विशाल आयु इन्हीं भोग-विलासों में बिता दी, आत्म-कल्याण की कुछ भी चिन्ता नहीं की। इस प्रकार ससार के ये समस्त प्राणी विषयाभिलाषा-रूप दावानल में झुलस रहे हैं। इनकी इच्छाएँ निरन्तर विषयों की ओर बढ़ रही हैं एव इच्छानुसार विषयों की प्राप्ति नहीं होने से ये व्याकुल होते हैं। ओह! सब चाहते तो सुख हैं; पर दुःख के कारणों का ही सञ्चय करते हैं। अब जैसे भी बने, वैसे स्वय आत्म-हित कर इनको भी हित का मार्ग बतलाना चाहिये। इधर भगवान पद्मप्रभ हृदय में ऐसा चिन्तवन कर रहे थे, उधर लौकान्तिक देवगण आकाश से उतर कर उनके पास आये एव बारह भावनाओं का वर्णन कर तथा अन्य समयोपयोगी सुभाषणों से उनका वैराग्य बढ़ाने लगे। जब भगवान का वैराग्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया, तब लौकान्तिक देव अपना कर्तव्य पूर्ण हुआ समझ कर अपने-अपने स्थानों पर चले गये। इसी समय दूसरे देवों ने आ कर तप-कल्याणक का उत्सव मनाना प्रारम्भ कर दिया।

भगवान पद्मप्रभ पुत्र को राज्य सौप कर देवनिर्मित 'निर्वृति' नामक पालकी पर आरूढ़ होकर मनोहर नाम के वन में गये। वहाँ उन्होंने देव, मनुष्य एव आत्मा की साक्षीपूर्वक कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन सन्ध्या के समय चित्रा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ जिनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। उन्हें दीक्षा के समय ही मनःपर्यय ज्ञान हो गया था। दो दिनों बाद वे आहार लेने के लिए बर्द्धमानपुर नाम के न[illegible] तो वहाँ महाराज सोमदत्त ने पडगाह क[illegible]

सन्ध्या के समय चित्रा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ जिनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। उन्हें दीक्षा के समय ही मनःपर्यय ज्ञान हो गया था। दो दिनों बाद वे आहार लेने के लिए बर्द्धमानपुर नाम के नगर में गये, तो वहाँ महाराज सोमदत्त ने पड़गाह कर उन्हें भक्तिपूर्वक आहार दिया। पात्र-दान के प्रभाव से देवों ने महाराज सोमदत्त के महल पर पञ्चाश्चर्य प्रकट किये थे। ठीक ही है—'जो पात्र-दान स्वर्ग-मोक्ष का कारण है, उससे पञ्चाश्चर्यों के प्रकट होने में क्या आश्चर्य है ?'

भगवान पद्मप्रभ आहार ले कर पुनः वन में लौट आये एवं आत्मध्यान में लीन हो गये। इस तरह एक दिन, दो दिन तथा चार दिन के अन्तर से भोजन ले कर तपस्या करते हुए उन्होंने छद्मस्थ अवस्था के छः माह मौनपूर्वक बिताये। फिर क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर शुक्ल-ध्यान से घातिया कर्मों का नाश किया, जिससे उन्हें चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन दोपहर के समय चित्रा नक्षत्र में 'केवलज्ञान' प्राप्त हुआ। देव-देवेन्द्रों ने आ कर ज्ञान-कल्याणक का उत्सव मनाया। कुबेर ने पूर्व की तरह समवशरण (धर्म-सभा) की रचना की। उसके मध्य में विराजमान होकर भगवान पद्मप्रभ ने अपने दिव्य उपदेश से सब को सन्तुष्ट किया। जब वे बोलते थे, तब ऐसा प्रतीत होता था, मानो कानों में अमृत की वर्षा हो रही है। जीव-अजीव आदि तत्वों का वर्णन करते हुए जब उन्होंने संसार के दुःखों का वर्णन किया, तब श्रोता रोमांचित हो गये थे। उस समय कितने ही मनुष्य गृह-परित्याग कर मुनि हो गये एवं कितने ही श्रावकों के व्रतों में दीक्षित हुए।

इन्द्र की प्रार्थना सुन कर उन्होंने प्रायः समस्त आर्य-क्षेत्रों में विहार किया, जिससे सब स्थान पर जैन-धर्म का प्रचार खूब बढ़ गया था। वे जहाँ भी जाते थे, वहीं पर अनेक मनुष्य दीक्षित होकर उनके संघ में मिलते जाते थे; इसलिये अन्त में उनके समवशरण में धर्मात्माओं की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई थी। आचार्य गुणभद्र ने लिखा है कि उनके समवशरण में बज्र, चामर आदि एक सौ दश गणधर थे, दो हजार तीन सौ द्वादशांग के वेत्ता थे, दो लाख उनहत्तर हजार शिक्षित उपाध्याय थे, दश हजार अवधिज्ञानी थे, बारह हजार केवलज्ञानी थे, दश हजार तीन सौ मनःपर्यय ज्ञानी थे, सोलह हजार आठ सौ विक्रिया ऋद्धि के धारी थे एवं नौ हजार छः सौ उत्तरवादी थे। इस तरह सब मिला कर तीन लाख तीस हजार मुनिराज थे। रतिषेणा आदि को ले कर चार लाख बीस हजार आर्यिकायें थीं, तीन लाख श्रावक थे, पाँच लाख श्राविकायें थीं,

असंख्य देव-देवियाँ एवं असख्यात तिर्यञ्च थे।

भगवान पद्मप्रभ अन्त में श्री सम्मेदशिखर पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण किया एव समस्त योगों की प्रवृत्ति को रोक कर शुद्ध आत्मा के स्वरूप का ध्यान किया। उस समय दिव्य-ध्वनि, विहार आदि बाह्य वैभव लुप्त हो गये। इस तरह एक महीने तक प्रतिमायोग धारण करने के बाद वे फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी के दिन चित्रा नक्षत्र में सन्ध्या समय शुक्ल-ध्यान के प्रताप से अघातिया-कर्मों का क्षय कर मोक्ष-स्थान को प्राप्त हुए। देवों ने आ कर उनके निर्वाण-स्थान की पूजा की। भगवान पद्मप्रभ के कमल का चिह्न था।
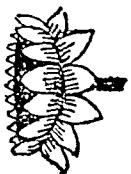
(७) भगवान श्री सुपार्श्वनाथजी

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिक मेषपुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा।
तृषोऽनुषंगान्नच ताप शान्ति रितीदमाख्यद भगवान सुपार्श्वः॥

—स्वामी समन्तभद्र

आत्मा का स्वास्थ्य वही है, जिसका फिर अन्त न हो, विनाश न हो। पचेन्द्रियों का भोग आत्मा का स्वार्थ नहीं है, क्योंकि वह भगुर है, नश्वर है एव तृष्णा का अनुषग ससर्ग होने के कारण उससे सन्ताप की शान्ति नहीं होती, ऐसा भगवान श्री सुपार्श्वनाथ ने कहा है।

पूर्व-भव परिचय

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में सीता नदी के उत्तर किनारे पर सुकच्छ देश है। उसके क्षेमपुर नगर में किसी समय नन्दिषेण राजा राज्य करता था। वह राजा बहुत अधिक विद्वान एव चतुर था। उसने

अपनी चतुराई से अजेय शत्रुओं को भी वश में कर लिया था। उसका बाहुबल भी अपार था। वह रणक्षेत्र में निःशङ्क होकर गरजता था कि देव, दानव, विद्याधर, नर-वीर जिसमें भी शक्ति हो वह उसके …
जाय। उसकी स्त्रियाँ अपनी …

अपनी चतुराई से अजेय शत्रुओं को भी वश में कर लिया था। उसका बाहुबल भी अपार था। वह रणक्षेत्र में निःशङ्क होकर गरजता था कि देव, दानव, विद्याधर, नर-वीर जिसमें भी शक्ति हो वह उसके सामने आ जाय। उसकी स्त्रियाँ अपनी रूप-राशि से स्वर्ग की सुन्दरियों को भी लज्जित करती थीं। वह उनके साथ अनेक तरह के श्रृङ्गार-रस से पूर्ण सुख भोगता हुआ अपने यौवन को सफल करता था। यह सब होते हुए भी वह धर्म-कार्यों में निरन्तर सुदृढ़चित्त रहता था; इसलिये उसके कोई भी कार्य ऐसे नहीं होते थे जो धार्मिक नियमों के विरुद्ध हों। कहने का मतलब यह है कि वह राजा धर्म, अर्थ एवं काम का समान रूप से पालन करता था।

राज्य करते-करते जब बहुत अधिक समय निकल गया, तब एक दिन उसे सहसा वैराग्य उत्पन्न हो गया; जिससे उसे समस्त भोग काले भुजङ्ग की तरह प्रतीत होने लगे। उसने अपने विशाल राज्य को विस्तृत कारागार समझा। उसी समय उसने स्त्री-पुत्र आदि से ममत्व को त्याग दिया। उसने सोचा — 'यह जीव अरहट की घड़ी के समान निरन्तर चारों गतियों में घूमता रहता है। जो आज देव है, वह कल तिर्यञ्च हो सकता है। जो आज राज-सिंहासन पर बैठ कर मनुष्यों पर शासन कर रहा है, वही कल मुट्ठी भर अन्न के लिए द्वार-द्वार भटक सकता है। ओह! इतना सब होते हुए भी मैं ने अभी तक इस संसार से छुटकारा पाने के लिए कोई उत्तम कार्य नहीं किया। अब मैं शीघ्र ही मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करूँगा।' इस प्रकार विचार कर उसने धनपति नामक पुत्र को राज्य-सिंहासन पर बैठा दिया एवं वन में जा कर अर्हन्नन्दन मुनिराज के पास जिन-दीक्षा ले ली। दीक्षित होने के बाद उसके पास कुछ भी परिग्रह नहीं रह गया। दिशाएँ ही उसके वस्त्र थे, आकाश भवन था, पथरीली पृथ्वी शैय्या थी, जङ्गल के हरिण आदि जन्तु उसके बन्धु थे, रात्रि में असंख्य तारे एव चन्द्रमा ही उसके दीपक थे। वह सरदी, गरमी एवं वर्षा के दुःख बड़ी शान्ति से सह लेता था। क्षुधा-तृषा आदि परीषहों का सहना अब उसके लिये कोई बड़ी बात नहीं थी। उसने आचार्य अर्हन्नन्दन के पास रह कर ग्यारह अङ्गों का अध्ययन किया तथा दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन किया; जिससे उसके जीवन में धार्मिक क्रान्ति मचा देनेवाली तीर्थङ्कर नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। इस तरह उसने बहुत अधिक दिनों तक तपस्या कर अशुभ-कर्मों का आना (आस्रव) बन्द

कर दिया एव शुभ-कर्मों का आना प्रारम्भ कराया। आयु के अन्त में वह समाधिपूर्वक शरीर त्याग कर मध्यम ग्रैवेयक के सुभद्र विमान में जा कर अहमिंद्र हुआ। वहाँ उसकी आयु सत्ताईस सागर प्रमाण थी, शरीर की ऊँचाई दो हाथ की थी, लेश्या शुक्ल थी। वह सत्ताईस हजार वर्ष बीत जाने पर एक बार मानसिक आहार ग्रहण करता था एव सत्ताईस पक्ष बाद एक बार सुगन्धित श्वास लेता था। वहाँ वह इच्छा मात्र से प्राप्त हुए उत्तम द्रव्यों से जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाओं की पूजा करता एव स्वय आये हुए देवों के साथ तरह-तरह की तत्व-चर्चाएँ करता था।

यह जो कहा जाता है — 'सुख में जाता हुआ काल प्रतीत नहीं होता' वह बिलकुल सत्य है। अहमिन्द्र को अपनी बीतती हुई आयु का पता ही नहीं चला। जब उसकी केवल छह माह की आयु शेष रह गई, तब उसे मणिमाला आदि वस्तुओं में न्यूनता दीखने लगी। जिससे उसने निश्चय कर लिया कि अब उसे यहाँ से अधिक शीघ्र ही कूच कर नर-लोक में जाना होगा। उसे अपनी विशाल आयु बीत जाने पर आश्चर्य हुआ। उसने सोचा — 'मैं ने अपना समस्त जीवन यों ही बिता दिया, आत्म-कल्याण की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया।' ऐसा विचार कर उसने अब अधिक मात्रा में जिन-अर्चा आदि कार्य करना शुरू कर दिये। यह अहमिंद्र ही अगले भव में भगवान सुपार्श्वनाथ होगा। अब वह जहाँ उत्पन्न होगा,वहाँ का हाल ध्यानपूर्वक सुनिये।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में काशी नामक एक देश है। उसमें गङ्गा नदी के तट पर वाराणसी (बनारस) नाम की एक नगरी है। उस समय उसमें सुप्रतिष्ठित नामक महाराजा राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम पृथ्वीसेना था। दोनों दम्पति सुख से रहते थे। उनके शरीर में न कोई रोग था, न किसी प्रतिद्वन्दी की चिन्ता ही थी। पाठक ऊपर जिस अहमिन्द्र से परिचित हो आये हैं, उसकी आयु जब वहाँ केवल छः माह की शेष रह गई थी, तभी से महाराज सुप्रतिष्ठित के महल पर देवों ने रत्नो की वर्षा करनी शुरू कर दी थी। कुछ समय बाद भाद्र शुक्ला षष्ठी के दिन विशाखा नक्षत्र में महारानी पृथ्वीसेना ने रात्रि के पिछले प्रहर में हाथी, वृषभ आदि सोलह स्वप्न देखे तथा अन्त में मुख मे प्रवेश करता हुआ एक सुरम्य हाथी देखा। अर्थात्

उसी समय वह अहमिन्द्र देव-पर्याय त्याग कर माता पृथ्वीसेना के गर्भ में आया। प्रातः होते ही जब महारानी ने पतिदेव से स्वप्नों का फल पूछा, तब उन्होने हर्ष से पुलकित-बदन होते हुए कहा — 'प्रिये ... स्त्री-जीवन सफल हुआ एव मेरा भ...

उसी समय वह अहमिन्द्र देव-पर्याय त्याग कर माता पृथ्वीसेना के गर्भ में आया। प्रातः होते ही जब महारानी ने पतिदेव से स्वप्नों का फल पूछा, तब उन्होंने हर्ष से पुलकित-बदन होते हुए कहा — 'प्रिये, आज तुम्हारा स्त्री-जीवन सफल हुआ एव मेरा भी गृहस्थ-जीवन निष्फल नहीं गया। आज तुम्हारे गर्भ में तीर्थङ्कर पुत्र ने अवतार लिया है।' यह कह कर उन्होंने रानी को तीर्थङ्कर के अगाध पुण्य की महिमा बतलाई। पतिदेव के मुख से अपने भावी पुत्र की महिमा सुन कर महारानी के हर्ष का पारावार न रहा। उसी समय देव-देवियों ने आ कर सुप्रतिष्ठित महाराज एव पृथ्वीसेना महारानी का यथोचित सत्कार किया। स्वर्ग से लाये हुए वस्त्राभूषणों से उन्हें अलकृत किया तथा अनेक प्रकार से गर्भारोहण का उत्सव मनाया।

इन्द्र की आज्ञा से अनेक देव-कुमारियाँ माता की सेवा कर रही थीं। जब क्रम से गर्भ-काल के दिन पूर्ण हो गये, तब पृथ्वीसेना ने ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन अहमिन्द्र नाम के शुभ योग में पुत्र-रत्न प्रसव किया। पुत्र की कान्ति से समस्त प्रसूति-गृह प्रकाशित हो गया था। इसलिये देवियों ने जो दीपमाला जला रक्खी थीं, उसका केवल मङ्गल-शुभाचार मात्र ही प्रयोजन रह गया था। जन्म होते ही समस्त देव अपने परिवार के साथ वाराणसी आये एव वहाँ से बाल तीर्थङ्कर को ले कर मेरु पर्वत पर गये। वहाँ उन्होंने पाण्डुक-वन में पाण्डुक शिला पर विराजमान कर जिनेन्द्र-बालक का क्षीर-सागर के जल से महाभिषेक किया। वहीं गद्य-पद्यमयी भाषा से उनकी स्तुति की। अनन्तर वहाँ से पुनरागमन कर उन्होंने जिनेन्द्र-बालक को माता की गोद में सौप दिया। बालक का मुखचन्द्र देख कर माता पृथ्वीसेना का आनन्द-सागर लहराने लगा। महाराज सुप्रतिष्ठित के परामर्श से इन्द्र ने बालक का नाम 'सुपार्श्व' रक्खा। उसी समय इन्द्र ने अपने ताण्डव नृत्य से उपस्थित जनता को अत्यन्त आनन्दित किया। जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में वाराणसीपुरी की जो सजावट की गई थी, उसके सामने पुरन्दरपुरी (अमरावती) बहुत अधिक हेय प्रतीत होती थी। उत्सव मना कर देवगण अपने-अपने स्थानों पर चले गये। किन्तु इन्द्र की आज्ञा से कुछ देवगण बालक का रूप धारण कर निरन्तर भगवान सुपार्श्वनाथ के पास रहते थे, जो उन्हें तरह-तरह की बाल चेष्टाओं से आनन्दित करते रहते थे। महाराज सुप्रतिष्ठित के महल पर बालक सुपार्श्वनाथ के लालन-पालन में कोई कमी नहीं थी, फिर भी इन्द्र स्वर्ग से मनोविनोद के लिए कल्पवृक्ष के पुष्पों की मालाएँ, मनोहर आभूषण एव अनोखे खिलौने आदि

भेजा करता था।

बालक सुपार्श्वनाथ भी द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगे। उनके मुख पर निरन्तर मन्द मुसक्कान रहती थी। धीरे-धीरे समय बीतता गया। भगवान सुपार्श्वनाथ बाल्य अवस्था पार कर कुमार अवस्था में पहुँचे एव फिर कुमार अवस्था भी पार कर युवावस्था में पहुँचे।

छट्ठे तीर्थङ्कर भगवान पद्मप्रभ के मोक्ष जाने के बाद नौ हजार करोड़ सागर बीत जाने पर श्री सुपार्श्वनाथ हुए थे, उनकी आयु बीस लाख पूर्व की थी एव शरीर की ऊँचाई दो सौ धनुष की थी। वे अपनी कान्ति से चन्द्रमा को भी लज्जित करते थे। जन्म से पाँच लाख पूर्व बीत जाने पर उन्हें राज्य मिला। राज्य पा कर उन्होंने प्रजा का पुत्रवत् पालन किया। वे सतत् सज्जनो के अनुग्रह एव दुर्जनों के निग्रह का ध्यान रखते थे। उनका शासन अत्यन्त लोकप्रिय था ; इसलिये उन्हें जीवन में किसी शत्रु का सामना नहीं करना पडा। सुप्रतिष्ठित महाराज ने अनेक आर्य-कन्याओं के साथ इनका विवाह किया था। भगवान सुपार्श्वनाथ अपनी मनोरम चेष्टाओं से उन आर्य-महिलाओं को निरन्तर हर्षित रखते थे। बीच-बीच में इन्द्र नृत्य-गोष्ठी, वाद्य-गोष्ठी, सगीत-गोष्ठी आदि से विनोद कौतुक कर भगवान सुपार्श्वनाथ को प्रसन्न करता रहता था। उस समय भगवान सुपार्श्वनाथ जो सुख भोगते थे, उसका शतांश भी किसी दूसरे को प्राप्त नहीं था। भोग भोगते हुए वे उनमे तन्मय नहीं होते थे; इसलिये उनके भुक्त भोग नूतन कर्म-बन्ध के कारण नहीं होते थे। इस तरह सुख-पूर्वक राज्य करते हुए जब उनकी आयु बीस पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व की रह गई, तब उन्हें किसी कारणवश ससार के बढ़ानेवाले विषय-भोगों से विरक्ति हो गई। उन्होने अपनी पिछली आयु के व्यर्थ बीत जाने पर घोर पश्चात्ताप किया एव राज्य-कार्य, गृहस्थी, पुत्र, मित्र आदि सब से मोह त्याग कर वन में जा तप करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। लौकान्तिक देवों ने भी आ कर उनके चिन्तवन का समर्थन किया। देव-देवियों ने वैराग्य-वर्द्धक चेष्टाओं से तप-कल्याणक का उत्सव मनाना प्रारम्भ किया। भगवान सुपार्श्वनाथ राज्य का भार पुत्र को सौंप कर देवनिर्मित 'मनोगति' नाम की पालकी पर सवार हुए। देवगण उस पालकी को बनारस के समीपवर्ती सहेतुक वन मे ले गये। पालकी से उतर कर उन्होंने गुरुजनों की सम्मतिपूर्वक ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन विशाखा नक्षत्र में सन्ध्या समय 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कहते हुए दिगम्बर दीक्षा

धारण कर ली। उनके साथ में अन्य भी एक हजार राजे दीक्षित हुए।

मुनिराज सुपार्श्वनाथ ने दीक्षित होते ही इतना एकाग्र ध्यान किया था कि जिससे उन्हें अनेक ऋद्धियाँ एव मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त ह

धारण कर ली। उनके साथ में अन्य भी एक हजार राजे दीक्षित हुए।

मुनिराज सुपार्श्वनाथ ने दीक्षित होते ही इतना एकाग्र ध्यान किया था कि जिससे उन्हें उसी समय अनेक ऋद्धियाँ एव मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। दो दिनों के उपवास के बाद वे आहार लेने के लिए सोमखेट नाम के नगर में गये। वहाँ राजा महेन्द्रदत्त ने पड़गाह कर उन्हें नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया। पात्र-दान के प्रभाव से राजा महेन्द्रदत्त के महल पर देवों ने पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। भगवान सुपार्श्वनाथ आहार ले कर वन में लौट आये। तदनन्तर नौ वर्षों तक उन्होंने छद्मस्थ अवस्था में मौनपूर्वक रह कर तपश्चरण किया।

एक दिन वे उसी सहेतुक वन में दो दिनों के उपवास का नियम ले कर शिरीष वृक्ष के नीचे विराजमान हुए। वहीं पर उन्होंने क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर क्रम से अधःकरण, अपूर्वकरण एव अनिवृत्तिकरण-रूप भावों से मोहनीय-कर्म का क्षय कर बारहवाँ क्षीणमोह गुणस्थान प्राप्त किया। उसके अन्त में ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी एव अन्तराय — इन तीन घातिया-कर्मों का क्षय कर 'केवलज्ञान' प्राप्त कर लिया। अब तीनों लोक एव तीनों काल के अनन्त पदार्थ उनके सामने 'हस्तामलकवत्' झलकने लगे। देवों ने आ कर कैवल्य प्राप्ति का उत्सव किया। इन्द्र की आज्ञा पा कर कुबेर ने विस्तृत समवशरण बनाया। उसके बीच में स्थित होकर पूर्ण ज्ञानी योगी भगवान सुपार्श्वनाथ ने अपनी मौन मुद्रा भङ्ग की — दिव्य उपदेश दिया। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, उत्तम क्षमा आदि आत्म-धर्मों का स्वरूप समझाया। चतुर्गति-रूप ससार के दुःखों का वर्णन किया, जिसके भयावह-रूप से श्रोताओं के शरीर में रोमांच हो आये। कितने ही आसन्न-भव नर-नारियों ने मुनि-आर्यिकाओं के व्रत ग्रहण किये। कितने ही पुरुष, कितनी ही स्त्रियों ने श्रावक-श्राविकाओं के व्रत धारण किये। उपदेश के बाद इन्द्र ने उनसे अन्य क्षेत्रों में विहार करने के लिए प्रार्थना की थी अवश्य, पर वह प्रार्थना नियोग की पूर्तिमात्र ही थी, क्योंकि उनका विहार स्वय होता है। अनेक देशों में विहार कर उन्होंने धर्म का खूब प्रचार किया। असंख्य जीव-राशि को ससार के दुःखों से मुक्त करा कर उन्हें मोक्ष के अनन्त सुख प्राप्त कराये। अनेक स्थान विहार करने से उनकी शिष्य-परम्परा भी बहुत अधिक प्रचलित हो गई थी। कितनी? ध्यानपूर्वक सुनिये —

उनके समवशरण में बल आदि पञ्चानवे गणधर थे, दो हजार तीस ग्यारह अग एव चौदह पूर्वों के ज्ञाता

थे, दो लाख चवालीस हजार नौ सौ बीस शिक्षक थे, नौ हजार अवधिज्ञानी थे, ग्यारह हजार केवलज्ञानी थे, पन्द्रह हजार तीन सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, नौ हजार एक सौ पचास मनःपर्यय ज्ञानी थे एव आठ हजार छह सौ वादी थे। इस तरह सब मिला कर तीन लाख मुनिराज थे। इनके उपरान्त मीनार्या आदि को ले कर तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ थीं। तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकाएँ, असंख्यात देव-देवियाँ एव असख्यात तिर्यञ्च थे।

विहार करते-करते जब उनकी आयु केवल एक माह शेष रह गई, तब वे श्री सम्मेदशिखर पर जा पहुँचे एव वहाँ योग-निरोध कर प्रतिमा-योग से विराजमान हो गये। वहीं से उन्होंने शुक्ल-ध्यान के अन्तिम भेद सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती एव व्युपरत क्रिया-निवृत्ति के द्वारा अघातिया चतुष्क का नाश कर फाल्गुन शुक्ला सप्तमी के दिन विशाखा नक्षत्र में सूर्योदय के समय एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया। देवों ने आ कर उनके निर्वाणक्षेत्र की पूजा की। भगवान सुपार्श्वनाथ के स्वस्तिक का चिह्न था।
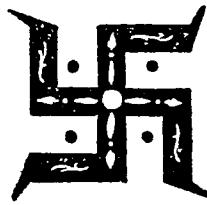
(८) भगवान श्री चन्द्रप्रभजी

सम्पूर्णः किमयं शरच्छशधरः किं वार्पितो दर्पणः
सर्वार्थावगतेः किमेष विलसत्पीयूषपिण्डः पृथुः।
किं पुण्याणुमयश्चयोऽय मिति मदवक्त्राम्बुजं शंक्यतेः
सोऽयंचन्द्र जिनस्तमो व्यपहरन्ं हो भयाद्रक्षतात् ॥ —आचार्य गुणभद्र

क्या यह शरद् ऋतु का पूर्ण चन्द्रमा है? अथवा सब पदार्थों को जानने के लिए रक्खा हुआ दर्पण है? क्या यह शोभायमान अमृत का विशाल पिण्ड है? या पुण्य परमाणुओं का बना हुआ पिण्ड है? इस तरह जिनके मुख-कमल को देख कर शङ्का होती है, वे श्रीचन्द्रप्रभ महाराज अज्ञानतम को रूपी भय से हम सब की

क्या यह शोभायमान अमृत का विशाल पिण्ड है ? या पुण्य परमाणुओं का बना हुआ पिण्ड है ? इस तरह जिनके मुख-कमल को देख कर शङ्का होती है, वे श्रीचन्द्रप्रभ महाराज अज्ञानतम को नष्ट करते हुए पाप-रूपी भय से हम सब की रक्षा करें।

पूर्व-भव परिचय

असंख्यात द्वीप-समुद्रों से घिरे हुए मध्यलोक में एक पुष्कर द्वीप है। उसके बीच में चूड़ी के आकार-वाला मानुषोत्तर पर्वत खड़ा हुआ है, जिससे उसके दो भेद हो गये हैं। उनमें से पूर्वार्ध भाग तक ही मनुष्यों का सञ्चार पाया जाता है। पुष्करार्ध द्वीप में क्षेत्र आदि की रचना धातकीखण्ड की तरह है, अर्थात् जम्बूद्वीप से दूनी है। उनमें पूर्व एवं पश्चिम दिशा में दो मन्दर-मेरु पर्वत हैं। पूर्व दिशा के मेरु से पश्चिम की ओर एक बड़ा भारी विदेहक्षेत्र है। उनमें सीता नदी के उत्तर तट पर एक सुगन्धि नाम का देश है, जो हर एक तरह से सम्पन्न है। उसमें श्रीपुर नाम का नगर था, जिसमें किसी समय श्रीषेण नाम का राजा राज्य करता था। वह राजा बहुत अधिक बलवान था, धर्मात्मा था एवं नीतिज्ञ था। वह निरन्तर सोच-विचार कर कार्य करता था, जिससे उसे कभी कार्य कर चुकने पर पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता था। उसकी महारानी का नाम श्रीकान्ता था। श्रीकान्ता ने अपने दिव्य सौन्दर्य से काम-कामिनी रति को भी पराजित कर दिया था। दोनों में परस्पर अटूट प्रेम था। उनका शरीर स्वस्थ एवं सुन्दर था, धन-सम्पत्ति की कमी नहीं थी एवं किसी शत्रु का खटका नहीं था; इसलिये वे अपने को सब से सुखी समझते हुए समय बिताते थे। धीरे-धीरे श्रीकान्ता का यौवन व्यतीत होने को आया, पर उसके कोई सन्तान नहीं हुई। इसलिये वह सदा दुःखी रहती थी। एक दिन रानी श्रीकान्ता कुछ सहेलियों के साथ महल की छत पर बैठ कर नगर की शोभा निहार रही थी कि उसकी दृष्टि गेंद खेलते हुए सेठ के बालकों पर पड़ी। बालकों को देखते ही उसे पुत्र न होने की चिन्ता ने धर दबाया। उसका प्रसन्न पुष्प-सा मुख मुरझा गया, मुख से दीर्घ एवं गर्म-गर्म श्वासें निकलने लगीं, आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली। उसने भग्न-हृदय से सोचा — जिसके ये पुत्र हैं, उसी स्त्री का जन्म सफल है। सचमुच, फलरहित लता के समान वन्ध्या (फलरहित) स्त्री की कोई

शोभा नहीं होती है। सच कहा है कि पुत्र के बिना समस्त संसार शून्य दीखता है — इत्यादि चिन्तवन कर वह छत से नीचे उतर आई एवं खिन्न-चित्त होकर शयनागार में पड़ी रही। जब सहेलियों द्वारा राजा श्रीषेण को उसके खिन्न होने का समाचार मिला, तब वह शीघ्र ही उसके पास पहुँचा एवं कोमल शब्दों में दुःख का कारण पूछने लगा। बहुत अधिक बार पूछने पर भी पर जब श्रीकान्ता ने कोई जवाब नहीं दिया, तब उसकी सहेली ने जो कि हृदय की बात जानती थी, राजा श्रीषेण को छत पर का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। सुन कर उसे भी दुःख हुआ; पर कर क्या सकता था ? अन्त में धैर्य धारण कर रानी को मीठे शब्दों में समझाने लगा — 'जो वस्तु मनुष्य के पुरुषार्थ से सिद्ध नहीं हो सकती, उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। कर्मों के ऊपर किसका वश है ? तुम्हीं कहो, किसी तीव्र पाप का उदय काल ही पुत्र-प्राप्ति होने का बाधक (कारण) है। इसलिये पात्र-दान, जिन-पूजन, व्रत-उपवास आदि शुभ-कार्य करो, जिससे अशुभ-कर्मों का बल नष्ट होकर शुभ-कर्मो का बल बढ़े।'

प्राणनाथ का उपदेश सुन कर श्रीकान्ता ने पुत्र न होने का शोक अधिकांश मात्रा में त्याग दिया एवं पहिले की अपेक्षा बहुत अधिक पात्र-दान आदि शुभ-क्रियाएँ करने लगी।

एक दिन राजा श्रीषेण महारानी श्रीकान्ता के साथ वन में विहार कर रहा था कि वहाँ पर उसकी दृष्टि एक मुनिराज के ऊपर पड़ी। उसने रानी के साथ उन्हें नमस्कार किया एव धर्म-श्रवण करने की इच्छा से उनके पास बैठ गया। मुनिराज ने सारगर्भित शब्दों में धर्म का व्याख्यान किया, जिससे राजा श्रीषेण का मन बहुत अधिक हर्षित हुआ। धर्म-श्रवण करने के बाद उसने मुनिराज से पूछा — 'नाथ! मैं इस तरह कब तक गृह-जजाल में फँसा रहूँगा ? क्या कभी मुझे दिगम्बर मुद्रा धारण करने का सौभाग्य प्राप्त होगा ?' उत्तर मे मुनिराज ने कहा — 'राजन! तुम्हारे हृदय में निरन्तर पुत्र की इच्छा बनी रहती है, सो जब तक तुम्हारे पुत्र न होगा, तब तक वह इच्छा तुम्हारा पिण्ड न छोड़ेगी। बस, पुत्र की इच्छा ही तुम्हारे मुनि बनने में बाधक-कारण है। आप की इस हृदयवल्लभा श्रीकान्ता ने पूर्व-भव में गर्भ-भार से पीड़ित एक युवती को देख कर अभिलाषा की थी — 'मेरे कभी यौवन अवस्था मे सन्तान न हो।' इस अभिलाषा के कारण ही अब तक इसके पुत्र नहीं हुआ है। पर अब निदान-बन्ध के कारण बँधे हुए दुष्कर्मों का फल

दूर होनेवाला है; इसलिये शीघ्र ही इसके पुत्र होगा। पुत्र को राज्य सौंप कर आप भी दीक्षित हो जायेंगे। यह कह कर उन्होंने अष्टाह्निका व्रत का माहात्म्य बतला कर राजा-रानी को व्रत धारण करवाया। [illegible] दम्पति मुनिराज के द्वारा दिये हुए व्रत [illegible]

दूर होनेवाला है; इसलिये शीघ्र ही इसके पुत्र होगा। पुत्र को राज्य सौंप कर आप भी दीक्षित हो जावेंगे। यह कह कर उन्होंने अष्टाह्निका व्रत का माहात्म्य बतला कर राजा-रानी को व्रत धारण करवाया। राज-दम्पति मुनिराज के द्वारा दिये हुए व्रत को हृदय से स्वीकार कर स्वगृह लौट आये। जब अष्टाह्निका पर्व आया, तब दोनों ने अभिषेकपूर्वक सिद्ध-यन्त्र की पूजा की एव आठ दिन तक यथाशक्ति उपवास किये, जिनसे उन्हें असीम पुण्य-कर्म का बन्ध हुआ।

कुछ दिनों बाद रानी श्रीकान्ता ने रात्रि के पिछले प्रहर में हाथी, सिंह, चन्द्रमा एवं लक्ष्मी का अभिषेक — ये चार स्वप्न देखे। उसी समय उसके गर्भाधान हो गया। धीरे-धीरे उसके शरीर में गर्भ के चिह्न प्रकट हो गये, शरीर पाण्डु वर्ण हो गया, आँखों में कुछ हरापन दीखने लगा, स्तन स्थूल एव कृष्ण मुख हो गये, उदर भारी हो गया एव आलस्य आने लगा। प्रियतमा के शरीर में गर्भ के चिह्न प्रकट हुए देख कर राजा श्रीषेण बहुत अधिक हर्षित होता था। नव माह बाद उसके पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा श्रीषेण ने पुत्र की उत्पत्ति का खूब उत्सव किया — याचकों को मनचाहा दान दिया, जिन-पूजन आदि पुण्य-कर्म कराये। प्रौढ़ अवस्था में पुत्र पा कर श्रीकान्ता को कितना आनन्द हुआ होगा, यह तुच्छ लेखनी से नहीं लिखा जा सकता। राजा श्रीषेण ने बन्धु-बान्धवों को इच्छानुसार पुत्र का नाम 'श्रीवर्मा' रक्खा। श्रीवर्मा धीरे-धीरे बढ़ने लगा। जैसे-जैसे उसकी अवस्था बढ़ती जाती थी, वैसे-वैसे ही उसके गुणों का विकास होता जाता था।

जब कुमार राज्य-कार्य सम्भालने के योग्य हो गया, तब राजा श्रीषेण उस पर राज्य का भार छोड़ कर अभिलषित भोग भोगने लगा। एक दिन वहाँ के शिवङ्कर नामक उपवन में श्रीप्रभ नामक मुनिराज आये। वनमाली ने राजा श्रीषेण को मुनि-आगमन का समाचार सुनाया। राजा श्रीषेण भी हर्षितचित्त होकर मुनि-वन्दना के लिए गया। वहाँ मुनिराज के मुख से धर्म का स्वरूप एवं ससार का दुःख सुन कर उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो गया, जिससे उसने श्रीवर्मा को राज्य सौंप कर शीघ्र ही जिन-दीक्षा धारण कर ली। राजा श्रीवर्मा राज्य पा कर बहुत अधिक प्रसन्न नहीं हुआ; क्योंकि वह सदा उदासीन रहता था। उसकी यही इच्छा बनी रहती थी कि मैं कब साधुवृत्ति धारण करूँ। पर परिस्थिति देख कर उसे राज्य स्वीकार करना पड़ा था। राजा श्रीवर्मा बहु अधिक चतुर पुरुष था। उसने जिस प्रकार बाह्य शत्रुओं को जीता था,

उसी तरह काम-क्रोध आदि अन्तरङ्ग शत्रुओं को भी जीत लिया था ।

एक दिन राजा श्रीवर्मा परिवार के कुछ लोगों के साथ महल की छत पर बैठ कर प्रकृति की अनूठी शोभा देख रहा था कि इतने में आकाश से उल्कापात हुआ । उसे देख कर उसका चित्त सहसा विरक्त हो गया । उल्का की तरह ससार के सब पदार्थों की अस्थिरता का चिन्तवन कर उसने दीक्षा धारण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया एव दूसरे दिन श्रीकान्त नामक ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौंप कर श्रीप्रभ आचार्य के पास दिगम्बर दीक्षा ले ली । अन्त में वह श्रीप्रभ नामक पर्वत पर सन्यासपूर्वक शरीर त्याग कर प्रथम स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में श्रीधर नाम का देव हुआ । वहाँ उसकी दो सागर की आयु थी, सात हाथ का दिव्य वैक्रियक शरीर था, पीत लेश्या थी । वह दो हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता एव दो पक्ष बाद श्वासोच्छ्वास करता । उसे जन्म से ही अवधिज्ञान था, अणिमा महिमा आदि ऋद्धियाँ प्राप्त थीं । वहाँ वह अनेक देवाङ्गनाओं के साथ इच्छानुसार क्रीड़ा करता हुआ सुख से समय बिताने लगा ।

धातकीखण्ड द्वीप में दक्षिण की ओर एक इष्वाकार पर्वत है । उसके पूर्व भरतक्षेत्र के अलका नामक देश में अयोध्या नाम की एक नगरी है । उसमें किसी समय अजितञ्जय नाम का राजा राज्य करता था । उसकी स्त्री का नाम अजितसेना था । एक दिन रात्रि में अजितसेना ने हाथी, बैल, सिंह, चन्द्रमा, सूर्य, पद्म-सरोवर, शङ्ख एव जल से भरा हुआ घट—ये आठ स्वप्न देखे । प्रातः होते ही उसने पतिदेव महाराज अजितञ्जय से स्वप्नों का फल पूछा । तब उन्होंने कहा — 'आज तुम्हारे गर्भ में किसी पुण्यात्मा जीव ने अवतरण लिया है । ये स्वप्न उसी के गुणों का सुयश वर्णन करते हैं । हाथी के देखने से वह गम्भीर, बैल एवं सिंह के देखने से अत्यन्त बलवान, चन्द्रमा को देखने से सब को प्रसन्न करनेवाला, सूर्य के देखने से तेजस्वी, पद्म-सरोवर के देखने से शङ्ख-चक्र आदि बत्तीस लक्षणों से शोभित, शङ्ख के देखने से चक्रवर्ती एव पूर्ण घट के देखने से निधियों का स्वामी होगा ।' स्वप्नों का फल सुन कर रानी अजितसेना को अपार हर्ष हुआ ।

पाठक यह जानने के लिए उत्सुक होंगे कि अजितसेना के गर्भ में किस पुण्यात्मा का अवतरण हुआ है । उसका उत्तर यह है कि ऊपर प्रथम स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में जिस श्रीधर देव का कथन कर आये हैं, वही वहाँ की आयु पूर्ण कर महारानी अजितसेना के गर्भ में आया है । गर्भकाल व्यतीत होने पर रानी अजितसेना ने शुभ-मुहूर्त में पुत्र-रत्न का प्रसव किया, जो बड़ा ही पुण्यशाली था । राजा अजितञ्जय ने उसका नाम अजितसेन रक्खा । अजितसेन बड़े प्यार से पाला गया । जब उसकी अवस्था योग्य हो ग[illegible] बना दिया एव

ने शुभ-मुहूर्त में पुत्र-रत्न का प्रसव किया, जो बड़ा ही पुण्यशाली था। राजा अजितञ्जय ने उसका नाम अजितसेन रक्खा। अजितसेन बड़े प्यार से पाला गया। जब उसकी अवस्था योग्य हो गई, तब राजा अजितञ्जय ने उसे युवराज बना दिया एव राजनीति के विभिन्न उपदेश दिये।

एक दिन राजा अजितञ्जय एवं महारानी अजितसेना, युवराज अजितसेन के साथ राज-सभा में बैठे हुए थे कि इतने में वहाँ से चन्द्ररुचि नाम का असुर निकला। ज्यों ही उसकी दृष्टि युवराज अजितसेन पर पड़ी, त्यों ही उसे अपने पूर्व-भव के बैर का स्मरण हो आया। तब वह क्रोध से काँपने लगा, उसकी आँखें लाल हो गई एवं भौहे टेढ़ी। 'बदला चुकाने के लिए यही समय योग्य है' — ऐसा सोच कर उसने समस्त सभा के लोगों को माया से मूर्च्छित कर दिया एव युवराज अजितसेन को उठा कर आकाश में ले गया। इधर जब माया-मूर्च्छा दूर हुई, तब राजा अजितञ्जय पास में पुत्र को न पा कर बहुत अधिक दुःखी हुए। उन्होंने उस समय हृदय को द्रवीभूत कर देनेवाले शब्दों में विलाप किया। पर कोई कर ही क्या सकता था? चारों ओर वेगशाली घुड़सवार दौड़ाये गये, गुप्तचर छोड़े गये, पर कहीं उसका पता न चला। उसी दिन जब राजा अजितञ्जय पुत्र के विरह में रुदन कर रहा था,तब आकाश से तपोभूषण नामक मुनिराज राज-सभा में आये। राजा अजितञ्जय ने उनका योग्य सत्कार किया। मुनिराज के आगमन से उसे इतना अत्यधिक हर्ष हुआ था कि वह उस समय पुत्र के हरे जाने का भी दुःख भूल गया था। उसने नम्र वाणी में मुनिराज की स्तुति की। 'धर्मवृद्धिरस्तु' कहते हुए मुनिराज ने कहा — 'राजन्! मैं अवधिज्ञान-रूपी लोचन से तुम्हें व्याकुल देख कर ससार का स्वरूप बतलाने के लिए आया हूँ। ससार वही है, जहाँ पर इष्ट-वियोग एवं अनिष्ट-संयोग हुआ करते हैं। अशुभ-कर्म के उदय काल से प्रायः समस्त प्राणियों को इष्ट का वियोग एव अनिष्ट का सयोग हुआ करता है। आप विद्वान हैं; इसलिये आप को पुत्र-वियोग का दुःख नहीं करना चाहिये। विश्वास रखिये, आप का पुत्र कुछ दिनों में बड़े वैभव के साथ आप के पास आ जायेगा।' इतना कह कर मुनिराज तपोभूषण आकाश-मार्ग से विहार कर गये एव राजा भी शोकपूर्वक समय व्यतीत करने लगे। अब युवराज अजितसेन का हाल ध्यानपूर्वक सुनिये —

चन्द्ररुचि असुर युवराज अजितसेन को सभा-क्षेत्र से उठा कर आकाश में ले गया एवं वहाँ उसे मारने

के लिए उपयुक्त स्थान का सन्धान करने लगा। अन्त में बहुत अधिक सन्धान करने के बाद उसने युवराज अजितसेन को मगरमच्छ आदि से भरे हुए मनोरम नामक एक तालाब में आकाश से पटक दिया एव स्वयं निश्चिन्त होकर अपने गृह चला गया। युवराज अजितसेन को उसने बहुत अधिक ऊँचे से पटका अवश्य था, पर पुण्य के उदय काल से उसे कोई चोट नहीं लगी। वह अपनी भुजाओं से तैर कर शीघ्र ही तट पर आ गया। तालाब से निकलते ही उसे चारों ओर भयानक जगल दिखलाई पड़ा। उसमें वृक्ष इतने घने थे कि दिन में भी वहाॅ सूर्य का प्रकाश नही फैल पाता था। स्थान-स्थान पर सिह, व्याघ्र आदि दुष्ट जीव गरज रहे थे। इतना सब होने पर भी अल्पवयस्क युवराज अजितसेन ने धैर्य नहीं त्यागा। उसने एक सकीर्ण-मार्ग से उस भयानक अटवी में प्रवेश किया। कुछ दूर जाने पर उसे एक पर्वत मिला। अटवी का अन्त जानने के लिए ज्यों हो वह पर्वत पर चढ़ा, त्यों हो वहाॅ वर्षा के मेघ के समान एक काला पुरुष उसके सामने आया एव क्रोध से गरज कर कहने लगा — 'कौन है तू ? मरने की इच्छा से मेरे स्थान पर क्यों आया है ? जहाँ सूर्य एवं चन्द्रमा भी पादचार-किरणों का फैलाव नहीं कर सकते, वहाॅ तेरा आगमन कैसे हुआ ? मैं दैत्य हूँ, इसी समय तुझे यमलोक पहुॅचाये देता हूॅ।' उसके वचन सुन कर युवराज अजितसेन ने हॅसते हुए कहा कि आप बड़े योद्धा प्रतीत होते हैं। इस भीषण अटवी पर आप का कैसा अधिकार है ? यहाॅ का राजा तो कोई मृगराज होना चाहिये। पर कुमार के शान्तिमय वार्तालाप का उस पर कुछ भी असर नहीं पड़ा। वह पहिले की तरह ही यद्वा-तद्वा बोलता रहा। तब कुमार को भी क्रोध आ गया। दोनों में डट कर मल्ल-युद्ध हुआ। वन-देवियाॅ झाड़ियों में छिप कर दोनों की युद्ध-लीलाएँ देख रही थीं। कुछ समय बाद कुमार ने उसे भू पर पछाड़ने के लिए ऊपर उठाया एव उसे आकाश में घुमा कर पछाड़ना ही चाहते थे कि उसने अपना मायावी वेष त्याग दिया एव असली रूप में प्रकट होकर कहने लगा — 'बस, कुमार बस ! मैं समझ गया कि आप बहुत अधिक बलवान पुरुष है। उस माॅ को धन्य है, जिसने आप जैसा पुत्र उत्पन्न किया। मैं हिरण नाम का देव हूँ। अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना के लिए गया था। वहाॅ से लौट कर यहाॅ आया था एव कृत्रिम वेष मे यहाॅ मैं ने आप की परीक्षा ली। आप परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। आप धीर हैं, वीर हैं, गम्भीर हैं। मैं आप के गुणों से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। अब आप कुछ भी चिन्ता न कीजिये, आप अत्यन्त वैभव के साथ कुछ दिनों में ही

अपने पिता के पास पहुँच जायेंगे। अब मैं आप के जन्मान्तर की कथा कहता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनिये — इस भव से पूर्व तीसरे भव मे आप सुगन्धि देश के राजा थे, आप की ज श्रीवर्मा नाम से प्रसिद्ध थे। उसी र

अपने पिता के पास पहुँच जायेंगे। अब मैं आप के जन्मान्तर की कथा कहता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनिये —

इस भव से पूर्व तीसरे भव में आप सुगन्धि देश के राजा थे, आप की राजधानी 'श्रीपुर' थी। वहाँ आप श्रीवर्मा नाम से प्रसिद्ध थे। उसी नगर में शशि एवं सूर्य नाम के दो किसान रहते थे। एक दिन शशि ने सूर्य के मकान में प्रवेश कर उसका धन हरण कर लिया। जब सूर्य ने आप से निवेदन किया, तब आप ने पता लगा कर शशि को खूब पिटवाया एव सूर्य का धन वापिस उसे दिलवा दिया। पिटते-पिटते शशि मर गया, जिससे वह चन्द्ररुचि नाम का असुर हुआ है एव सूर्य मर कर मैं हिरण्य नाम का देव हुआ हूँ। पूर्व-भव के बैर से ही चन्द्ररुचि ने आप का हरण कर आप को कष्ट दिया है एव उपकार से कृतज्ञ होकर मैं आप का मित्र हुआ हूँ। इतना कह कर वह देव अन्तर्ध्यान हो गया। वहाँ से कुमार थोड़ा ही आगे चला था कि वह विशाल अटवी, जिसके कि अन्त का पता नहीं चलता था, समाप्त हो गई। युवराज ने इसे उस देव का ही प्रभाव समझा। अटवी से निकल कर वह पास के किसी देश में जा पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि समीपवर्ती नगर से अनेक परिजन घबड़ाये हुए भागे जा रहे हैं। कारण जानने की इच्छा से उसने किसी मनुष्य से पूछा, तो उत्तर में मनुष्य ने कहा — 'क्या आकाश से टपक पड़े हो, जो अपरिचित से बन कर पूछते हो ?' तब युवराज ने कहा — 'भाई ! मैं परदेशी आदमी हूँ, मुझे यहाँ का कुछ भी हाल प्रतीत नहीं है। अनुचित न हो तो बतलाने का कष्ट कीजिये।' युवराज की नम्र एव मधुर वाणी से प्रसन्न होकर मनुष्य ने कहा — 'तो सुनिये, यह अरिंजय नाम का देश है, यह सामने का नगर इसकी राजधानी है, इसका नाम विपुल है। यहाँ जयवर्मा नाम के राजा राज्य करते है, उनकी स्त्री का नाम जयश्री है। इन दोनों के शशिप्रभा नाम की एक कन्या है, जो सौन्दर्य-सागर में तैरती हुई-सी जान पड़ती है। किसी देश के महेन्द्र नाम के राजा ने महाराज जयवर्मा से शशिप्रभा की याचना की। महाराज जयवर्मा उसके साथ शशिप्रभा का विवाह करने के लिए तैयार हो गये, पर एक निमित्तज्ञानी ने 'महेन्द्र अल्पायु है' कह कर उन्हें वैसा करने से रुकवा दिया। राजा महेन्द्र को यह बात सह्य नहीं हुई; इसलिये वह बड़ी भारी सेना को ले कर महाराज जयवर्मा से लड़ कर जबरदस्ती शशिप्रभा का हरण करने के लिए आया हुआ है। उसकी सेना ने विपुलपुर को चारों ओर से घेर लिया है। महाराज जयवर्मा के पास उतनी सेना नहीं है, जिससे कि वह राजा महेन्द्र का सामना कर सकें। उसके सैनिक

नगर में ऊधम मचा रहे हैं ; इसलिये समस्त पुरवासी डर कर बाहर भागे जा रहे हैं। आज्ञा दीजिये, मुझे बहुत अधिक दूर जाना है।' इतना कह कर वह मनुष्य भाग गया। युवराज जब कुतूहलपूर्वक विपुलपुर की सीमा पर जा पहुँचे एवं उसके भीतर जाने लगे, तब राजा महेन्द्र के सैनिकों ने उन्हें भीतर जाने से रोका, जिससे उन्हें क्रोध आ गया। युवराज ने वहीं पर किसी एक के हाथ से धनुष-बाण छीन कर राजा महेन्द्र से युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया एवं थोड़ी देर में ही उसे धराशायी कर दिया। शत्रु की मृत्यु सुन कर महाराज जयवर्मा बहुत अधिक प्रसन्न हुए। वे कुमार को बड़े आदर-सत्कार से अपने महल ले गये। वहाँ शशिप्रभा युवराज पर आसक्त हो गई। राजा जयवर्मा को जब इस बात का पता चला, तब उसने हर्षपूर्वक युवराज के साथ शशिप्रभा का विवाह करना स्वीकार कर लिया। युवराज कुछ दिनों तक वहीं रह आये। विजयार्द्ध गिरि की दक्षिण श्रेणी में एक आदित्य नाम का नगर है, जो अपनी शोभा से आदित्य-विमान (सूर्य-विमान) को भी जीतता है। उसमें धरणीध्वज नाम का विद्याधर राज्य करता था। धरणीध्वज ने अपने पौरुष से समस्त विद्याधरों को अपने आधीन बना लिया था। एक दिन वह राज-सभा में बैठा हुआ था कि वहाँ पर एक क्षुल्लकजी आये। राजा धरणीध्वज ने उनका खड़े होकर स्वागत किया एवं उन्हें ऊँचे आसन पर बैठाया। बात-चीत होते-होते क्षुल्लकजी ने कहा — 'अरिंजय देश के विपुल नगर के राजा जयवर्मा के शशिप्रभा नाम की एक कन्या है। जिसके साथ उसका विवाह होगा, वह तुम्हें मार कर भरतक्षेत्र का पालन करेगा।' क्षुल्लकजी के वचन सुन कर राजा धरणीध्वज को बहुत अधिक दुःख हुआ। जब क्षुल्लकजी चले गये, तब उसने कुछ मन्त्रियों की सलाह से विद्याधरों की बड़ी भारी सेना के साथ विपुल नगर को घेर लिया एवं वहाँ के राजा जयवर्मा के पास दूत भेज कर सन्देशा कहलाया कि तुमने जो एक अज्ञात पुरुष के साथ शशिप्रभा का विवाह करना स्वीकार कर लिया है, वह ठीक नहीं है ; क्योंकि जिसके कुल-बल-पौरुष आदि का कुछ भी पता नहीं है, उसके साथ कन्या का विवाह कर देने से सिवाय अपयश के कुछ भी हाथ नहीं लगता। इसलिये तुम शीघ्र ही शशिप्रभा का विवाह मेरे साथ कर दो। राजा जयवर्मा ने 'चाहे कुलीन हो या अकुलीन ; एक बार दी हुई कन्या फिर किसी दूसरे को नहीं दी जा सकती' कह कर दूत को वापिस कर दिया एवं लड़ाई की तैयारी करनी शुरू कर दी।

जयवर्मा को युद्ध के लिए चिन्तित देख कर युवराज अजितसेन ने कहा — 'आप मेरे रहते हुए जरा भी चिन्ता न कीजियेगा। मैं इन गीदड़ों को अभी मार कर भगाये देता हूँ।' ऐसा कह कर युवराज ने हिरण्यक देव का, जिसका कि पहिले अटवी में वर्णन क

जयवर्मा को युद्ध के लिए चिन्तित देख कर युवराज अजितसेन ने कहा — 'आप मेरे रहते हुए जरा भी चिन्ता न कीजियेगा। मैं इन गीदड़ों को अभी मार कर भगाये देता हूँ।' ऐसा कह कर युवराज ने हिरण्यक देव का, जिसका कि पहिले अटवी में वर्णन कर चुके हैं, स्मरण किया। शीघ्र ही वह दिव्य अस्त्र-शस्त्रों से भरा हुआ एक रथ ले कर युवराज के पास आ गया। समस्त नगरवासियों को आश्चर्य से चकित करते हुए युवराज अजितसेन उस रथ पर सवार हुए। हिरण्यक देव चतुराईपूर्वक रथ को चलाने लगा। विद्याधरेन्द्र धरणीध्वज एवं कुमार अजितसेन का जम कर युद्ध हुआ। अन्त में कुमार ने उसे मार दिया, जिससे उसकी समस्त सेना भाग खड़ी हुई। कार्य हो चुकने पर युवराज ने सम्मानपूर्वक हिरण्यक देव को विदा किया एवं धूम-धाम से नगर में प्रवेश किया। कुमार की अनुपम वीरता देख कर समस्त पुरवासी हर्ष से फूले न समाते थे। राजा जयवर्मा ने किसी दिन शुभ-मुहूर्त में युवराज के साथ शशिप्रभा का विवाह कर दिया। विवाह के बाद युवराज कुछ दिन तक वहीं रह आये एवं शशिप्रभा के साथ सुखपूर्वक काम-क्रीड़ा करते रहे; फिर कुछ दिनों के बाद अयोध्यापुरी वापिस आ गये। पिता अजितञ्जय ने वधू सहित आए पुत्र को बड़े उत्सव के साथ नगर में प्रवेश कराया। पुत्र के वीर कार्यों को सुन-सुन कर माता-पिता बहुत अधिक हर्षित होते थे।

किसी दिन अशोक नाम के वन में स्वयंप्रभ तीर्थङ्कर का समवशरण आया। वनमाली से जब राजा को इस बात का पता चला, तब वे शीघ्र ही तीर्थङ्कर की वन्दना के लिए गये। वहाँ जा कर उन्होंने आठ प्रातिहार्यों से शोभित स्वयंप्रभ जिनेन्द्र को नमस्कार किया एवं नमस्कार कर मनुष्यों के कोठे में बैठ गये। जिनेन्द्र के मुख से संसार का स्वरूप सुन कर वे इतने प्रभावित हुए कि वहीं पर गणधर महाराज से दीक्षा ले कर तप करने लगे।

युवराज अजितसेन को पिता के वियोग से बहुत अधिक दुःख हुआ; पर संसार की रीति का चिन्तवन कर वे कुछ दिनों बाद शान्त हो गये। मन्त्रिमण्डल ने युवराज का राज्याभिषेक किया। उधर महाराज अजितञ्जय को केवलज्ञान प्राप्त हुआ एवं इधर अजितसेन की आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ। 'पहिले धर्म कार्य ही करना चाहिये' — ऐसा सोच कर अजितसेन ने पहिले अजितञ्जय महाराज के कैवल्य-महोत्सव में सहयोग दिया। फिर वहाँ से आ कर दिग्विजय के लिए गये। उस समय उनकी विशाल सेना एक लहराते

हुए समुद्र की तरह प्रतीत होती थी। इस सेना के आगे चक्ररत्न चल रहा था। क्रम से उन्होंने समस्त भरतक्षेत्र की यात्रा कर उसे अपने आधीन कर लिया। जब चक्रधर अजितसेन दिग्विजयी होकर वापिस लौटे, तब हजारों मुकुटबद्ध राजाओं ने उनका स्वागत किया। राजधानी अयोध्या में आ कर अजितसेन महाराज न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे।

इनके राज्य में कभी कोई खाने-पीने के लिए दुःखी नहीं होता था। एक दिन इन्होंने मासोपवासी अरिंदम मुनि को आहार-दान दिया, जिससे देवों ने इनके महल पर पञ्चाश्चर्य प्रकट किये थे। सच है, पात्र-दान से क्या नहीं होता ?

एक दिन राजा अजितसेन वहाँ के मनोहर उद्यान में गुणप्रभ तीर्थङ्कर की वन्दना करने के लिए गये थे। वहाँ पर उन्होंने तीर्थङ्कर के मुख से धर्म का स्वरूप सुना, अपने भवान्तर पूछे, चारों गतियों के दुःख सुने, जिससे उनका हृदय बहुत अधिक विरक्त हो गया। निदान उन्होंने पुत्र जितशत्रु को राज्य सौंप कर अनेक राजाओं के साथ जिन-दीक्षा धारण कर ली। उन्होने अतिचार रहित तपश्चरण किया एव आयु के अन्त में नमस्तिलक नामक पर्वत पर समाधिपूर्वक शरीर त्याग कर सोलहवें अच्युत स्वर्ग के शान्तिकर विमान में इन्द्र पद प्राप्त किया। वहाँ उनकी आयु बाईस सागर की थी, तीन हाथ का शरीर था, शुक्ललेश्या थी। वे बाईस हजार वर्ष बीत जाने पर एक बार मानसिक आहार ग्रहण करते थे एव बाईस पक्ष बाद एक बार श्वास लेते थे। उन्हें जन्म से ही अवधिज्ञान था, वे तीनों लोकों में इच्छानुसार विहार कर सकते थे। इस तरह वहाँ दीर्घकाल तक वे स्वर्गीय सुख भोगते रहे।

धीरे-धीरे उनकी बाईस सागर प्रमाण आयु समाप्त हो गई; पर उन्हें कुछ पता नहीं चला। ठीक ही कहा है — 'साता उदै न लख परै कैता बीता काल।' वहाँ से चय कर वह पूर्व धातकीखण्ड में सीता नदी के दक्षिण तट पर स्थित मगलावती देश के रत्न-सञ्चयपुर नगर में राजा कनकप्रभ एव रानी कनकमाला के पद्मनाभ नाम का पुत्र हुआ। पद्मनाभ बड़ा ही तार्किक एव न्याय-शास्त्र का वेत्ता था। उसके बल-पौरुष की सब ओर प्रशसा छाई हुई थी।

एक दिन कनकप्रभ महाराज भवन की छत पर बैठ कर नगर की शोभा देख रहे थे कि उनकी दृष्टि

१२४

सहसा एक पल्वल-स्वल्प जलाशय पर पड़ी। नगर के बहुत से बैल उसमें जल पी-पी कर बाहर निकलते जाते थे। उसी में एक बूढा बैल भी जल पीने के लिए गया, पर वह जल के पास पहुँचने के पहिले ही कीचड़ में फँस गया। असमर्थ होने के कारण वह कीचड़ से

सहसा एक पल्लव-स्वल्प जलाशय पर पड़ी। नगर के बहुत से बैल उसमें जल पी-पी कर बाहर निकलते जाते थे। उसी में एक बूढ़ा बैल भी जल पीने के लिए गया, पर वह जल के पास पहुँचने के पहिले ही कीचड़ में फँस गया। असमर्थ होने के कारण वह कीचड़ से बाहर नहीं निकल सका, जिससे वह प्यासा बैल वहीं तड़फने लगा। उसकी बेचैनी देख कर कनकप्रभ महाराज का हृदय विषय-भोगों से अत्यन्त विरक्त हो गया, जिससे वे पद्मनाभ को राज्य सौंप कर श्रीधर मुनिराज के पास दीक्षा ले कर तपस्या करने लगे।

इधर पद्मनाभ ने नीतिपूर्वक राज्य करना प्रारम्भ कर दिया। उनका अनेक राज-कुमारियों के साथ विवाह हुआ था, जिनमें सोमप्रभा मुख्य थी। कालक्रम से सोमप्रभा के सुवर्णनाभि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उन सब से पद्मनाभ का गार्हस्थ्य जीवन बहुत अधिक सुखमय हो गया था।

एक दिन राजा पद्मनाभ सभा में बैठे हुए थे कि वनमाली ने आकर उन्हें मनोहर नामक उद्यान में श्रीधर मुनिराज के आगमन का शुभ समाचार सुनाया। राजा ने प्रसन्न होकर वनमाली को बहुत पारितोषिक दिया एव सिंहासन से उतर कर जिस ओर मुनिराज थे, उस ओर सात कदम आगे जा कर उन्हें परोक्ष नमस्कार किया। उसी समय मुनि-वन्दना को चलने के लिए नगर में भेरी बजवाई गई। जब समस्त पुरवासी उत्तम-उत्तम वस्त्र-आभूषण पहिन कर हाथों में पूजा की सामग्री लिए हुए राजद्वार पर जमा हो गये, तब सब को साथ ले कर वे उस उद्यान में गये, जहाँ मुनिराज श्रीधर विराजमान थे। राजा ने दूर से ही राज्य-चिह्न त्याग कर विनीत भाव से वन में प्रवेश किया एव मुनिराज के पास पहुँच कर उन्हें साष्टाङ्ग नमस्कार किया। मुनिराज ने 'धर्म वृद्धिरस्तु' कह कर सब के नमस्कार का उत्तर दिया।

जब 'जय-जय' घोष का कोलाहल शान्त हो गया, तब पद्मनाभ ने मुनिराज से दर्शन-विषयक अनेक प्रश्न किये। मुनिराज के मुख से समुचित उत्तर पा कर वे बहुत अधिक हर्षित हुए। बाद में उन्होंने मुनिराज से अपने पूर्व-भव पूछे, तो मुनिराज ने उनके अनेक पूर्व-भवों का वर्णन किया। वन से लौट कर पद्मनाभ राज-भवन में वापिस आ गये एव वहाँ कुछ दिनों तक राज्य शासन करते रहे।

अन्त में उनका चित्त किसी कारणवश विषय-वासनाओं से विरक्त हो गया, जिससे उन्होंने अपने पुत्र सुवर्णनाभि को राज्य सौंप कर किन्हीं महामुनि के पास जिन-दीक्षा ले ली। उनके साथ में अन्य भी अनेक

राजाओं ने दीक्षा ली थी। मुनिराज पद्मनाभ ने गुरु के पास रह कर खूब अध्ययन किया, जिससे उन्हें ग्यारह अङ्गों तक का ज्ञान हो गया। उसी समय उन्होंने दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर 'तीर्थङ्कर' नामक पुण्य-प्रकृति का बन्ध कर लिया एव आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक शरीर त्याग कर जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

वहाँ उनकी आयु तैतीस सागर की थी, एक हाथ ऊँचा श्वेत वर्ण का शरीर था। वे तैतीस हजार वर्ष बाद आहार एव तैतीस पक्ष बाद श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते थे। उन्हें जन्म से ही अवधिज्ञान था। यह अहमिन्द्र ही आगे के भव में अष्टम तीर्थङ्कर भगवान चन्द्रप्रभ होगा।

गीता छन्द — श्रीवर्मा भूपति पाल पुहमी, स्वर्ग पहिले सुर भयो।
पुनि अजितसेन छः खण्ड नायक, इन्द्र अच्युत में थयो॥
वर पद्मनाभि नरेश जिनवर, वैजयन्त विमान में।
चन्द्राभ स्वामी सातवें भव, भये पुरुष पुराण में॥ —भूधरदास

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक चन्द्रपुर नाम का नगर है। उसमें किसी समय इक्ष्वाकु-वशीय राजा महासेन राज्य करते थे, उनकी स्त्री का नाम लक्ष्मणा था। दोनों दम्पति सुख से समय बिताते थे। ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर आये हैं, उसकी जब वहाँ की आयु छह माह शेष रह गई थी, तभी से राजा महासेन के महल पर प्रतिदिन अनेक रत्नों की वर्षा होने लगी एव देवियाँ आ कर महारानी लक्ष्मणा की सेवा करने लगीं। यह सब देख कर राजा को निश्चय हो गया कि लक्ष्मणा की कुक्षि से तीर्थङ्कर पुत्र होनेवाला है।

चैत्र कृष्णा पञ्चमी के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र में लक्ष्मणा ने रात्रि के पिछले प्रहर में हाथी, बैल आदि सोलह स्वप्न देखे। उसी समय वह अहमिन्द्र जयन्त विमान से सम्बन्ध त्याग कर उसके गर्भ में आया। प्रातः होते ही देवों ने आ कर भगवान चन्द्रप्रभ के गर्भ-कल्याणक का उत्सव किया एवं माता-पिता की स्वर्ग से लाये हुए वस्त्राभूषणों से पूजा की।

गर्भ का समय बीत जाने पर लक्ष्मणा देवी ने पौष कृष्णा एकादशी के दिन अनुराधा नक्षत्र में मति-श्रुति-अवधि — इन तीन ज्ञानों से भूषित पुत्र-रत्न प्रसव किया। भगवान चन्द्रप्रभ के जन्म से समस्त लोक [illegible]

गर्भ का समय बीत जाने पर लक्ष्मणा देवी ने पौष कृष्णा एकादशी के दिन अनुराधा नक्षत्र में मति-श्रुति-अवधि — इन तीन ज्ञानों से भूषित पुत्र-रत्न प्रसव किया। भगवान चन्द्रप्रभ के जन्म से समस्त लोक में आनन्द छा गया। क्षण-भर के लिए नारकियों ने भी सुख का अनुभव किया। उसी समय देवों ने मेरु पर्वत पर ले जा कर उनका जन्माभिषेक किया एवं 'चन्द्रप्रभ' नाम रक्खा। बालक चन्द्रप्रभ अपनी सरल चेष्टाओं से माता-पिता आदि को हर्षित करते हुए बढ़ने लगे।

श्री सुपार्श्वनाथ स्वामी के मोक्ष जाने के बाद नौ सौ करोड़ सागर बीत जाने पर अष्टम तीर्थङ्कर भगवान चन्द्रप्रभ हुए थे। इनकी आयु भी इसी में युक्त है। आयु दश लाख पूर्व की थी, शरीर एक सौ पचास धनुष ऊँचा था एवं रङ्ग चन्द्रमा के समान धवल था। दो लाख पचास हजार वर्ष बीत जाने पर उन्हें राज्य-विभूति प्राप्त हुई थी। उनका विवाह भी कई कुलीन कन्याओं के साथ हुआ था, जिससे उनका गार्हस्थ्य जीवन बहुत अधिक सुखमय हो गया था।

जब राज्य करते-करते उनकी आयु के छह लाख पचास हजार पूर्व एवं चौबीस पूर्वाङ्ग क्षण मात्र के समान बीत गये; तब वे एक दिन वस्त्राभूषण धारण करने के लिए अलङ्कार-गृह में गये। वहाँ ज्यों ही उन्होंने दर्पण में अपना मुख देखा, त्यों ही उन्हें मुख पर कुछ विकार-सा प्रतीत हुआ, जिससे उनका हृदय सांसारिक भोगों से विरक्त हो गया। वे सोचने लगे — 'यह शरीर प्रतिदिन कितना ही क्यों न सजाया जाय, पर काल पा कर विकृत हुए बिना नहीं रह सकता। विकृत होने की तो बात ही क्या ? यह सम्पूर्ण नष्ट ही हो जाता है। इस शरीर में राग रहने से उससे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य भी अनेक पदार्थों से राग करना पड़ता है। अब मैं ऐसा कोई कार्य करूँगा, जिससे आगे के भव में यह शरीर प्राप्त न हो।' तभी लौकान्तिक देवों ने भी आ कर उनके चिन्तवन का समर्थन किया।

भगवान चन्द्रप्रभ अपने वर पुत्र चन्द्र को राज्य सौप कर देवनिर्मित विमला पालकी पर सवार होकर सर्वर्तुक नाम के वन में पहुँचे एवं वहाँ सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार कर पौष कृष्णा एकादशी के दिन अनुराधा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ निर्ग्रन्थ मुनि हो गये। उन्हें दीक्षा के समय ही मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। वे दो दिन बाद आहार लेने की इच्छा से नलिनपुर नगर में गये, वहाँ महाराज सोमदत्त ने उन्हें

पडगाह कर नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया। पात्र-दान के प्रभाव से देवों ने सोमदत्त के महल पर पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। मुनिराज चन्द्रप्रभ नलिनपुर से लौट कर वन में आ कर फिर ध्यानारूढ़ हो गये। इस तरह छद्मस्थ अवस्था में तप करते हुए उन्हें तीन माह बीत गये। फिर उसी सर्वर्तुक वन मे नाग वृक्ष के नीचे वे दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा कर विराजमान हो गये। वहीं उन्होंने क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर मोहनीय कर्म का नाश किया एव शुक्ल ध्यान के प्रताप से शेष तीन घातिया कर्मो का भी नाश कर दिया, जिससे उन्हें फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को अनुराधा नक्षत्र में सन्ध्या समय दिव्य ज्योतिर्मय लोकालोक-प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त हो गया था। देवों ने आ कर ज्ञान-कल्याणक का उत्सव किया। इन्द्र की आज्ञा पा कर कुबेर ने वहीं पर समवशरण की रचना की थी, जिसमे समस्त प्राणी सुख से बैठे थे। समवशरण के मध्य में स्थित होकर भगवान चन्द्रप्रभ ने अपना मौन भङ्ग किया अर्थात् दिव्य-ध्वनि के द्वारा कल्याणकारी उपदेश दिया, जिससे प्रभावित होकर अनेक नर-नारियों ने मुनि, आर्यिका, श्रावक एव श्राविकाओं के व्रत धारण किये। दिव्य-ध्वनि समाप्त होने के बाद इन्द्र ने विहार करने की प्रार्थना की। उन्होंने अनेक देशों में विहार किया एव अनेक भव्य प्राणियों को ससार-सागर से उबार कर मोक्ष कराया।

उनके समवशरण मे दत्त आदि तिरानवे गणधर थे, दो हजार द्वादशांग के जानकार थे, दो लाख चार सौ शिक्षक थे, दश हजार केवली थे, चौदह हजार विक्रिया ऋद्धिवाले थे, आठ हजार मनःपर्यय ज्ञानी थे एवं सात हजार छह सौ वादी थे। इस तरह सब मिला कर ढाई लाख मुनिराज थे। वरुण आदि तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएँ थीं। तीन लाख श्रावक एव पाँच लाख श्राविकाएँ थीं। असख्यात देव-देवियाँ एव असख्यात तिर्यञ्च थे। उन्होंने अनेक स्थान पर घूम-घूम कर धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति की एव अन्त में श्री सम्मेदशिखर पर आ कर विराजमान हुए। वहाँ उन्होंने एक हजार मुनियो के साथ प्रतिमा-योग धारण किया, जिससे उन्हें एक माह बाद फाल्गुन शुक्ला सप्तमी के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र में सन्ध्या के समय मोक्ष की प्राप्ति हो गयी। देवों ने आ कर उनके निर्वाणक्षेत्र की पूजा की। तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ के चन्द्रमा का चिह्न था।

(९) भगवान श्री पुष्पदन्तजी (श्री सुविधिनाथ)

(९) भगवान श्री पुष्पदन्तजी (श्री सुविधिनाथ)

शान्तं वपुः श्रवणहारि वचश्चरित्रं, सर्वोपकारी तव देव ! ततो भवन्तम् ।
संसार मारव महास्थल रुद्रसान्द्र च्छाया महीरुह मिमे सुविधिं श्रयामः ॥

—आचार्य गुणभद्र

हे देव ! आप का शरीर शान्त है, आप के वचन कानों को सुख देनेवाले हैं एवं आप का चरित्र सब का उपकार करनेवाला है। इसलिये हे देव ! हम सब, ससार रूपी विशाल मरुस्थल में सघन छायावाले वृक्ष-स्वरूप आप सुविधिनाथ पुष्पदन्त का आश्रय लेते हैं।

पूर्व-भव परिचय

पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व मेरु से पूर्व दिशा की ओर अत्यन्त प्रसिद्ध विदेहक्षेत्र है, उसमें सीता नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती देश है, जो अनेक समृद्धिशाली ग्राम-नगर आदि से भरा हुआ है। उसमें पुण्डरीकिणी नाम की एक नगरी है। उसमें किसी समय महापद्म नाम का राजा राज्य करता था। वह अत्यधिक बलवान था, बुद्धिमान था। उसके बाहुबल के सामने अनेक अजेय राजाओं को भी आश्चर्य-सागर में गोते लगाने पडते थे। उसके राज्य में खोजने पर भी दरिद्र नहीं मिलता था। वह हमेशा विद्वानों का समुचित आदर करता था एव योग्य वृत्तियाँ सौप कर उन्हें नये शोध-कार्य के लिए प्रोत्साहित किया करता था। उसने काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ एव मोह — इन छह अन्तरङ्ग शत्रुओं को जीत लिया था। समस्त प्रजा उसकी आज्ञा को माला की भाँति अपने हृदय में धारण करती थी। प्रजा उसकी भलाई के लिए सब कुछ न्यौछावर कर देती थी एव वह भी प्रजा की भलाई के लिए कोई बात उठा नहीं रखता था।

एक दिन वहाँ के मनोहर नामक वन में महामुनि भूतहित पधारे। नगर के समस्त लोग उनकी वन्दना के लिए गये। राजा महापद्म भी अपने समस्त परिवार के साथ मुनिराज के दर्शन के लिए गया। वह वहाँ

पर मुनिराज की भव्य मूर्ति एव उनके प्रभावक उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उसी समय राज्य-
सुख, स्त्री-सुख आदि से मोह त्याग दिया एव पुत्र धनद को राज्य सौप कर दीक्षा ले ली। महामुनि भूतहित
के पास रह कर उसने कठिन तपस्या की एव अध्ययन कर ग्यारह अङ्गों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। एक
समय उसने निर्मल हृदय से दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन किया, जिससे उसे
'तीर्थङ्कर' नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। अन्त में वह समाधिपूर्वक शरीर त्याग कर चौदहवें अनन्त
स्वर्ग में इन्द्र हुआ। वहाँ उसकी आयु बीस सागर की थी, तीन हाथ का शरीर था, शुक्ल लेश्या थी। वह
बीस पक्ष (दस माह) बाद श्वास लेता था; बीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता था, उसके मानसिक
प्रवीचार था एव पाँचवें नरक तक की बात जाननेवाला अवधिज्ञान था। उसके वैक्रियक शरीर था एवं उस
पर भी अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व एवं वशित्व — ये आठ ऋद्धियाँ थीं। वह
अनेक क्षेत्रों में घूम-घूम कर प्रकृति की सुन्दरता का निरीक्षण करता था। वह कभी उदयाचल के शिखर
पर बैठ कर सूर्योदय की सुन्दर शोभा देखता, कभी अस्ताचल की चोटियों पर बैठ कर सूर्यास्त की सुषमा
देखता। कभी मेरु पर्वत पर पहुँच कर नन्दन वन में क्रीड़ा करता, कभी समुद्रों के तट पर बैठ कर उनकी
लहरों का उत्ताल नर्त्तन देखता एव कभी हरी-भरी अटवियों में विहार कर हर्ष से नाचते हुए मयूरों का
नर्त्तन देख कर खुश होता था। यह इन्द्र ही आगे चल कर पुष्पदन्त तीर्थङ्कर होगा।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में एक काकन्दी नाम की महा मनोहर नगरी थी। उसमें इक्ष्वाकुवंशीय राजा
सुग्रीव राज्य करते थे उनकी स्त्री का नाम जयरामा था। जब इन्द्र की आयु वहाँ पर केवल छह माह की शेष
रह गई, तभी से देवों ने सुग्रीव महाराज के महल पर रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी। अनेक देव-
कुमारियाँ आ-आ कर महारानी जयरामा की सेवा करने लगीं। फाल्गुन कृष्ण नवमी के दिन मूल नक्षत्र में
शेष प्रहर के समय रानी जयरामा ने सोलह स्वप्न देखे। उसी समय इन्द्र ने स्वर्ग वसुन्धरा से मोह त्याग
कर उसके गर्भ में प्रवेश किया। प्रातः होते ही जब उसने पतिदेव से स्वप्नों का फल पूछा, तब उन्होंने कहा—

'आज तुम्हारे गर्भ में तीर्थङ्कर पुत्र ने अवतार लिया है। वह महा पुण्यशाली पुरुष है। देखो न! उसके गर्भ में आने के छह माह पहिले से प्रतिदिन करोड़ों रत्न बरस रहे हैं एवं देव-कुमारियाँ तुम्हारी सेवा कर रही हैं।' प्राणनाथ के मुख से स्वप्नों का फल सुन कर रानी जयरामा हर्ष से फूली न समाती थी।

जब धीरे-धीरे गर्भ का समय पूरा हो गया, तब उसके मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा के दिन उत्तम पुत्र उत्पन्न हुआ। उसी समय इन्द्रादि देवों ने आ कर मेरु पर्वत पर क्षीर-सागर के जल से उस सद्य-प्रसूत बालक का जन्माभिषेक किया एवं उनका 'पुष्पदन्त' नाम रक्खा। उधर महाराज सुग्रीव ने भी दिल खोल कर पुत्रोत्पत्ति का उत्सव मनाया। बालक पुष्पदन्त बाल-इन्दु की तरह क्रम से बढ़ने लगे।

भगवान चन्द्रप्रभ के मोक्ष जाने के बाद नब्बे करोड़ सागर बीत जाने पर भगवान पुष्पदन्त हुए थे। इनकी आयु भी इसी अन्तराल में युक्त है। पुष्पदन्त की आयु दो लाख पूर्व की थी, शरीर की ऊँचाई सौ धनुष की थी एव लेश्या कुन्द के पुष्प के समान शुक्ल थी। जब उनकी कुमार अवस्था के पचास हजार पूर्व बीत गये थे, तब उन्हें राज्य प्राप्त हुआ था। राज्य को बागडोर ज्यों हो भगवान पुष्पदन्त के हाथ में आई, त्यों हो उसकी अवस्था बिलकुल बदल गई थी। उनका राज्यक्षेत्र प्रतिदिन बढ़ता जाता था। उनके मित्र राजाओं की सीमित सख्या न थी, प्रजा हर एक प्रकार से सुखी थी। भगवान पुष्पदन्त का जिन कुलीन कन्याओं के साथ विवाह हुआ था, उनकी रूप-राशि एव गुण-गरिमा को देख कर देव-बालाएँ भी लज्जित हो जाती थीं। राज्य करते हुए जब उनके और पचास हजार पूर्व एव अट्ठाईस पूर्वाङ्ग भी व्यतीत हो गये, तब एक दिन उल्कापात देखने से उनका हृदय विरक्त हो गया। वे सोचने लगे — 'इस ससार में कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है। सूर्योदय के समय जिस वस्तु को देखता हूँ, उसे सूर्यास्त के समय नहीं पाता हूँ। जिस तरह ईधन से कभी अग्नि सन्तुष्ट नहीं होती, उसी तरह पचेन्द्रियों के विषयों से मानव-अभिलाषाएँ कभी सन्तुष्ट नहीं होतीं'— पूर्ण नहीं होतीं। खेद है कि मैं ने अपनी विशाल आयु साधारण मनुष्यों की तरह यों ही बिता दी। दुर्लभ मनुष्य-पर्याय पा कर मैं ने उसका अभी तक सदुपयोग नहीं किया। आज मेरे अन्तरङ्ग-नेत्र खुल गये हैं, जिससे मुझे कल्याण का मार्ग स्पष्ट दीख रहा है। वह मार्ग है कि समस्त परिवार एवं राज्य-कार्य से विमुक्त हो, निर्जन वन में बैठ कर आत्म-ध्यान करूँ। लौकान्तिक देवों ने भी आ कर उनके चिन्तवन का

समर्थन किया, जिससे उनका वैराग्य अत्यधिक बढ़ गया। निदान वे सुमति नामक पुत्र को राज्य का भार सौंप कर देवनिर्मित 'सूर्यप्रभा' पालकी पर सवार हो पुष्पक वन में गये। वहाँ उन्होंने मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा के दिन सध्या के समय एक हजार राजाओं के साथ जिन-दीक्षा ले ली। उसी समय उन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। देवगण तप-कल्याणक उत्सव मना कर अपने-अपने स्थानों पर वापिस चले गये। जब वे दो दिन बाद आहार लेने के लिए शैलपुर नामक नगर में गये, तब उन्हें वहाँ के राजा पुष्पमित्र ने विनयपूर्वक पड़गाह कर नवधा-भक्ति से शुद्ध सुस्वादु आहार दिया। पात्र-दान से प्रभावित होकर देवों ने राजा पुष्पमित्र के महल पर पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। भगवान पुष्पदन्त आहार ले कर वन में लौट आये एव वहाँ पहिले की तरह फिर से आत्म-ध्यान मे लीन हो गये। वे ध्यान पूर्ण होने पर कभी प्रतिदिन एव कभी दो, तीन, चार या इससे भी अधिक दिनों के अन्तराल से पास के किसी नगर में आहार लेने के लिए जाते थे एव वहाँ से लौट कर पुनः वन में ध्यानैकतान हो जाते थे। इस तरह तपश्चरण करते हुए जब उनकी छद्मस्थ अवस्था के चार वर्ष व्यतीत हो गये, तब वे दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा ले कर पुष्पक नामक दीक्षा-वन में नाग वृक्ष के नीचे ध्यान लगा कर बैठ गये। वहीं पर उन्हें कार्तिक शुक्ला द्वितीया के दिन मूल नक्षत्र में सध्या के समय घातिया-कर्मों का नाश होने से 'केवलज्ञान' आदि अनन्त चतुष्टय प्राप्त हो गये।

देवों ने आ कर उनके ज्ञान-कल्याणक का उत्सव मनाया। इन्द्र की आज्ञा से राज-कुबेर ने सुन्दर एवं सुविशाल समवशरण की रचना की। उसके मध्य में स्थित होकर भगवान पुष्पदन्त ने अपने दिव्य उपदेश से समस्त जीवों को सन्तुष्ट किया। फिर इन्द्र की प्रार्थना से उन्होंने देश-विदेश में विहार कर सद्धर्म का प्रचार किया। उनके समवशरण में विदर्भ आदि अट्ठासी गणधर थे, पन्द्रह सौ श्रुतकेवली द्वादशांग के जानकार थे, एक लाख पचपन हजार पाँच सौ शिक्षक थे, आठ हजार चार सौ अवधिज्ञानी थे, तेरह हजार विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, सात हजार पाँच सौ मनःपर्यय ज्ञानी एव छह हजार छह सौ वादी थे। इस तरह सब मिला कर दो लाख मुनिराज थे। घोषार्या आदि को लेकर तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएँ थीं। दो लाख श्रावक थे, पाँच लाख श्राविकाएँ थीं, असख्यात देव-देवियाँ एव असख्यात तिर्यञ्च थे।

वे आयु के अन्त समय में श्री सम्मेदशिखर पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ योग-

निरोध किया एवं अन्त में शुक्ल-ध्यान के द्वारा अघातिया-कर्मों का नाश कर भादों शुक्ला अष्टमी के दिन मूल नक्षत्र में सध्या के समय मोक्ष प्राप्त किया। उसी समय इन्द्रादि देवों ने आ कर उनके निर्वाण-कल्याणक की पूजा की। भगवान पुष्पदन्त का ही दूसरा नाम सुविधिनाथ था। इनके मगर का चिह्न था।

(१०) भगवान श्री शीतलनाथजी

न शीतलश्चन्दन चन्द्ररश्मयो न गांगमम्भो नचहार यष्टयः।
यथामुनेस्तेऽनघ वाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ॥

—आचार्य समन्तभद्र

'हे अनघ! शान्तिरूप जल से युक्त आप की वचन-रूपी शीतल किरणें विद्वानों के लिए जितनी शीतल हैं, उतनी शीतल न चन्द्रमा की किरणें हैं, न चन्दन है, न गङ्गा नदी का जल है एवं न मणियों का हार ही है। आप के वचनों की शीतलता में ससार का सन्ताप एक क्षण में दूर हो जाता है।'

पूर्व-भव परिचय

पुष्कर द्वीप के पूर्वार्ध भाग में जो मन्दारगिरि है, उससे पूर्व की ओर विदेहक्षेत्र में सीता नदी के पश्चिम किनारे पर वत्स नाम का देश है। उसके सुसीमा नामक नगर में राजा पद्मगुल्म राज्य करते थे। वे सतत् साम, दाम, दण्ड एवं भेद — इन चार नीतियों से पृथ्वी का पालन करते थे; सन्धि, विग्रह आदि राजोचित गुणों में परिपाक थे। शरद् ऋतु के चन्द्रमा की तरह उनका निर्मल यश समस्त देश में फैला हुआ था। वे अत्यन्त प्रतापी होकर भी साधु-स्वभावी पुरुष थे।

एक दिन महाराज पद्मगुल्म राज-सभा में बैठे हुए थे कि वनमाली ने उनके सामने आम के बौर, कुन्द-कुड्मल एव केशर आदि के पुष्प सादर रख कर कहा — 'महाराज ! ऋतुराज वसन्त के आगमन से उद्यान की शोभा अत्यधिक विचित्र हो गई है । आमों में बौर लग गये हैं, उन पर बैठी हुई कोयल मनोहर गीत गाती है, कुन्द के पुष्पों से सब दिशाएँ श्वेत हो रही हैं, मौलिश्री के सुगन्धित पुष्पों पर मधुप गुञ्जार कर रहे हैं, तालाबों में कमल के पुष्प खिल रहे हैं एव उनकी पीली केशर से तालाबों का समस्त जल पीला हो रहा है । उद्यान की प्रत्येक वस्तु आप के शुभागमन की आकांक्षा में लीन हो रही है ।'

वनमाली के मुख से वसन्त की शोभा का वर्णन सुन कर महाराज पद्मगुल्म बहुत अधिक हर्षित हुए। उसी समय उन्होने वन में जा कर वसन्तोत्सव मनाने की आज्ञा प्रदान की , जिससे नगर के समस्त पुरुष अपने-अपने परिवार के साथ वसन्त का उत्सव मनाने के लिए वन में जा पहुँचे । राजा पद्मगुल्म भी अपनी रानियों एव मित्र वर्ग के साथ वन में जा पहुँचे एव वहीं रहने लगे । उन दिनों में वहाँ नृत्य, सगीत आदि के मनोहारी उत्सव मनाये जा रहे थे। इसलिये क्रमशः वसन्त के दो माह व्यतीत हो गये; पर राजा को उसका पता नहीं चला । जब धीरे-धीरे वन से वसन्त की शोभा विदा हो गई एवं ग्रीष्म की तप्त लू चलने लगी, तब राजा का ध्यान उस ओर गया। वहाँ उन्होंने वसन्त की प्रतीक्षा की,पर उसका एक भी चिह्न उन्हें दृष्टिगोचर नहीं हुआ। यह देख कर महाराज पद्मगुल्म का हृदय विषयों से विरक्त हो गया। उन्होंने सोचा कि ससार के सब पदार्थ उसी वसन्त के समान क्षणभगुर हैं। मैं जिसे चिरतन समझ कर तरह-तरह की रगरेलियाँ कर रहा था, आज वही वसन्त अब यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता। अब न आमों में बौर दिखलाई पड़ रहा है एव न कहीं उन पर कोयल की मीठी आवाज ही सुनाई दे रही है। अब मलयानिल का पता नहीं है, किन्तु उसके स्थान पर ग्रीष्म की यह तप्त लू बह रही है। ओह ! अचेतन चीजों में इतना परिवर्तन ! पर मेरे हृदय में, भोग-विलासों में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ । खेद है कि मैं ने अपनी आयु का बहुत भाग यूँ ही बिता दिया, पर आज मेरे अन्तरङ्ग-नेत्र खुल गये हैं, आज मेरे हृदय में दिव्य-ज्योति प्रकाशित हो रही है। उसी प्रकाश में भी क्या मैं अपना हित न ढूँढ़ सकूँगा ? बस, मिल गया मन्त्र — हित का मार्ग। वह मार्ग यह है कि मैं अत्यधिक शीघ्र राज्य-जजाल से छुटकारा पा कर मुनि-दीक्षा धारण कर लूँ एवं किसी निर्जन वन में

रह कर आत्म-भण्डार को शान्ति-सुधा से भर लूँ ।' ऐसा चिन्तवन कर महाराज पद्मगुल्म वन से महल वापिस आये एव वहाँ पुत्र चन्दन को राज्य सौंप कर पुनः वन में पहुँ[illegible] आचार्य के पास जिन-दीक्षा ले ली ।
अब निर[illegible]

रह कर आत्म-भण्डार को शान्ति-सुधा से भर लूँ।' ऐसा चिन्तवन कर महाराज पद्मगुल्म वन से महल वापिस आये एवं वहाँ पुत्र चन्दन को राज्य सौंप कर पुनः वन में पहुँच गये। वहाँ उन्होंने आनन्द नामक आचार्य के पास जिन-दीक्षा ले ली।

अब मुनिराज पद्मगुल्म निर्जन वन में रह कर आत्म-शुद्धि करने लगे। गुरुदेव के चरण-कमलों के पास रह कर उन्होंने ग्यारह अङ्गों तक का ज्ञान प्राप्त किया एव दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिंतवन कर 'तीर्थङ्कर' नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध किया। जब आयु का अन्तिम समय आया, तब वे बाह्य पदार्थों से सर्वथा मोह त्याग कर समाधि में स्थित हो गये, जिससे मर कर पन्द्रहवें आरण स्वर्ग में इन्द्र हुए। वहाँ उनकी आयु बाईस सागर की थी, तीन हाथ का शरीर था, शुक्ल लेश्या थी, ग्यारह माह बाद सुगन्धित श्वासोच्छ्वास होता था एव बाईस मास बाद मानसिक आहार होता था। हजारों देवियाँ थीं, मानसिक प्रविचार था, अणिमा आदि आठ ऋद्धियाँ थीं एवं जन्म से ही अवधिज्ञान था। वहाँ उनका समय सुख से बीतने लगा। यही इन्द्र आगे भव में भगवान शीतलनाथ होंगे।

वर्तमान परिचय

इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में मलय देश के भद्रपुर नगर में इक्ष्वाकुवशीय दृढ़रथ नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम सुनन्दा था। भगवान शीतलनाथ उनके गर्भ में आने के छह माह पहिले से ही देवों ने दृढ़रथ एव सुनन्दा के महल पर रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी। चैत्र कृष्ण अष्टमी के दिन पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में महारानी सुनन्दा ने रात्रि के पिछले प्रहर में सोलह स्वप्न देखे। उसी समय उक्त आरण स्वर्ग के इन्द्र ने स्वर्ग-भूमि त्याग कर उनके गर्भ में प्रवेश किया। पति के मुख से स्वप्नों का फल सुन कर सुनन्दा रानी को जो हर्ष हुआ, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसी दिन देवों ने आ कर स्वर्ग के वस्त्राभूषणों से राज-दम्पति की पूजा की एवं गर्भ-कल्याणक का उत्सव मनाया। माघ कृष्णा द्वादशी के दिन पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में सुनन्दा के गर्भ से भगवान शीतलनाथ का जन्म हुआ। देवों ने मेरु पर्वत पर ले जा कर उनका जन्माभिषेक किया एव वहाँ से आ कर भद्रपुर में धूम-धाम से जन्म का उत्सव मनाया। इन्द्र ने बन्धु-बान्धवों

की सलाह से उनका 'शीतलनाथ' नाम रक्खा, जो वास्तव में योग्य था; क्योंकि उनकी पावन मूर्ति देखने से ही प्राणी मात्र के हृदय शीतल हो जाते थे। राज-परिवार में बड़े ही लाड़-प्यार से उनका पालन हुआ था। पुष्पदन्त स्वामी के मोक्ष जाने के बाद नौ करोड़ सागर बीत जाने पर भगवान शीतलनाथ हुए थे। इनके जन्म लेने के पहिले पल्य के चौथाई भाग तक धर्म का विच्छेद हो गया था। इनकी आयु एक लाख पूर्व की थी एवं शरीर नब्बे धनुष ऊँचा था। इनका शरीर सुवर्ण के समान उज्ज्वल पीत वर्ण का था। जब आयु का चौथाई भाग कुमार अवस्था में बीत गया, तब इन्हें राज्य की प्राप्ति हुई थी। राज्य पा कर इन्होंने भलीभाँति राज्य का पालन किया एव धर्म-अर्थ-काम का समान रूप से सेवन किया था।

एक दिन भगवान शीतलनाथ विहार करने के लिए एक वन में गये थे। जब वे वन में पहुँचे, तब सब वृक्ष हिम (ओस) से आच्छादित थे। पर थोड़ी देर बाद सूर्य का उदय काल होने से वह हिम (ओस) अपने-आप नष्ट हो गई थी। यह देख कर उनका हृदय विषयों की ओर से सर्वथा विरक्त हो गया। उन्होंने ससार के सब पदार्थों को हिम के समान क्षणभगुर समझ कर उनसे राग-भाव त्याग दिया वन में जा कर तप करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आ कर उनके उक्त चिन्तवन का समर्थन किया, जिससे उनकी वैराग्य-धारा अत्यधिक वेग से प्रवाहित हो उठी। निदान, पुत्र को राज्य सौंप कर देवनिर्मित शुक्रप्रभा पालकी पर सवार हो स्वय सहेतुक वन में जा पहुँचे एव वहाँ माघ कृष्णा द्वादशी के दिन पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में सध्या के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। आप को दीक्षा लेते ही मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था।

भगवान शीतलनाथ दो दिन के उपवास के बाद आहार लेने की इच्छा से अरिष्ट नामक नगर में गये। वहाँ राजा पुनर्वसु ने बड़ी प्रसन्नता से नवधा भक्तिपूर्वक उन्हें आहार दिया। पात्र-दान के प्रभाव से राजा पुनर्वसु के महल पर देवों पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। इस तरह तपश्चरण करते हुए उन्होंने अल्पज्ञ अवस्था में तीन वर्ष बिताये। फिर पौष कृष्णा चतुर्दशी के दिन सन्ध्या के समय पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में उन्हें दिव्य-आलोक 'केवलज्ञान' प्राप्त हुआ। उसी समय देवों ने आ कर ज्ञान-कल्याणक का उत्सव मनाया। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवशरण की रचना की। उसके मध्य में स्थित होकर आप ने सार्वभौम-धर्म का उपदेश दे कर उपस्थित जनता को सन्तुष्ट किया। इन्द्र की प्रार्थना से उन्होंने अनेक देशों में विहार कर ससार एव मोक्ष

[illegible] के प्रकाश से अन्धकार दूर हो जाता है। [illegible]

उनके समवशरण में ऋद्धियों के [illegible]

का स्वरूप बतलाया, दार्शनिक शंकाओं का समाधान किया एव सब को हित का मार्ग बतलाया। उनके उपदेश के प्रभाव से लोगों के हृदयों से धर्म-कर्म की शिथिलता उसी तरह दूर हो गई थी, जिस तरह सूर्य के प्रकाश से अन्धकार दूर हो जाता है।

उनके समवशरण में ऋद्धियों के एव मनःपर्यय ज्ञान के धारक इक्यासी गणधर थे। चौदह सौ द्वादशांग के जानकार थे। उनसठ हजार दो सौ शिक्षक थे, सात हजार दो सौ अवधिज्ञानी थे, सात हजार केवलज्ञानी थे, बारह हजार विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, सात हजार पाँच सौ मनःपर्यय ज्ञानो थे एव पाँच हजार सात सौ वादी मुनि थे। इस तरह सब मिला कर एक लाख मुनि थे। धारणा आदि तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएँ थीं, दो लाख श्रावक थे, चार लाख श्राविकायें थीं, असख्यात देव-देवियाँ थीं, असख्यात तिर्यञ्च थे।

जब भगवान शीतलनाथ की दिव्य-ध्वनि खिरती थी, तब समस्त सभा चित्र-लिखित-सी नीरव एव स्तब्ध हो जाती थी। वे आयु के अन्त समय में श्री सम्मेदशिखर पर जा पहुँचे। वहाँ एक महीने का योग-निरोध कर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग से विराजमान हो गये एव आश्विन शुक्ला अष्टमी के दिन पूर्वाषाढ़ नक्षत्र मे सन्ध्या के समय अघातिया-कर्मों का नाश कर स्वतन्त्र-सदन मोक्ष-महल को प्राप्त हुए। देवों ने आ कर निर्वाण-भूमि की पूजा की एवं उनके शरीर की भस्म अपने शरीर में लगा कर आनन्द से गाते-नाचते हुए अपने-अपने स्थान पर चले गये।

इनके तीर्थ के अन्त समय में काल दोष से वक्ता, श्रोता एवं धर्मातमा लोगों का अभाव होने से समीचीन-धर्म लुप्तप्राय हो गया था। इनके कल्प-वृक्ष का चिह्न था।

(११) भगवान श्री श्रेयान्सनाथजी

निर्धूय यस्य निज जन्मनि सत्यमस्त, मान्ध्यं चराचर मशेष मवेक्षमाराम् ।
ज्ञानंप्रतीत विरहान्निज रूप संस्थं श्रेयान् जिनः सदिशता दशिवच्युतिंवः ॥

—आचार्य गुणभद्र

'उत्पन्न होते ही समस्त अज्ञान-अन्धकार को नष्ट कर के सब चर-अचर पदार्थों को देखनेवाला जिनका उत्तम ज्ञान, बाधक कारणों का अभाव होने से, अपने स्वरूप में स्थिर हो गया था, वे श्री श्रेयान्स जिनेन्द्र तुम सब के अमङ्गल की हानि करें।'

पूर्व-भव परिचय

पुष्कर द्वीप के पूर्व मेरु से पूर्व दिशा की ओर विदेहक्षेत्र में एक सुकच्छ नाम का देश है। उसमें सीता नदी के तट पर एक क्षेमपुर नगर था। क्षेमपुर नगर में रहनेवाले मनुष्यों को निरन्तर क्षेम-मङ्गल प्राप्त होते रहते थे; इसलिये उसका 'क्षेमपुर' नाम वास्तव में ही सार्थक था। किसी समय उसमें नलिनप्रभ नाम का राजा राज्य करता था। उसका शरीर बहुत अधिक सुन्दर था। उसने अपने अनुपम बाहुबल से समस्त क्षत्रियों को जीत कर अपना राज्य निष्कण्टक बना लिया था। वह उत्साह, मन्त्र एवं प्रभाव — इन तीन शक्तियों से तथा इनसे प्राप्त हुई तीन सिद्धियों से सयुक्त था। उसकी बुद्धि का तो पार ही नहीं था। अच्छे-अच्छे मन्त्री जिन कामों का विचार भी नहीं कर सकते थे एवं जिन सामयिक समस्याओं को नहीं सुलझा पाते थे, उन्हें वह अनायास ही सोच लेता एवं सुलझा देता था। उसका अन्तःपुर सुन्दरी एवं सुशीला स्त्रियों से भरा हुआ था। उसके आज्ञाकारी पुत्र थे, निष्कण्टक राज्य था, अटूट सम्पत्ति थी। वह स्वस्थ एवं नीरोग था। इस तरह वह हर एक तरह से सुखी होकर प्रजा का पालन करता था। एक दिन राजा नलिनप्रभ राज-सभा में बैठा हुआ था, उसी समय वनमाली ने आ कर कहा — 'सहसाम्र वन में अनन्त नामक जिनेन्द्र आये

है। उनके प्रताप से वन की शोभा बड़ी ही विचित्र हो गई है। वहाँ सब ऋतुएँ एक साथ अपनी शोभा प्रकट कर रही हैं एव सिंह, हस्ती, सर्प, नेवला आदि जीव अपना जातीय बैर त्याग कर एक दूसरे से हिल-मिल रहे हैं।' जिनेन्द्र का आगमन सुन कर राजा को इतना हर्ष हुआ कि उसके समस्त शरीर में रोमांच होने लगा। वह वनमाली को उचित पारितोषिक दे कर परिवार सहित अनन्त जिनेन्द्र की वन्दना के लिए सहसाम्र वन में गया। वहाँ उनकी दिव्य मूर्ति देखते ही उसका हृदय भक्ति से गद्गद् हो गया। उसने उन्हें शिर झुका कर प्रणाम किया। अनन्त जिनेन्द्र ने प्रभावक शब्दों में तत्वों का व्याख्यान किया एवं अन्त में संसार के दुःखों का निरूपण किया। जिसे सुन कर नलिनप्रभ सहसा प्रतिबुद्ध हो गया; संसार से वह एकदम भयभीत हो उठा। उस समय उसकी अवस्था ठीक कोई बुरे स्वप्न देख कर जागे हुए मनुष्य की तरह हो रही थी। उसने उसी समय भर्राई हुई आवाज में कहा — 'नाथ! इन दुःखों से बचने का भी कोई उपाय है?' तब अनन्त जिनेन्द्र ने संसार के दुःख दूर करने के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का वर्णन किया। देशव्रत एवं महाव्रत का महत्व समझाया, जिससे वह विषयों से अत्यन्त विरक्त हो गया। उसने राजधानी जा कर पहिले तो अपने पुत्र को राज्य सौंप दिया एव फिर वन में जा कर अनेक राजाओं के साथ जिन-दीक्षा ले ली। वहाँ ग्यारह अङ्गों का अभ्यास कर सोलह भावनाओं का चिन्तवन किया, जिससे उसके 'तीर्थङ्कर' नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक शरीर त्याग कर मुनिराज नलिनप्रभ का जीव अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर नामक विमान में इन्द्र हुआ। वहाँ उसकी आयु बाईस सागर की थी। शरीर की ऊँचाई तीन हाथ की थी, लेश्या शुक्ल थी एवं जन्म से ही अवधिज्ञान था। वहाँ पर वह अनेक सुन्दरी देवियों के साथ बाईस सागर तक अनेक प्रकार के सुख भोगता रहा। यही इन्द्र आगे के भव में भगवान श्री श्रेयान्सनाथ होगा।

वर्तमान परिचय

जब पुष्पोत्तर विमान में उस इन्द्र की आयु केवल छह माह की शेष रह गई एवं पृथ्वी पर जन्म लेने के लिए वह प्रस्तुत हुआ; उस समय इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के सिंहपुर नगर में इक्ष्वाकुवंशीय राजा विष्णु राज्य

करते थे। उनकी महादेवी का नाम सुनन्दा था। ऊपर कहे हुए इन्द्र ने ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी के दिन श्रवण नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वर्ग-भूमि को त्याग कर सुनन्दा महारानी के गर्भ में प्रवेश किया। उस समय सुनन्दा ने हाथी, बैल आदि सोलह स्वप्न देखे थे। प्रातः होते ही उसने प्राणनाथ विष्णु महाराज से स्वप्नों का फल सुना, जिससे वह बहुत अधिक प्रसन्न हुई। उसी समय देवों ने आ कर राज-दम्पति का खूब सत्कार किया एव गर्भ-कल्याणक का उत्सव मनाया। वह गर्भस्थ बालक का ही प्रभाव था, जो उसके गर्भ में आने के छह माह पहिले से ले कर पन्द्रह माह तक महाराज विष्णु के महल पर प्रतिदिन रत्नों की वर्षा होती रही एव देव-कुमारियाँ महारानी सुनन्दा की शुश्रुषा करती रहीं।

धीरे-धीरे गर्भ का समय व्यतीत होने पर फालगुन कृष्णा एकादशी के दिन श्रवण नक्षत्र में सुनन्दा देवी ने पुत्र-रत्न उत्पन्न किया। उस समय अनेक शुभ शकुन हुए थे। देवों ने मेरु पर्वत पर ले जा कर बालक का कलशाभिषेक किया। फिर सिंहपुर प्रत्यावर्तन कर कई प्रकार से जन्म-महोत्सव मनाया। इन्द्र ने महाराज विष्णु के परामर्श से बालक का नाम 'श्रेयान्स' रक्खा। यह उचित ही था, क्योंकि वह आगे चल कर समस्त प्रजा को 'श्रेयोमार्ग' (मोक्षमार्ग) में प्रवृत्त करानेवाला होगा। उत्सव समाप्त कर देवगण अपने-अपने स्थान पर चले गये। पर जाते समय इन्द्र ऐसे,अनेक देव-कुमारों को वहीं पर छोड़ गया था, जो अपनी लीलाओं से बालक श्रेयांसनाथ को सतत् प्रसन्न करते थे। राज्य-परिवार में बड़े प्रेम से उनका लालन-पालन होने लगा।

इन्द्र स्वर्ग से उनके लिए अच्छे-अच्छे वस्त्र, आभूषण एव खिलौने आदि भेजा करता था। शीतलनाथ स्वामी के मोक्ष जाने के बाद सौ सागर, छयासठ लाख, छब्बीस हजार वर्ष कम एक सागर बीत जाने पर भगवान श्रेयांसनाथ हुए थे। इनकी आयु भी इसी अन्तराल में युक्त है। इनके जन्म लेने के पहिले भारतवर्ष में आधे पल्य तक धर्म का विच्छेद हो गया था। पर इनके उत्पन्न होते ही धर्म का उत्थान पुनः होने लगा था। इनकी आयु चौरासी लाख की थी, शरीर की ऊँचाई अस्सी धनुष की थी एव रङ्ग सुवर्ण के समान उज्ज्वल पीतवर्ण था।

जब उनके कुमार-काल के इक्कीस लाख पूर्व बीत गये, तब उन्हें राज्य प्राप्त हुआ। राज्य पा कर उन्होंने सुचारू रूप से प्रजा का पालन किया। वे अपने बल से निरन्तर दुष्टों का निग्रह करते एव सज्जनो पर अनुग्रह

करते थे। योग्य कुलीन कन्याओं के साथ उनका विवाह हुआ था। जिससे उनका राज्य-काल सुख से बीतता था। देवगण बीच-बीच में तरह-तरह के विनोदों से उन्हें प्रसन्न करते रहते थे। इस तरह इन्होंने बयालीस लाख वर्ष तक राज्य किया। इसके अनन्तर एक दिन वसन्त ऋतु का परिवर्तन देख कर इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया, जिससे इन्होंने दीक्षा ले कर तप करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आ कर इनकी स्तुति की। चारों निकायों के देवों ने दीक्षा-कल्याणक का उत्सव किया। भगवान श्रेयांसनाथ श्रेयस्कर नामक पुत्र को राज्य सौंप कर देवनिर्मित 'विमलप्रभा' पालकी पर सवार हो गये। देवगण उस पालकी को मनोहर नामक उद्यान में ले गये। वहाँ उन्होंने दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा कर फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन श्रवण नक्षत्र में प्रातः समय एक हजार राजाओं के साथ दिगम्बर दीक्षा ले ली। उन्हें दीक्षा लेते ही मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। तीसरे दिन चार ज्ञान के धारण करनेवाले भगवान श्रेयांसनाथ आहार लेने की इच्छा से सिद्धार्थ नगर में गये। वहाँ पर नन्द राजा ने उन्हें भक्तिपूर्वक आहार दिया। दान के प्रभाव से राजा नन्द के महल पर देवों ने पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। भगवान आहार ले कर वन में चले गये थे। इस तरह उन्होंने छद्मस्थ अवस्था में मौनपूर्वक दो वर्ष व्यतीत किये। इसके बाद दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा ले कर उसी मनोहर वन में तुम्बुर वृक्ष के नीचे ध्यान लगा कर विराजमान हुए। वहीं उन्हें माघ कृष्णा अमावस्या के दिन श्रवण नक्षत्र में सायकाल के समय लोकालोक को प्रकाशित करनेवाला 'पूर्ण ज्ञान' प्राप्त हो गया। उसी समय देवों ने आ कर उनका कैवल्य महोत्सव मनाया। कुबेर ने समवशरण की रचना की; उसके मध्य में सिंहासन पर अन्तरिक्ष विराजमान होकर उन्होंने अपना मौन भग किया अर्थात् दिव्य-ध्वनि के द्वारा सप्त-तत्व, नव पदार्थों का वर्णन किया। जिससे प्रभावित होकर अनेक नर-नारियों ने देश-व्रत एव महाव्रत ग्रहण किये। प्रथम उपदेश समाप्त होने पर इन्द्र ने मनोहर शब्दों में उनकी स्तुति की एव फिर विहार करने के लिए प्रार्थना की। आवश्यकता समझ कर उन्होंने आर्य क्षेत्रों में सर्वत्र विहार कर जैन-धर्म का प्रचार किया एव शीतलनाथ के अन्तिम तीर्थ में जो आधे पल्य तक धर्म का विच्छेद हो गया था, उसे दूर किया।

आचार्य गुणभद्र ने लिखा है कि उनके सतहत्तर गणधर थे, तेरह सौ ग्यारह श्रुतकेवली थे, अड़तालीस

हजार दो सौ शिक्षक थे, छह हजार अवधिज्ञानी थे, छह हजार पाँच सौ केवलज्ञानी थे, ग्यारह हजार विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, छह हजार मनःपर्यय ज्ञानी थे एव पाँच हजार वादी थे।

वे आयु के अन्त में श्री सम्मेदशिखर पर जा पहुँचे एव वहाँ एक महीने तक योग-निरोध कर एक हजार राजाओं के साथ प्रतिमा-योग से विराजमान हो गये। वहीं पर उन्होंने शुक्ल-ध्यान के द्वारा अघातिया-कर्मों की पचासी प्रकृतियों का क्षय कर श्रावण शुक्ला पूर्णमासो के दिन धनिष्ठा नक्षत्र में संध्या समय मुक्ति-मन्दिर (मोक्ष-महल) में प्रवेश किया। देवों ने आ कर उनके निर्वाण-क्षेत्र की पूजा की। इनका चिह्न था गेंडा।

(१२) भगवान श्री वासुपूज्यजी

शिवासु पूज्योभ्युदय कृयासु त्वं वासुपूज्य स्त्रिदशेन्द्र पूज्यः।
मयापि पूज्योऽल्पधिया मुनीन्द्रः दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः॥

—आचार्य समन्तभद्र

'हे मुनिराज! आप वासुपूज्य हैं, मगलमयी अभ्युदय क्रियाओं में देवराज के द्वारा पूजनीय हैं — पूजा करने के योग्य हैं। इसलिये मुझ अल्पबुद्धि के द्वारा भी पूजनीय हैं। क्या दीपक की ज्योति से सूर्य की पूजा नहीं होती?'

पूर्व-भव परिचय

पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व मेरु की ओर सीता नदी के पूर्वीय तट पर एक वसकावती देश है। उसके रत्नपुर नामक नगर में पद्मोत्तर नाम का राजा राज्य करता था। वह धर्म-अर्थ-काम का पालन करते समय

प्रजा को कभी नहीं भूलता था। कृपा की लाली की तरह उसका दिव्य प्रताप समस्त दिशाओं में फैल रहा था। उसका यश क्षीर-सागर की तरगों के समान शुक्ल था, पर उसके स्रोत की तरह चञ्चल नहीं था। उसके एक धनमित्र नाम का पुत्र था, जिसे राज्य-भार सौंप कर वह सुख से समय बिताता था।

एक दिन मनोहर नाम के पर्वत पर युगन्धर महाराज का शुभागमन हुआ। जब वनमाली ने राजा को उनके आगमन की सूचना दी, तब वह हर्ष से पुलकित-बदन हुआ। वह परिवार सहित उनकी वन्दना के लिए गया एव भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उचित स्थान पर बैठ गया। उस समय युगन्धर महाराज अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, वोधि-दुर्लभ, धर्म एव लोक — इन बारह भावनाओं का वर्णन कर रहे थे। ज्यों ही पद्मोत्तर राजा ने अनित्य आदि भावनाओं का स्वरूप सुना, त्यों ही उसके हृदय में वैराग्य-रूपी सागर हिलोरें लेने लगा। उसे ससार एव शरीर के प्रति अत्यन्त घृणा उत्पन्न हो गई। वह सोचने लगा कि मैं ने अपना विशाल जीवन व्यर्थ ही खो दिया। जिन स्त्रियों, पुत्रों एव राज्य के लिए मैं निरन्तर व्याकुल रहता हूँ, जिनके लिए मैं बुरे से बुरे कार्य करने में नहीं हिचकिचाता, वे एक भी मेरे साथ नहीं जावेंगे। मैं अकेला ही दुर्गतियों में पड़ कर दुःख की चक्कियों में पीसा जाऊँगा। ओह! कितना विशाल था मेरा अज्ञान? अभी तक मैं जिन भोगों को सब से अच्छा मानता था, आज वे ही भोग काले सर्पों की तरह भयानक प्रतीत होते हैं। धन्य है महाराज युगन्धर को! जिनके दिव्य उपदेश से पथ-भ्रान्त पथिक ठीक स्थान पर पहुँच जाते हैं। इन्होंने मेरे हृदय में दिव्य ज्योति का प्रकाश फैलाया है। जिससे मैं आज अच्छे एव बुरे का विचार कर सकने में समर्थ हुआ हूँ। जब तक मैं समस्त परिग्रह का त्याग कर निर्ग्रन्थ न हो जाऊँगा व इस निर्जन वन के विशुद्ध वातावरण में निवास नहीं करूँगा, तब तक मुझे चैन नहीं पड़ सकती आदि चिन्तवन कर वह महल गया एव युवराज धनमित्र को राज्य सौंप कर निःशल्य हो अनेक राजाओं के साथ वन में जा कर दीक्षित हो गया। दीक्षित होने के बाद मुनिराज पद्मोत्तर ने घोर तपश्चरण किया, निरन्तर शास्त्रों का अध्ययन कर ग्यारह अगों का ज्ञान प्राप्त किया एव दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तवन कर 'तीर्थङ्कर' नामक 'नाम कर्म' की पुण्य प्रकृति का वन्ध किया।

तदनन्तर आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक शरीर त्याग कर वह महाशुक्र स्वर्ग में महाशुक्र नाम का इन्द्र हुआ।

वहाँ उसकी सोलह सागर की आयु थी, चार हाथ का शरीर था, पद्म लेश्या थी। वह आठ महीने के बाद श्वासोच्छ्वास लेता एव सोलह हजार वर्ष बाद आहार ग्रहण करता था। वह अणिमा, महिमा आदि का स्वामी था। उसे जन्म से ही अवधिज्ञान प्राप्त हो गया था, जिससे वह नीचे चौथे नरक तक की बात जान लेता था। वहाँ अनेक देवियाँ अपने दिव्य रूप से उसे लुभाती रहती थीं। यही इन्द्र आगे के भव में भगवान वासुपूज्य होगा। कहाँ ? किसके यहाँ ? कब ? सो ध्यानपूर्वक सुनिये।

वर्तमान परिचय

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक चम्पा नगर है। उसमें इक्ष्वाकुवंशीय राजा वासुपूज्य राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम जयावती था। जब ऊपर कहे हुए इन्द्र की वहाँ की आयु केवल छह माह की बाकी रह गयी थी, तभी से कुबेर ने महाराज वासुपूज्य के महल पर रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी एव श्री, ह्री आदि देवियाँ महारानी की सेवा के लिए आ गई।

एक दिन महारानी जयावती ने रात्रि के पिछले प्रहर में ऐरावत आदि सोलह स्वप्न देखे। प्रातः उठ कर जब उसने प्राणनाथ से उनका फल पूछा, तब उन्होंने कहा—'आज आषाढ़ कृष्णा षष्ठी के दिन शतभिषा नक्षत्र में तुम्हारे गर्भ में किसी तीर्थङ्कर बालक ने प्रवेश किया है। ये स्वप्न उसी की विभूति के परिचायक हैं।' याद रखिये उसी दिन उस इन्द्र ने देवलोक से चय कर रानी जयावती के गर्भ में प्रवेश किया था। चतुर्णिकाय के देवों ने आकर गर्भ-कल्याणक का उत्सव मनाया एव उत्तम-उत्तम आभूषणों से राजा-रानी का सत्कार किया।

अनुक्रम से गर्भ के दिन पूर्ण होने पर रानी ने फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन पुत्र-रत्न का प्रसव किया। उसी समय हर्ष से नाचते-गाते हुए समस्त देवगण एव इन्द्रगण चम्पा नगर आये एव वहाँ से बाल तीर्थङ्कर को ऐरावत हाथी पर बैठा कर मेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ सौधर्म एव ऐशान इन्द्र ने उनका क्षीर-सागर के जल से अभिषेक किया। अभिषेक के बाद इन्द्राणी ने सुकोमल वस्त्रों से उनका शरीर पोंछ कर उन्हें उत्तम-उत्तम आभूषण पहिनाये एव इन्द्र ने मनोहर शब्दों में उनकी स्तुति की। यह सब कर चुकने के बाद देवगण बाल तीर्थङ्कर को चम्पा नगर मे वापिस ले आये। बालक का अतुल ऐश्वर्य देख कर माता जयावती

का हृदय मारे आनन्द से फूला न समाता था। इन्द्रगण ने अनेक उत्सव किये। बन्धु-बान्धवों के परामर्श से उनका 'वासुपूज्य' नाम रक्खा एव उनके विनोद के लिए अनेक देव-कुमारों को वहीं छोड़ कर सब के साथ स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया।

यहाँ राज-परिवार में बड़े प्रेम से भगवान वासुपूज्य का लालन-पालन होने लगा। भगवान श्रेयांसनाथ के मोक्ष चले जाने के बाद चौवन सागर व्यतीत होने पर वासुपूज्य स्वामी हुए थे। इनको आयु भी इसी प्रमाण में संयुक्त है, क्योंकि हर एक स्थान पर जो अन्तराल बतलाया गया है, वह एक तीर्थङ्कर के बाद दूसरे तीर्थङ्कर के मोक्ष होने तक का है, जन्म तक का नहीं है। उनकी आयु बहत्तर लाख वर्ष की थी, शरीर की ऊँचाई सत्तर धनुष की थी एव रङ्ग केशर के समान था। आप के जन्म लेने के पहिले तीन पल्य तक भारत-वर्ष में धर्म का विच्छेद रहा था; पर ज्यों हो आप उत्पन्न हुए, त्यों ही लोग पुनः जैन-धर्म में दीक्षित हो गये थे। जब उनके कुमार काल के अठारह लाख वर्ष बीत चुके, तब महाराज वासुपूज्य ने उन्हें राज्य सौंप कर उनका विवाह करना चाहा। पर किसी कारण से उनका हृदय विषय-भोगों से सर्वथा विरक्त हो गया। उन्होंने न तो राज्य लेना स्वीकार किया एव न विवाह करना हो। किन्तु उदासीन होकर वे दुःखमय ससार का स्वरूप सोचने लगे। उन्होंने क्रम-क्रम से अनित्य आदि भावनाओं का चिन्तवन किया, जिससे उनका वैराग्य परम अवधि तक पहुँच गया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आ कर दोक्षा-कल्याणक का उत्सव किया। भगवान वासुपूज्य देव-निर्मित पालकी पर सवार होकर मनोहर नामक वन में पहुँचे एवं वहाँ आत्मीयजनों से पूछ कर उन्होंने फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशो के दिन विशाखा नक्षत्र में सध्या के समय दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा ले कर जिन-दीक्षा ले ली। पारणा के दिन आहार लेने की इच्छा से उन्होंने महानगर में प्रवेश किया। वहाॅ पर सुन्दर नामक राजा ने उन्हें भक्तिपूर्वक आहार दिया। उससे प्रभावित होकर देवों ने उनके महल पर पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। भगवान वासुपूज्य आहार ले कर पुनः वन में लौट गये। इस तरह कठिन तपस्या करते हुए उन्होने छद्मस्थ अवस्था का एक वर्ष मौनपूर्वक व्यतीत किया। उसके बाद वे दीक्षा-वन में जा पहुँचे एव वहाॅ उपवास को प्रतिज्ञा ले कर कदम्ब वृक्ष के नीचे ध्यान लगा कर विराजमान हुए। उसी समय उन्हें माघ शुक्ला द्वितीया के दिन विशाखा नक्षत्र मे सध्या के समय पूर्ण ज्ञान 'केवलज्ञान' प्राप्त हो

गया। देवों ने आ कर ज्ञान-कल्याणक का उत्सव मनाया। इन्द्रगण की आज्ञा पा कर कुबेर ने दिव्य सभा 'समवशरण' की रचना की, जिसके बीच में स्थित होकर उन्होंने सात तत्व, नव पदार्थ, छह द्रव्य, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र आदि अनेक विषयों का व्याख्यान दे कर अपना मौन भङ्ग किया।

उनके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक भव्य नर-नारियों ने यथाशक्ति व्रत-विधान धारण किये। इन्द्रगण के प्रार्थना करने पर उन्होंने प्रायः सभी आर्य-क्षेत्रों में विहार किया। जिससे समस्त लोग पुनः जैन-धर्म में दीक्षित हो गये। पथभ्रान्त पथिक पुनः सच्चे पथ पर आ गये।

उनके समवशरण में धर्म आदि छियासठ गणधर थे, बारह सौ ग्यारह अङ्ग एवं चौदह पूर्व के जानकार थे, उनतालीस हजार दो सौ शिक्षक थे, पाँच हजार चार सौ अवधिज्ञानी थे, छह हजार केवली थे, दश हजार विक्रिया-ऋद्धि के धारक थे, छह हजार मनःपर्यय ज्ञानी थे एवं चार हजार दो सौ वादी थे; इस तरह बहत्तर हजार मुनिराज थे। इनके अतिरिक्त सेना आदि एक लाख छह हजार आर्यिकाएँ थीं, दो लाख श्रावक, चार लाख श्राविकाएँ, असख्यात देव-देवियाँ एव असख्यात तिर्यञ्च थे।

अनेक देशों में विहार करने के बाद जब उनकी आयु एक हजार वर्ष की रह गई, तब वे चम्पानगर में आये एव शेष समय उन्होंने वहीं पर बिताया। एक माह की आयु शेष रहने पर उन्होंने राजतमौलिका नदी के तट पर विद्यमान मन्दारगिरि के सुन्दर शिखर पर मनोहर नाम के वन में योग-निरोध किया एवं पर्यङ्कासन से विराजमान हो गये। वहीं पर शुक्ल-ध्यान के प्रताप से अघातिया-कर्मों का क्षय कर भाद्र-पद शुक्ला चतुर्दशी के दिन सध्या के समय विशाखा नक्षत्र में मुक्ति-भामिनी के अधिपति बन गये। उनके साथ चौरानबे अन्य मुनियों ने निर्वाण लाभ किया था। देवों ने आ कर भक्तिपूर्वक उनके निर्वाण-क्षेत्र की पूजा की एव निर्वाण महोत्सव मनाया। भगवान श्री वासुपूज्य के भैंसा का चिह्न था।

२४६

(१३) भगवान श्री विमलनाथजी

स्तिमिततम समाधि ध्वस्त निःशेष दोषं क्रम गम करणान्तर्धान हीनाव बाधम् ।
विमल ममल मूर्ति कीर्त्तिभाजंद्यु भाजां नमत विमलताप्त्यै भक्तिभारेण भव्याः ॥

—आचार्य गुणभद्र

'अत्यन्त निश्चल समाधि के द्वारा जिन्होंने समस्त दोषों को नष्ट कर दिया है ऐसे; तथा क्रम, साधन एवं विनाश से रहित है ज्ञान जिन का ऐसे निर्मल मूर्तिवाले एव देवों की कीर्ति को प्राप्त होनेवाले भगवान श्री विमलनाथ को, हे भव्य प्राणियों, निर्मलता की प्राप्ति के लिए, भक्तिपूर्वक नमस्कार करो।'

पूर्व-भव परिचय

पश्चिम धातकीखण्ड द्वीप में मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर सीता नदी के दाहिने तट पर एक रम्यकावती देश है। किसी समय वहाँ पद्मसेन राजा राज्य करते थे। उनकी शासन-प्रणाली बड़ी ही विचित्र थी। उनके राज्य में न कोई वर्ण-व्यवस्था का उल्लङ्घन करता था, न कोई झूठ बोलता था, न कोई किसी को व्यर्थ ही सताता था, न कोई चोरी करता था एव न कोई पर-स्त्रियों का अपहरण करता था। वहाँ की प्रजा धर्म-अर्थ एव काम का समान रूप से पालन करती थी। एक दिन महाराज पद्मसेन राज-सभा में बैठे हुए थे, उसी समय वन नामक माली ने आ कर अनेक फल-पुष्प भेंट करते हुए कहा — 'महाराज! प्रीतिङ्कर वन में सर्वगुप्त केवली का शुभागमन हुआ है।' राजा पद्मसेन केवली का आगमन सुन कर अत्यन्त हर्षित हुए। उनके समस्त शरीर में मारे हर्ष के रोमांच हो आया एव आँखों से हर्ष के आँसू बहने लगे। उसी समय उन्होंने सिंहासन से उठ कर जिस ओर परमज्ञानी सर्वगुप्त विराजमान थे, उस ओर सात कदम चल कर उन्हें परोक्ष नमस्कार किया। फिर समस्त परिवार एवं नगर के प्रतिष्ठित लोगों के साथ उनकी वन्दना के लिए प्रीतिङ्कर नामक वन में गये। केवली सर्वगुप्त के प्रभाव से उस वन की अपूर्व ही शोभा हो गई थी। उसमें एक साथ

छहों ऋतुएँ अपनी-अपनी शोभा प्रकट कर रही थीं। महाराज पद्मसेन ने विनतमूर्धा होकर केवली के चरणों में प्रणाम किया एवं उपदेश सुनने की इच्छा से वहीं यथोचित स्थान पर बैठ गये। केवली भगवान ने दिव्य-ध्वनि के द्वारा सात तत्वों का व्याख्यान किया एवं चतुर्गति-रूप ससार के दुःखों का वर्णन किया। संसार का दुःखमय वातावरण सुन कर महाराज पद्मसेन का हृदय एकदम भयभीत हो उठा। उसी समय उनके हृदय में वैराग्य-सागर की तरल तरगे उठने लगीं। जब केवली महाराज की दिव्य-ध्वनि से उन्हें पता चला कि अब उनके केवल दो ही भव बाकी रह गये हैं, तब तो उनके आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने महल आ कर पद्म नामक पुत्र को राज्य दिया एव फिर वन में जा कर उन्हीं केवली के निकट जिन-दीक्षा ले ली। उनके साथ रह कर उन्हीं से ग्यारह अङ्गों का अध्ययन किया एवं दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह-कारण भावनाओं का चिन्तवन कर 'तीर्थङ्कर' नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध किया, जिससे आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक शरीर त्याग कर बारहवें सहस्रार स्वर्ग में सहस्रार नाम के इन्द्र हुए। वहाँ उनकी आयु अठारह हजार सागर की थी; एक धनुष (चार हाथ) ऊँचा शरीर था, जघन्य शुक्ल लेश्या थी। वे वहाँ अठारह हजार वर्ष बाद आहार लेते थे एव नौ माह बाद श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते थे। वहाँ अनेक देवियाँ अपने अतुल्य रूप से उनके लोचनों को प्रसन्न किया करती थीं। उन्हें जन्म से ही अवधिज्ञान था, जिससे वे चौथे नरक तक की वार्ता जान लेते थे। वे अपनी दिव्य-शक्ति से सब स्थान घूम-घूम कर प्रकृति की अद्भुत विभूति देखते थे। यही सहस्रारेन्द्र आगे भव में भगवान श्री विमलनाथ होंगे।

वर्तमान परिचय

भरतक्षेत्र की कम्पिला नगरी में इक्ष्वाकुवंशीय राजा कृतवर्मा राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम जयश्यामा था। पाठक जिस सहस्रारेन्द्र से परिचित है, उनकी आयु जब केवल छह माह की शेष रह गई, तभी से महाराज कृतवर्मा के महल पर देवों ने रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी। महादेवी जयश्यामा ने ज्येष्ठ कृष्ण दशमी के दिन उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र मे रात्रि के पिछले प्रहर मे सोलह स्वप्न देखे एव उसी समय अपने मुखकमल में प्रवेश करता हुआ एक गन्धसिन्दुर (उत्तम) हाथी देखा। उसी समय उक्त वर्णित इन्द्र ने

स्वर्ग वसुन्धरा से मोह त्याग कर उसके गर्भ में प्रवेश किया। प्रातः होते ही उसने प्राणनाथ कृतवर्मा से स्वप्नों का फल पूछा, तब उन्होंने कहा — 'आज तुम्हारे गर्भ में किसी तीर्थङ्कर बालक ने अवतरण लिया है। यह रत्नों की वर्षा एवं ये सोलह स्वप्न उसी की विभूति बतला रहे हैं।' इधर महाराज कृतवर्मा रानी जयश्यामा को स्वप्नों का मधुर फल सुना कर आनन्द पहुँचा रहे थे; उधर देवों के आसन कम्पायमान हुए, जिससे उन्होंने भगवान विमलनाथ के गर्भावतार का निश्चय कर लिया एवं समस्त परिवार के साथ आ कर कम्पिलापुरी में खूब उत्सव किया। अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषणों से राज-दम्पति का सत्कार किया। जैसे-जैसे महारानी का गर्भ बढ़ता जाता था, वैसे-वैसे समस्त बन्धु-बान्धवों का हर्ष बढ़ता जाता था। नित्यप्रति होनेवाले अच्छे-अच्छे शकुन सभी लोगों को हर्षित करते थे। जब गर्भ के दिन पूर्ण हो गये, तब महादेवी ने माघ शुक्ला चतुर्दशी के दिन उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में मति-श्रुति-अवधि-ज्ञानधारी पुत्र-रत्न का प्रसव किया। उसी समय इन्द्रादि देवों ने आ कर जन्म-कल्याणक का उत्सव किया एवं अनेक प्रकार से बाल तीर्थङ्कर की स्तुति कर उनका 'विमलप्रभ' नाम रक्खा। भगवान विमलप्रभ का राज-परिवार में बड़े प्यार से लालन-पालन होने लगा। वे अपनी बाल्योचित चेष्टाओं से माता-पिता को अत्यन्त हर्षित करते थे। वासुपूज्य स्वामी के मोक्ष जाने के तीस सागर बाद भगवान विमलप्रभ (विमलनाथ) हुए थे। इनके उत्पन्न होने के पहिले एक पल्य तक भारतवर्ष में धर्म का विच्छेद हो गया। उनकी आयु साठ लाख वर्ष की थी। शरीर की ऊँचाई साठ धनुष एवं रङ्ग सुवर्ण के समान पीला था। जब इनके कुमारकाल के पन्द्रह लाख वर्ष बीत गये, तब इन्हें राज्य की प्राप्ति हुई। राज्य पा कर इन्होंने ऐसे ढङ्ग से प्रजा का पालन किया, जिससे इनका निर्मल यश समस्त संसार में फैल गया। महाराज कृतवर्मा ने अनेक सुन्दरी कन्याओं के साथ उनका विवाह कराया था, जिनके साथ तरह-तरह के कौतुक करते हुए वे सुख से समय बिताते थे। बीच-बीच में इन्द्र आदि देवता विनोद-गोष्ठियों के द्वारा उनका मन बहलाते रहते थे। इस तरह हर्षपूर्वक राज्य करते हुए जब उन्हें तीन लाख वर्ष हो गये, तब वे एक दिन उषाकाल में किसी पर्वत के शिखर पर आरूढ़ होकर सूर्योदय की प्रतीक्षा कर रहे थे; उस समय उनकी दृष्टि सहसा घास पर गिरी हुई ओस पर पड़ी। वे उसे प्रकृति का अद्भुत दान समझ कर बड़े प्यार से देखने लगे। उसे देख कर उन्हें सन्देह होने गला कि यह हरी-भरी मोतियों की खेती है या हृदय-

वल्लभ चन्द्रमा के गाढ़ आलिंगन से टूट कर बिखरे हुए निशा-प्रेयसी के मुक्ताहार के मोती हैं ? चकवा-चकवी की विरह-वेदना से दुःखी होकर प्रकृति महादेवी ने दुःख से अश्रुपात किया है या विरहिणी नारियों पर तरस खा कर कृपालु चन्द्र महाराज ने अमृत की वर्षा की है। क्या मदनदेव की निर्मल कीर्ति-रूपी गङ्गा के जल-कण बिखरे पड़े हैं ? इस तरह भगवान विमलनाथ बड़े प्रेम से उन हिमकणों को देख रहे थे कि इतने में प्राची दिशा से सूर्य का उदय हुआ। उसकी अरुण-प्रभा समस्त आकाश में फैल गई। धीरे-धीरे उसका तेज बढ़ने लगा। विमलनाथ स्वामी ने अपनी कौतुक-भरी दृष्टि हिमकणों से हटा कर प्राची की ओर डाली। सूर्य के अरुण तेज को देख कर उन्हें बहुत अधिक आनन्द हुआ, पर प्राची की ओर देखते हुए भी वे उन हिमकणों को भूले नहीं थे। उन्होंने अपनी दृष्टि सूर्य से हटा कर ज्यों ही पास की घास पर डाली, त्यों ही उन्हें उन हिमकणों का पता भी न चला, क्योंकि वे सूर्य की किरणों का संसर्ग पा कर क्षण-भर में क्षितिज में विलीन हो गये थे। इस विचित्र परिवर्तन से उनके दिल पर भारी ठेस पहुँची। वे सोचने लगे कि मैं जिन हिमकणों को एक क्षण पहिले सतृष्ण लोचनों से देख रहा था, अब क्षण-मात्र में ही उनका पता भी नहीं है। क्या यही संसार है। संसार के प्रत्येक पदार्थ इसी तरह क्षण-भगुर हैं ? ओह! मैं अब तक देखता हुआ भी नहीं देखता था। मैं भी सामान्य मनुष्यों की तरह विषयवासना में बहता चला गया। खेद है! आज मुझे इन हिम-कणों (ओस की बूँदों) से दिव्य नेत्र प्राप्त हुए हैं। मैं अब अपना भावी कर्तव्य निश्चय कर चुका। अब मैं बहुत शीघ्र इस क्षण-भगुर संसार से नाता तोड़ कर अपने-आप में समा जाऊँगा। उसका उपाय दिगम्बर मुद्रा को छोड़ कर अन्य कुछ नहीं है। अच्छा, तो अब मुझे राज्य त्याग कर इसी निर्मल नभ के नीचे बैठ कर आत्म-ध्यान करना चाहिये।' ऐसा चिन्तवन कर भगवान विमलनाथ ने दीक्षा धारण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उसी समय ब्रह्मलोक से आ कर लौकान्तिक देवों ने उनके चिन्तवन का समर्थन किया।

अपना कार्य पूरा कर लौकान्तिक देवगण अपने-अपने स्थान पर पहुँचे ही होंगे कि चतुर्निकायों के देवगण अपनी चेष्टाओं से वैराग्य-गङ्गा को प्रवाहित करते हुए कम्पिला नगरी में आये। भगवान अन्यमनस्क होकर पर्वतमाला से उतर कर महल आये। वहाँ उन्होंने अभिषेकपूर्वक पुत्र को राज्य सौंप दिया एवं देवनिर्मित पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने 'ॐ नमः सिद्धेभ्य' कहते हुए माघ

शुक्ला चतुर्थी के दिन उत्तरा भाद्र पक्ष नक्षत्र में संध्या के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ले ली। विशुद्धि के बढ़ने से उन्हें उसी समय मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया। देवगण तपःकल्याणक का उत्सव समाप्त कर अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

भगवान विमलप्रभ दो दिन का योग समाप्त कर तीसरे दिन आहार के लिए नन्दपुर जा पहुँचे। वहाँ के राजा जयकुमार ने उन्हें भक्तिपूर्वक आहार दिया। पात्र-दान के प्रभाव से प्रभावित होकर जयकुमार महाराज के महल पर देवों ने पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। आहार के बाद वे पुनः वन में लौट आये एवं आत्म-ध्यान में लीन हो गये। इस तरह दो दिन के अन्तर से आहार लेते हुए उन्होंने मौन रह कर तीन वर्ष छद्मस्थ अवस्था में बिताये। इसके बाद इसी सहेतुक वन में दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा ले कर जामुन के पेड़ के नीचे ध्यान लगा कर वे विराजमान हुए, जिससे उन्हें माघ शुक्ला षष्ठी के दिन सध्या के समय उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में घातिया कर्मों का नाश होने से पूर्णज्ञान (केवल ज्ञान) प्राप्त हो गया। उसी समय देवों ने आ कर ज्ञान-कल्याणक का उत्सव किया। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवशरण की भव्य रचना की। उसके मध्य में सुवर्ण सिंहासन पर अन्तरिक्ष में विराजमान होकर उन्होंने अपना मौन भङ्ग किया, दिव्य उपदेशों से समस्त जनता को सन्तुष्ट कर दिया। जब उनका प्रथम उपदेश समाप्त हुआ, तब इन्द्र ने अति मधुर शब्दों में स्तुति कर उनसे अन्यत्र विहार करने की प्रार्थना की। इन्द्र की विनय प्रार्थना सुन कर उन्होंने प्रायः समस्त आर्य देशों में विहार किया। अनेक भव्य प्राणियों का ससार-सागर से समुद्धार किया। स्थान-स्थान पर स्याद्वाद वाणी के द्वारा जीव-जीवादि तत्वों का व्याख्यान किया। उनके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक नर-नारियों ने देशव्रत एव महाव्रत ग्रहण किये थे।

आचार्य गुणभद्र ने लिखा है कि उनके समवशरण में 'मन्दर' आदि पचपन गणधर थे; ग्यारह सौ द्वादशांग के वेत्ता थे, छत्तीस हजार पाँच सौ तीस शिक्षक थे, चार हजार आठ सौ अवधिज्ञानी थे, पाँच हजार पाँच सौ केवली थे। नौ हजार विक्रिया-ऋद्धि के धारण करनेवाले थे, पाँच हजार पाँच सौ मनःपर्यय ज्ञानी थे एवं तीन हजार छह सौ वादी थे। इस तरह सब मिला कर अड़सठ हजार मुनिराज थे, 'पद्मा' आदि एक लाख तीन हजार आर्यिकाएँ थीं, दो लाख श्रावक थे, चार लाख श्राविकाएँ थीं, असख्यात देव-देवियाँ एवं

असख्यात तिर्यञ्च थे।

जब आयु का शेष एक माह बाकी रह गया, तब वे श्री सम्मेदशिखर पर जा विराजमान हुए। वहाँ उन्होंने योग-निरोध कर आषाढ़ कृष्णा अष्टमी के दिन शुक्ल-ध्यान के द्वारा अवशिष्ट अघातिया-कर्मों का सहार किया एव अपने शुभ समागम से मुक्ति-वल्लभा को प्राप्त किया। उसी समय देवों ने आ कर उनके निर्वाण-क्षेत्र की पूजा की। भगवान श्री विमलनाथ के शूकर का चिह्न था।

(१४) भगवान श्री अनन्तनाथजी

त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम प्रलापलेशोऽपमते महामुने।
अशेष माहात्म्य मनीर यन्नपि शिवाय संस्पर्श इवामृताम्बुधे॥

—आचार्य समन्तभद्र

हे महामुने! आप ऐसे हो, वैसे हो, मुझ अल्पमति का यह प्रलाप, जब कि समस्त माहात्म्य को प्रकट नहीं कर रहा है, तब भी सुधा-सागर के स्पर्श के समान कल्याण के लिए ही है।

पूर्व-भव परिचय

धातकीखण्ड द्वीप में पूर्व मेरु की ओर उत्तर दिशा में एक अरिष्ट नाम का नगर है, जो अपनी शोभा से पृथ्वी का स्वर्ग कहलाता है। उसमें किसी समय पद्मरथ नामक राजा राज्य करता था। उसकी प्रजा पूर्णतः उससे सन्तुष्ट रहती थी, वह भी प्रजा की भलाई के लिए कोई बात उठा नहीं रखता था। एक दिन वह स्वयप्रभ तीर्थङ्कर की वन्दना के लिए गया। वहाँ पर उसने भक्तिपूर्वक स्तुति की एवं समीचीन-धर्म का

[illegible] सुना। व्याख्यान सुनने के बाद वह सोचने लगा कि सब इन्द्रियों के विषय क्षणभंगुर हैं, धन पर की धूलि के समान है। यौवन पहाड़ी नदी के समान है, आयु जल के बबूलों की तरह चपल है एवं भोग सर्प के फण के समान भयोत्पादक है। मैं व्यर्थ ही राज-कार्य में उलझा हुआ हूँ, ऐसा चिन्तवन कर उसने अपने पुत्र धनमित्र को राज्य सौंप कर किन्हीं आचार्यवर्य के पास दिगम्बर दीक्षा ले ली। उन्हीं के पास रह कर उसने ग्यारह अङ्गों का अध्ययन किया एवं दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध किया। वह आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक मर कर सोलहवें अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में देव हुआ। वहाँ पर उसकी आयु बाईस सागर की थी, साढ़े तीन हाथ ऊँचा शरीर था एवं शुक्ल लेश्या थी। वह ग्यारह माह बाद श्वासोच्छ्वास लेता एवं बाईस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार ग्रहण करता था। वहाँ पर कायिक प्रवीचार (मैथुन) नहीं था, किन्तु मन में देवांगनाओं की अभिलाषा मात्र से उसकी कामव्यथा शान्त हो जाती थी। वह अपने सहजात अवधिज्ञान से सातवें नरक तक के रूपी पदार्थों को जानता था तथा अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियों का स्वामी था। यही देव आगे भव में भगवान अनन्तनाथ होगा।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतक्षेत्र में अयोध्या नगरी है। उसमें किसी समय इक्ष्वाकुवंशीय सिंहसेन राजा राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम जयश्यामा था। उस समय रानी जयश्यामा के समान रूपवती, शीलवती एवं सौभाग्यवती स्त्री दूसरी नहीं थी। जब ऊपर कहे हुए देव की स्थिति छह माह की शेष रह गई, तब से राजा सिंहसेन के महल पर कुबेर ने रत्नों की वर्षा करना शुरू कर दी एवं वापी, कूप, तालाब, परिखा, प्राकार आदि से शोभायमान नई अयोध्या की रचना कर उसमें राजा तथा समस्त नागरिकों को ठहराया। कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पिछले पहर में महादेवी जयश्यामा ने गजेन्द्र आदि सोलह स्वप्न देखे एवं अन्त में मुख में प्रवेश करते हुए किसी सुन्दर हाथी को देखा। उसी समय उक्त देव ने स्वर्गीय वसुधा से मोह त्याग कर उसके गर्भ में प्रवेश किया। प्रातः होते ही उसने पतिदेव महाराज सिंहसेन से स्वप्नों का फल पूछा। वे अवधिज्ञान से जान कर कहने लगे — 'आज तुम्हारे गर्भ में

तीर्थङ्कर बालक ने अवतार लिया है, ये सब उसी के अभ्युदय के सूचक हैं।' इधर महाराज रानी के सामने तीर्थङ्कर के माहात्म्य एवं उनके पुण्य के अतिशय का वर्णन कर रहे थे, उधर देवों के 'जय-जय' घोष से आकाश गूँज उठा। देवों ने आकर राज-भवन की प्रदक्षिणाएँ की, स्वर्ग से लाये हुए वस्त्राभूषणों से राज-दम्पति का सत्कार किया तथा अन्य भी अनेक उत्सव मना कर अपने-अपने स्थानों की ओर प्रस्थान किया। यह सब देख कर रानी जयश्यामा के आनन्द का पारावार न रहा।

धीरे-धीरे गर्भ के नौ मास पूर्ण होने पर उसने ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन बालक भगवान अनन्तनाथ को जन्म दिया। उसी समय देवों ने आकर बालक को मेरु पर्वत पर ले जाकर उनका जन्माभिषेक किया एव फिर अयोध्या में प्रत्यावर्तन कर अनेक उत्सव किये। इन्द्र ने आनन्द नाम का नाटक किया एवं अप्स-राओं ने अपने मनोहर नृत्यों से प्रजा को अनुरंजित किया। सब की सलाह से बालक का नाम अनन्तनाथ रक्खा गया था, जो कि बिलकुल ठीक प्रतीत होता था, क्योंकि उनके गुणों का अन्त नहीं था (पार नहीं था)। जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में अयोध्यापुरी इतनी सजाई गई थी कि उसके सामने स्वर्गपुरी भी हीन लग रही थी। महाराज सिंहसेन ने हृदय खोल कर याचकों को मनवाँछित दान दिया। देवगण जन्म का उत्सव पूरा कर अपने-अपने विमान को चले गये। इधर राज-परिवार में बालक अनन्तनाथ का बड़े प्यार से लालन-पालन होने लगा।

भगवान विमलनाथ के बाद नौ सागर एव पौन पल्य बीत जाने पर श्री अनन्तनाथ हुए थे। इनकी आयु तीस लाख वर्ष की थी, पचास धनुष ऊँचा शरीर था, स्वर्ण के समान कान्ति थी, इन्हें जन्म से ही अवधिज्ञान था। सात लाख पचास हजार वर्ष बीत जाने पर इन्हें राज्य की प्राप्ति हुई थी। ये साम-दाम-दण्ड एवं भेद के द्वारा राज्य का पालन करते थे। असंख्य राजा इनकी आज्ञा को माला की तरह अपने शिर का आभूषण बनाते थे। ये प्रजा को चाहते थे एव प्रजा इनको चाहती थी। महाराज सिंहसेन ने कई सुन्दरी कन्याओं के साथ इनका विवाह करवाया था, जिससे गृहस्थ जीवन सुखमय हो।

जब राज्य करते हुए इन्हें पन्द्रह लाख वर्ष बीत गये, तब एक दिन उल्कापात होने से इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। इन्होंने समस्त संसार से ममत्व त्याग कर दीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की, उनके चिन्तवन की सराहना की एवं अनित्य आदि बारह

भावनाओं का स्वरूप प्रकट किया, जिससे उनकी वैराग्यधारा अत्यधिक द्रुतगति से प्रवाहित होने लगी। निदान भगवान अनन्तनाथ, अनन्तविजय नामक पुत्र को राज्य सौंप कर देव-निर्मित सागरदत्ता पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने तीन दिन के उपवास की प्रतिज्ञा कर ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन रेवती नक्षत्र में संध्या के समय एक हजार राजाओं के साथ जिन-दीक्षा ले ली। देवों ने दीक्षा-कल्याणक का उत्सव किया। उन्हें दीक्षा लेते ही मनःपर्यय ज्ञान तथा अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं थीं। प्रथम योग समाप्त हो जाने के बाद वे आहार के लिए साकेत (अयोध्यापुरी) में गये। वहाँ पुण्यात्मा विशाख ने पड़गाह कर उन्हें नवधा-भक्तिपूर्वक आहार दिया। देवों ने उनके महल पर पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। भगवान अनन्तनाथ आहार लेने के बाद पुनः वन में लौट आये एवं वहाँ योग धारण कर विराजमान हो गये। इस तरह कठिन तपश्चरण करते हुए उन्होंने छद्मस्थ अवस्था के दो वर्ष मौनपूर्वक बिताये। इसके बाद वे उसी सहेतुक वन में पीपर वृक्ष के नीचे ध्यान लगा कर विराजमान थे कि उत्तरोत्तर विशुद्धता के बढ़ने से उन्हें चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में दिव्य आलोक (केवलज्ञान) प्राप्त हो गया। उसी समय देवों ने आ कर समवशरण की रचना की एवं ज्ञान-कल्याणक का उत्सव किया। भगवान अनन्तनाथ ने समवशरण के मध्य में विराजमान होकर दिव्य-ध्वनि द्वारा मौन भङ्ग किया। स्याद्वाद पताका से अङ्कित जीव-अजीव तत्वों का व्याख्यान किया, संसार का दिग्दर्शन कराया—उसके दुःखों का वर्णन किया, जिससे प्रतिबुद्ध होकर अनेक मानवों ने मुनि-दीक्षा ग्रहण की। प्रथम उपदेश समाप्त होने के बाद उन्होंने कई स्थान पर विहार किया, जिससे प्रायः सभी ओर जैन-धर्म का प्रकाश फैल गया। इनके उत्पन्न होने के पहिले जो कुछ धर्म का विच्छेद हो गया था, वह दूर हो गया एवं लोगों के हृदयों में धर्म-सरोवर लहराने लगा। उनके समवशरण में जय आदि पचास गणधर थे, एक हजार द्वादशांग के जानकार थे, तीन हजार दो सौ वादी शास्त्रार्थ करनेवाले थे, उनतालीस हजार पाँच सौ शिक्षक थे, चार हजार तीन सौ अवधिज्ञानी थे, पाँच हजार केवली थे, आठ हजार विक्रिया-ऋद्धि के धारक थे, इस तरह सब मिला कर छियासठ हजार मुनिराज थे। 'सर्वश्री' आदि एक लाख आठ हजार आर्यिकाएँ थीं, दो लाख श्रावक, चार लाख श्राविकाएँ, असख्यात देव-देवियाँ एवं असंख्यात तिर्यञ्च थे। समस्त आर्य-क्षेत्रों में विहार करने के बाद वे आयु के अन्त में श्री सम्मेदशिखर पर

विराजमान हुए। वहाँ उन्होंने छह हजार मुनियों के साथ योग-निरोध कर एक महीने तक प्रतिमा-योग धारण किया। उसी समय सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति एवं व्युपरत क्रिया निवृत्ति शुक्ल-ध्यानों के द्वारा अवशिष्ट अघातिया-कर्मो का नाश कर चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन उषाकाल में मोक्ष भवन में प्रवेश किया। देवों ने आ कर निर्वाण-क्षेत्र की पूजा को एव उनके गुण गाते हुए अपने-अपने महल की ओर प्रस्थान किया। आप का चिह्न सेही है।

(१५) भगवान श्री धर्मनाथजी

धमयस्मिन् समद्भूता धर्मादश सुनिर्मलाः।
सधर्म शर्ममे दद्या, दधर्म मप हत्यनः॥ —आचार्य गुणभद्र

'जिन धर्मनाथ में उत्तम क्षमा आदि निर्मल दश धर्म प्रकट हुए थे, वे धर्मनाथ स्वामी मेरे अधर्म को, दुष्कृत्य को हर कर सुख प्रदान करें।'

पूर्व-भव परिचय

पूर्व धातकीखण्ड में पूर्व दिशा की ओर सीता नदी के दाहिने किनारे पर एक सुसीमा नाम का नगर है; उसमें किसी समय दशरथ नाम का राजा राज्य करता था। वह अत्यधिक बलवान था। उसने समस्त शत्रुओं को जीत कर अपने राज्य की नींव अत्यधिक मजबूत कर ली थी। उसका प्रताप एवं यश समस्त ससार में फैल रहा था।

एक समय चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन नगर के समस्त लोग वसन्त का उत्सव मना रहे थे। राजा भी उस

उत्सव से वंचित नहीं रहा। परन्तु चन्द्र-ग्रहण देख कर उसका हृदय विषयों से विरक्त हो गया। वह सोचने लगा कि जब चन्द्रमा पर भी ऐसी विपत्ति पड़ सकती है, तब मेरे जैसे क्षुद्र नर-कीटों पर विपत्ति पडना कोई असम्भव नहीं है। मैं आज तक अपने शुद्ध-स्वभाव को छोड़ कर व्यर्थ ही विषयों में उलझा रहा। हा! हन्त! अब शीघ्र ही वृद्धावस्था आने के पहिले ही मैं आत्म-कल्याण करने का यत्न करूँगा। वन में जा कर जिन-दीक्षा धारण करूँगा। ऐसा सोच कर महाराज दशरथ ने जब अपने विचार राजसभा में प्रकट किये, तब एक मिथ्यादृष्टि मन्त्री ने कहा — 'नाथ! भूत चतुष्टय (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) से बने हुए इस शरीर को छोड़ कर आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है। यदि होता तो जन्म के पहिले एवं मृत्यु के पश्चात् वह दीखता क्यों नहीं? इसलिये आप ढोंगियों के प्रपञ्च में पड़ कर वर्तमान सुख छोड़ व्यर्थ ही जङ्गल में कष्ट मत उठाइये। ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो गाय के थनों को त्याग कर उसके सींगों से दूध दुहने का प्रयत्न करेगा?' मन्त्री के वचन सुन कर राजा ने कहा — 'सचिव! तुम समीचीन ज्ञान से सर्वथा रहित प्रतीत होते हो। हमारे एवं तुम्हारे शरीर में जो अहम् (मैं) का ज्ञान होता है, वही आत्म-पदार्थ की सत्ता सिद्ध कर देता है। फिर करण इन्द्रियों में व्यापार देख कर कर्त्ता (आत्मा) का अनुमान भी किया जा सकता है। इसलिये आत्मा-पदार्थ, प्रमाण एव अनुभव से सिद्ध है। उसका विरोध नहीं किया जा सकता। तुमने जो भूत चतुष्टय से जीव की उत्पत्ति होना बतलाया है, वह व्यभिचरित है; क्योंकि जहाँ पर खुल कर हवा बह रही है, ऐसे क्षेत्र में अग्नि के ऊपर रखी हुई जलपूर्ण बटलोई में किसी भी जीव की उत्पत्ति नहीं देखी जा सकती। जिसके विद्यमान रहते हुए कार्य हो एव जिसके अभाव में कार्य न हो, वही सच्चा सम्यक् हेतु कहलाता है। पर यहाँ तो दूसरी ही बात है। यदि जन्म के पहिले और मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा को सिद्ध न माना जावे, तो सद्यःप्रसूत (तत्काल उत्पन्न हुए) बालक के दूध पीने का सस्कार कहाँ से आया? जाति-स्मरण एवं अवधिज्ञान से जो पुरुष अपने कितने ही पूर्व-भव स्पष्ट देख लेते हैं, वह क्या है? रही न देखने की बात, सो अमूर्तिक इन्द्रियों से उसका अवलोकन नहीं हो सकता। क्या कभी तीक्ष्ण खड्गों की धार से आकाश-भेदन देखा गया?' इस प्रकार विविध रूप से मन्त्री के नास्तिक विचारों को दूर हटा कर उसे जैन तत्वों का रहस्य समझाया एवं पुत्र महारथ को राज्य सौंप कर राजा दशरथ वन में जा कर विमलवाहन मुनिराज के पास दीक्षित

हो गये। वहाँ उसने खूब तपश्चरण किया तथा सतत् अभ्यास के द्वारा ग्यारह अङ्गों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। मुनिराज दशरथ ने विशुद्ध हृदय से दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन किया, जिससे उन्हें 'तीर्थङ्कर' नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। वे आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक शरीर त्याग कर 'सर्वार्थसिद्धि' विमान में अहमिन्द्र हुए। वहाँ उनकी आयु तैंतीस सागर थी, एक हाथ ऊँचा श्वेत रङ्ग का शरीर था। वे तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेते थे एव तैंतीस पक्ष बाद श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते थे। उन्हें जन्म से ही अवधिज्ञान था, जिससे वे सातवें नरक तक के रूपी पदार्थों कों स्पष्ट रूप से जानते-देखते थे। वे हमेशा तत्व चर्चाओं में ही अपना समय बिताया करते थे। कषायों के मन्द होने से उनकी प्रवृत्ति विषयों की ओर झुकती ही नहीं थी। वे उस आतमीय आनन्द का उपभोग करते थे, जो असख्य विषय-भोगों से प्राप्त नहीं हो सकता। यह अहमिन्द्र आगे के भव में भगवान धर्मनाथ होगा एव अपने दिव्य उपदेश से ससार का कल्याण करेगा।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में रत्नपुर नाम का एक नगर था, उसमें महासेन महाराज राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम महादेवी सुव्रता था। यद्यपि महासेन के अन्तःपुर में सैकड़ों रूपवती स्त्रियाँ थीं, तथापि उनका जितना प्रेम महादेवी सुव्रता पर था, वैसा दूसरी स्त्रियों पर नहीं था। महासेन अत्यधिक शूर-वीर एव रणधीर राजा थे। उन्होंने अपने बाहुबल से बड़े-बड़े शत्रुओं के दाँत खट्टे कर अपने राज्य को सुविशाल एव सुदृढ़ बना लिया था। मन्त्रियों के ऊपर कार्य-भार छोड़ कर वे एक प्रकार से निश्चिन्त रहते थे।

महादेवी सुव्रता की यौवनावस्था दिन प्रति दिन बीतती जाती थी, पर उसके कोई सन्तान नहीं होती थी। एक दिन ज्यों ही राजा की दृष्टि उस पर पड़ी, त्यों ही उन्हें पुत्र को चिन्ता ने धर दबाया। वे सोचने लगे कि जिसके पुत्र नहीं है, संसार में उसका जीवन निःसार है। पुत्र के अङ्ग स्पर्श से माता-पिता को जो सुख प्राप्त होता है, उसका एकांश सुख भी चन्द्र, चन्दन, हिम, हारयष्टि एवं मलयानिल का स्पर्श नहीं दे सकता। जिस तरह असख्य ताराओं से भरा हुआ आकाश भी केवल एक चन्द्रमा के बिना शोभा नहीं पाता है, उसी उसी तरह अनेक पुरुषों से भरा हुआ मेरा अन्तःपुर भी एक एक पुत्र के बिना शोभा नहीं पा रहा है। क्या

करूँ? कहाँ जाऊँ? किससे पुत्र की याचना करूँ? इस तरह सोचते हुए राजा का चित्त किसी भी तरह निश्चिन्त नहीं हो सका। उनका बदन कृष्णवर्ण हो गया एव मुख से गरम निःश्वास निकलने लगी। सच है — संसार में सर्वतोमुखी होना दुर्लभ है। राजा पुत्र की चिन्ता में दुःखी हो रहे थे कि इतने में वनमाली ने आकर अनेक फल-पुष्प भेंट करते हुए कहा — 'महाराज! उद्यान में प्राचेतस नामक महामुनि आये हुए हैं। उनके साथ अनेक मुनिराज हैं, जो उनके शिष्य प्रतीत होते हैं। उन सब के समागम से वन की शोभा अपूर्व हो गई एक साथ छहों ऋतुओं ने अपनी शोभा प्रकट कर दी है एवं सिंह, व्याघ्र, हाथी आदि जीव परस्पर का विरोध त्याग कर प्रेम से हिल-मिल रहे हैं।

वन में मुनिराज का आगमन सुन कर राजा को इतना हर्ष हुआ कि वह उसके अन्तर में नहीं समा सका एवं आँसुओं के रूप में बाहिर निकल पड़ा। उसने उसी समय सिंहासन से उठ कर मुनिराज के लिए परोक्ष प्रणाम किया तथा वनमाली को उचित पारितोषिक दे कर विदा किया। फिर समस्त परिवार के साथ मुनि वन्दना के लिए वन में गया। वहाँ उसने भक्तिपूर्वक साष्टांग नमस्कार कर प्राचेतस महामुनि से धर्म का स्वरूप सुना; जीव-अजीव आदि पदार्थों पर व्याख्यान सुना एवं फिर उनसे रानी सुव्रता के पुत्र नहीं होने का कारण पूछा। मुनिराज प्राचेतस ने अपने अवधिज्ञान से सब जान कर कहा— 'राजन्! पुत्र के अभाव मे इस तरह दुःखी मत होओ। आप की महारानी सुव्रता के गर्भ से पन्द्रह माह के पश्चात् जगद्वन्द्य परमेश्वर धर्मनाथ का जन्म होगा, जो केवल अपना एव आप का ही नहीं, समस्त संसार का कल्याण करेगा।'

मुनिराज के वचनों से प्रसन्न होकर राजा ने फिर उनसे पूछा — 'महाराज! धर्मनाथ के जीव ने किस भव में, किस तरह एवं कैसा पुण्य किया था, जिससे वह इतने महान तीर्थङ्कर पद को प्राप्त होनेवाला है? मैं उसके पूर्व-भव सुनना चाहता हूँ।' तब प्राचेतस महामुनि ने अपने अवधिज्ञान-रूपी नेत्र से देख कर उसके पहिले के दो भवों के वर्णन किये, जो लिखे जा चुके हैं।

राजा मुनिराज को नमस्कार कर परिवार सहित अपने महल लौट आया। उसी दिन से राज-भवन में रत्नों की वर्षा होनी शुरू हो गई एवं इन्द्र की आज्ञा पाकर अनेक दिक्कुमारियाँ रानी सुव्रता की सेवा के लिए आ गई, जिससे राजा को मुनिराज के वचनों पर दृढ़ विश्वास हो गया। देव-कुमारियों ने अन्तःपुर

में जा कर रानी सुव्रता की इस तरह सेवा की कि उसका छह मास का समय क्षण-भर की तरह बीत गया। वैशाख शुक्ल त्रयोदशी के दिन रेवती नक्षत्र में रानी ने सोलह स्वप्न देखे। उसी समय उक्त अहमिन्द्र ने सर्वार्थसिद्धि के सुरम्य विमान से सम्बन्ध त्याग कर उसके गर्भ में प्रवेश किया। प्रातःकाल होते ही रानी ने पतिदेव (महासेन महाराज) से स्वप्नों का फल पूछा। उन्होंने भी एक-एक कर स्वप्नों का फल बतलाते हुए कहा — 'ये सब तुम्हारे भावी पुत्र के अभ्युदय के सूचक हैं।' उसी समय देवों ने आ कर गर्भ-कल्याणक का उत्सव किया एवं स्वर्ग से लाये हुए दिव्य वस्त्र-आभूषणों से राजा-रानी का सत्कार किया। नौ माह बीतने पर पुष्प नक्षत्र में महारानी सुव्रता ने तीन ज्ञान से युक्त पुत्र का प्रसव किया। उसी समय मेरु पर्वत पर ले जा कर देवों ने बालक का क्षीर-सागर के जल से कलशाभिषेक किया। अभिषेक विधि समाप्त होने पर इन्द्राणी ने कोमल धवल वस्त्र से बालक का शरीर पोंछ उसमें बालोचित दिव्य आभूषण पहिनाये। इन्द्र ने मनोहर शब्दों में उनकी स्तुति की एव उनका 'धर्मनाथ' नाम रक्खा। मेरु पर्वत से लौट कर इन्द्र ने भगवान धर्मनाथ को माता सुव्रता के पास भेज दिया एव स्वयं नृत्य-गीतादि आयोजन प्रस्तुत कर जन्म का उत्सव मना कर परिवार सहित स्वर्ग को चला गया।

राज-परिवार में भगवान धर्मनाथ का बड़े प्रेम से लालन-पालन होने लगा। धीरे-धीरे शिशु अवस्था पार कर वे कुमार अवस्था में पहुँचे। पूर्व-भव के सस्कार के कारण बिना किसी गुरु के पास पढ़े हुए ही, समस्त विद्यायें उन्हें प्राप्त हो गई थीं। अल्पवयस्क भगवान धर्मनाथ का अद्भुत पाण्डित्य देख कर अच्छे-अच्छे विद्वानों के भी मस्तिष्क अचमित रह जाते थे। जब धर्मनाथ स्वामी ने युवावस्था में पदार्पण किया, तब उनकी शारीरिक शोभा अत्यधिक बढ़ गई थी। अर्द्धचन्द्र के समान विस्तृत ललाट, कमल दल-सी आँखें, तोता-सी नाक, मोती-से दाँत, पूर्णचन्द्र-सा मुख, शङ्ख-सा कण्ठ, मेरु कटक-सा वक्षःस्थल, हाथी की सूँड़-सी भुजायें, स्थूल कन्धे, गहरी नाभि, सुविस्तृत नितम्ब, सुदृढ़ उरू, गतिशील जघायें एव आरक्त चरण कमल उनके शारीरिक अवयवों की शोभा को प्रकट कर रहे थे। उनकी कण्ठ-ध्वनि नूतन जलधर को सुरम्य गर्जना के समान सलज्ज मयूरों को सहसा उत्कण्ठित कर देती थी। अब वे राज-कार्य में भी पिता को मदद पहुँचाने लगे थे। एक दिन महाराज महासेन ने उन्हें 'युवराज' बना कर राज्य का बहुत-सा भार उनको सौंप दिया,

जिससे उन्हें स्वयं बहुत कुछ निश्चिन्तता मिली। एक समय राजा महासेन राज-सभा में बैठे हुए थे, उन्हीं के पास में युवराज धर्मनाथ भी विराजमान थे। मन्त्री, पुरोहित तथा अन्य सभासद भी अपने-अपने योग्य स्थानों पर बैठे हुए थे। उसी समय द्वारपाल के साथ विदर्भ देश के कुण्डिनपुर नगर के राजा प्रतापराज का दूत सभा में आया एवं महाराज को सविनय नमस्कार कर उचित स्थान पर बैठ गया। राजा ने उससे आने का कारण पूछा, तब उसने हाथ जोड़ कर कहा — 'महाराज! विदर्भ देश-कुण्डिनपुर के राजा प्रतापराज ने अपनी पुत्री शृङ्गारवती का स्वयम्वर रचने का निश्चय किया है। उसमें योग-दान करने के लिए युवराज को निमन्त्रण देने मैं आया हूँ। यह शृङ्गारवती का चित्रपट है'—कह कर उसने एक चित्रपट राजा के सामने रख दिया। ज्यों ही राजा की दृष्टि उस चित्रपट पर पड़ी, त्यों ही वे शृङ्गारवती का रूप देख कर चकित रह गये। उन्होंने उसी क्षण मन में निश्चय कर कर लिया कि यह कन्या सर्वथा धर्मनाथ के योग्य है। पश्चात् उन्होंने युवराज का अभिप्राय जानने के लिए उनकी ओर दृष्टि डाली। युवराज ने भी मन्द मुसकान से पिता के विचारों का समर्थन किया। फिर क्या था? राजा महासेन ने दूत का निमन्त्रण स्वीकार कर उसका सत्कार कर उसे विदा किया एवं युवराज को सेना के साथ कुण्डिनपुर भेज दिया। युवराज का एक घनिष्ट मित्र प्रभाकर था, जो स्वयम्वर-यात्रा के समय उन्हीं के साथ था। मार्ग में जब वे विन्ध्याचल पर पहुँचे, तब प्रभाकर ने मनोहर शब्दों में उसका विस्तृत वर्णन किया। वहीं अपनी नगरी में आने पर एक किन्नरेन्द्र ने युवराज का सन्मान किया। उनके साथ की समस्त सेना उस दिन वहीं पर सुख से रह गई।

भगवान धर्मनाथ के प्रभाव से उस वन में एक साथ छहों ऋतुएँ प्रकट हो गईं। सैनिकों ने तरह-तरह की क्रीड़ाओं के द्वारा मार्गश्रम (थकावट) दूर किया। वहाँ से चल कर कुछ दिन बाद जब वे कुण्डिनपुर पहुँचे, तब वहाँ के राजा प्रतापराज ने प्रतिष्ठित पुरुषों के साथ आ कर युवराज का खूब सत्कार किया एवं बड़ा हर्ष प्रकट किया। प्रतापराज ने युवराज को एक विशाल भवन में ठहराया। उनके स्वागतार्थ कुण्डिनपुर में सजावट खूब की गई थी। धीरे-धीरे अनेक राजकुमार आ कर कुण्डिनपुर में एकत्र हो गये। निश्चित दिन निश्चित समय पर स्वयम्वर सभा सजाई गई। उसमें चारों ओर ऊँचे-ऊँचे सिंहासनों पर राजकुमारों को बैठाया गया। युवराज धर्मनाथ ने भी मित्र प्रभाकर के साथ एक ऊँचे आसन को अलंकृत

२१

किया। कुछ देर बाद कुमारी श्रृङ्गारवती हस्तिनी पर बैठ कर स्वयम्वर मण्डप में आई। उसके साथ अनेक सहेलियाँ भी थीं। सुभद्रा नाम की प्रतिहारिनी एक-एक कर समस्त राजकुमारों का परिचय राजकुमारी को सुनाती जाती थी। पर श्रृङ्गारवती की दृष्टि किसी पर भी स्थिर नहीं हुई। अन्त में युवराज धर्मनाथ के पास पहुँचने पर सुभद्रा ने कहा — 'कुमारी! उत्तर कोशल देश में रत्नपुर नाम का एक सुन्दर नगर है। उसमें महाराज महासेन राज्य करते हैं, उनकी महारानी का नाम सुव्रता है। ये युवराज उन्हीं के पुत्र हैं। इनका नाम धर्मनाथ है। इनके जन्म होने के पन्द्रह माह पहिले से देवों ने रत्नों की वर्षा की थी। इस समय भारतवर्ष में इनके जैसा पुण्यात्मा दूसरा पुरुष नहीं है।' प्रतिहारिनी के मुख से युवराज की प्रशसा सुन कर तथा उनके दिव्य सौन्दर्य पर मोहित होकर कुमारी श्रृङ्गारवती ने लज्जा से काँपते हुए हाथों से उनके गले में वर-माला डाल दी। उसी समय सब ओर से 'साधु-साधु' की आवाज आने लगी। महाराज प्रतापराज युवराज को विवाह-वेदिका पर ले गये एवं वहाँ उनके साथ विधिपूर्वक श्रृङ्गारवती का विवाह कर दिया।

विवाह के दूसरे दिन भगवान धर्मनाथ ससुराल में किसी ऊँचे आसन पर बैठे हुए थे। इतने में पिता महासेन का एक दूत पत्र ले कर उनके पास आया। पत्र पढ़ कर उन्होंने राजा प्रतापराज से कहा — 'पिताजी ने मुझे आवश्यक कार्यवश शीघ्र ही बुलाया है; इसलिये आप हमें जाने की आज्ञा दीजिये।' प्रतापराज उन्हें जाने से रोक न सके। युवराज धर्मनाथ समस्त सेना का भार सेनापति पर छोड़ कर श्रृङ्गारवती के साथ देव-निर्मित पुष्पक विमान पर आरूढ़ होकर शीघ्र ही रत्नपुर वापिस आ गये। वहाँ महाराज महासेन ने पुत्र एवं पुत्र-वधू का खूब सत्कार किया। एक दिन राजा महासेन संसार से विरक्त होकर राज्य का समस्त भार धर्मनाथ पर छोड़ कर दीक्षित हो गये। देवों ने राज्याभिषेक कर धर्मनाथ को 'राजा' घोषित कर दिया। राज्य प्राप्ति के समय उनकी आयु ढाई लाख वर्ष की थी। राज्य पा कर उन्होंने नीतिपूर्वक प्रजा का पालन किया, जिससे उनकी कीर्ति-वाहिनी सहस्रमुखी होकर सब ओर फैल गई। इस प्रकार राज्य करते हुए जब उनके पाँच लाख वर्ष बीत गये, तब एक दिन रात्रि के समय उल्कापात देख कर उनका चित्त विषयों से सहसा विरक्त हो गया। उन्होंने सोचा — 'मैं 'नित्य' समझ कर जिन पदार्थों में आसक्त हो रहा हूँ, वे सब इसी उल्कापात की तरह अनित्य हैं — नाशवान हैं। इसलिये इन पदार्थों को त्याग

कर अविनाशी मोक्ष पद प्राप्त करना चाहिए।' राजा को वैराग्य की भावना उत्पन्न होते ही लौकान्तिक देवगण आये एवं उन्होंने भी उनके चिन्तवन का समर्थन किया, जिससे उनका वैराग्य अत्यधिक बढ़ गया।

निदान, वे ज्येष्ठ पुत्र सुधर्म को राज्य सौंप कर देव-निर्मित 'नागदत्ता' पालकी पर सवार होकर शाल वन में जा पहुँचे एवं वहाँ माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन पुष्प नक्षत्र में संध्या के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। दीक्षित होते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। देवगण दीक्षा-कल्याणक का उत्सव मना कर अपने-अपने स्थानों पर वापिस चले गये।

मुनिराज धर्मनाथ तीन दिन के बाद आहार लेने के लिए पाटलिपुत्र (पटना) गये। वहाँ धन्यसेन राजा ने उन्हें भक्तिपूर्वक आहार दिया। पात्र-दान से प्रभावित होकर देवों ने धन्यसेन के महल पर पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। धर्मनाथ आहार ले कर वन में लौट आये एवं आत्म-ध्यान में लीन हो गये। इस तरह एक वर्ष तक तपश्चरण करते हुए उन्होंने कई नगरों में विहार किया। दीक्षा लेने के बाद वे मौनपूर्वक रहते थे। एक वर्ष की छद्मस्थ अवस्था बीत जाने पर उन्हें उसी शाल वन में सप्तच्छद वृक्ष के नीचे पौष शुक्ला पूर्णमासी के दिन 'केवलज्ञान' प्राप्त हो गया। उसी समय देवों ने आ कर कैवल्य-प्राप्ति का उत्सव किया। इन्द्र की आज्ञा पा कर कुबेर ने दिव्य सभा 'समवशरण' की रचना की। उसके मध्य में सिंहासन पर विराजमान होकर उन्होंने अपना मौन भंग किया, दिव्य-ध्वनि के द्वारा जीव-अजीव आदि तत्वों का व्याख्यान किया एवं संसार के दुःखों का वर्णन किया, जिसे सुन कर अनेक नर-नारियों ने मुनि, आर्यिकाओं एवं श्रावक-श्राविकाओं के व्रत ग्रहण किये। प्रथम उपदेश के बाद इन्द्र ने उनसे विहार करने की प्रार्थना की। तब उन्होंने प्रायः समस्त आर्य-क्षेत्रों में विहार कर जैन-धर्म का खूब प्रचार किया। उनके समवशरण में अरिष्टसेन आदि तैंतालिस गणधर थे, नौ सौ ग्यारह द्वादश अङ्गों के एवं चौदह पूर्वों के जानकार थे, चालीस हजार सात सौ शिक्षक थे, तीन हजार छह सौ अवधिज्ञानी थे, चार हजार पाँच सौ केवली थे, सात हजार विक्रिया-ऋद्धि के धारक थे, चार हजार पाँच सौ मनःपर्यय ज्ञानी थे एवं दो हजार आठ सौ वादी थे। इस तरह उनके समवशरण में सब मिला कर चौंसठ हजार मुनिराज थे। रानी सुव्रता आदि बासठ हजार चार सौ आर्यिकायें थीं। दो लाख श्रावक, चार लाख श्राविकायें, असंख्यात देव-देवियाँ एवं असंख्यात तिर्यञ्च थे।

वे आयु के अन्त में श्री सम्मेदशिखर पर जा पहुँचे एवं वहाँ आठ सौ मुनियों के साथ योग-निरोध कर ध्यानारूढ़ होकर बैठ गये। उसी समय शुक्ल-ध्यान के प्रताप से अघातिया-कर्मों का सहार कर ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी के दिन पुष्प नक्षत्र में उन्होंने स्वातन्त्र्य (मोक्ष) लाभ किया। तत्काल देवों आ कर उनके निर्वाण-क्षेत्र की पूजा की।

श्री अनन्तनाथ तीर्थङ्कर के मोक्ष जाने के बाद चार सागर बीत जाने पर भगवान धर्मनाथ हुए थे। इनकी आयु भी इसी प्रमाण में युक्त है। इनकी पूर्णायु दस लाख वर्ष की थी। शरीर ४५ योजन ऊँचा था एवं रङ्ग पीला था।

इनकी उत्पत्ति के पहिले भारतवर्ष में आधे पल्य तक धर्म का विच्छेद हो गया था; पर इनके उपदेश से वह सब दूर हो गया एवं जैन-धर्म रूपी कल्पवृक्ष पुनः लहलहा उठा था। इनका चिह्न वज्रदण्ड था।

(१६) भगवान श्री शान्तिनाथजी

स्वदोष शान्त्यावहितात्म शान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।
भूयाद्भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्य ॥

—आचार्य समन्तभद्र

'अपने राग-द्वेष आदि दोषों के दूर करने से शान्ति को धारण करनेवाले, शरण में आये हुए प्राणियों की शान्ति के विधाता एवं शरणागतों की रक्षा करने में सक्षम भगवान श्री शान्तिनाथ हमारे ससार सम्बन्धी क्लेश एवं भवों की शान्ति के लिए अवतीर्ण हों। वे हमारे सासारिक दुःख नष्ट करें।'

पूर्व-भव परिचय

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में पुष्कलावतो देश की पुण्डरीकिणी नगरी में किसी समय धनरथ नाम का

राजा राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम मनोहरा था। उन दोनों के मेघरथ एवं दृढ़रथ नाम के दो पुत्र थे। उनमें मेघरथ बड़ा एवं दृढ़रथ छोटा था। दोनों भाई परस्पर अत्यधिक स्नेह रखते थे; एक के बिना दूसरे को कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। वे सूर्य एव चन्द्रमा को तरह शोभित थे। उन दोनों के पराक्रम, बुद्धि, विनय, प्रताप, क्षमा, सत्य तथा त्याग आदि अनेक गुण स्वभाव से ही प्रकट हुए थे।

जब दोनों भाई पूर्ण तरुण हो गये, तब महाराज धनरथ ने बड़े पुत्र मेघरथ का विवाह प्रियमित्रा एवं मनोरमा के साथ तथा दृढ़रथ का विवाह सुमति के साथ किया। नव-वधुओं के साथ अनेक क्रीड़ा-कौतुक करते हुए दोनों भाई अपना समय सुख से बिताने लगे। पाठकों को यह जान कर हर्ष होगा कि इनमें से बड़ा भाई मेघरथ इस भव से तीसरे भव में भगवान 'शान्तिनाथ' होकर संसार का कल्याण करेगा एवं छोटा भाई दृढ़रथ तीसरे भव में चक्रायुध नाम का उसी का भाई होगा, जो कि भगवान शान्तिनाथ का गणधर होकर मुक्ति प्राप्त करेगा।

कुछ समय बाद प्रियमित्रा भार्या के गर्भ से मेघरथ के नन्दिवर्धन नाम का पुत्र हुआ एवं सुमति देवी के गर्भ से दृढ़रथ के वरसेन नाम का पुत्र हुआ। इस प्रकार पुत्र-पौत्र आदि के मध्य राजा धनरथ इन्द्र की तरह शोभायमान होते थे। एक दिन महाराज धनरथ राज-सभा में बैठे हुए थे, उनके दोनों पुत्र भी उन्हीं के पास बैठे थे। इतने में प्रियमित्रा की दासी सुषेणा धनतुण्ड नाम का एक मुर्गा लाई एवं राजा से कहने लगी — 'जिसका मुर्गा इससे लड़ाई में जीत लेगा, उसे मैं एक हजार स्वर्ण मुद्रायें दूँगी।' यह सुन कर दृढ़रथ की पत्नी सुमति की दासी काँचना उसके साथ लड़ाने के लिए वज्रतुण्ड नाम का एक मुर्गा लाई। धनतुण्ड एवं वज्रतुण्ड में खुल कर लड़ाई होने लगी। कभी सुषेणा का मुर्गा काँचना के मुर्गा को पीछे हटा देता एव कभी काँचना का मुर्गा सुषेणा के मुर्गा को पीछे हटा देता था। दोनों दल के पुरुष बारी-बारी से अपने मुर्गे की जीत पर हर्ष से तालियाँ पीटते थे। दोनों मुर्गों के बल-वीर्य से चकित होकर राजा धनरथ ने ...रथ से पूछा कि इन मुर्गों में यह बल कहाँ से आया? राजकुमार मेघरथ को 'अवधिज्ञान' प्राप्त था; ... वह शीघ्र ही ज्ञान के बल पर पिता के प्रश्न का उत्तर नीचे लिखे अनुसार देने लगा —

करने ल... ...द्वीप के ऐरावत-क्षेत्र में रत्नपुर नाम का एक नगर है। उसमें किसी समय भद्र एवं धन्य नाम के साथ देवरमण नाम...

दो सहोदर भाई रहते थे। वे दोनों गाड़ी चला कर अपना पेट पालते थे। एक दिन उन दोनों में श्रीनदी के किनारे एक बैल के लिए लड़ाई हो गयी, जिसमें वे दोनों एक-दूसरे की हत्या कर कॉचन नदी के किनारे 'श्वेतकर्ण' एव 'नामकर्ण' नाम के जंगली हाथी हुए। वहाँ भी वे दोनों पूर्व-भव के बैर के कारण आपस में लड़ कर मर गये; जिससे वे अयोध्या नगर में नन्दिमित्र ग्वाले के गृह पर उन्मत्त भैंसे उत्पन्न हुए। वहाँ भी दोनों लड़ कर मर गये एवं मर कर उसी नगर में शक्तिवरसेन तथा शब्दवरसेन नामक राजकुमारों के गृह मेढ़े की योनि में उत्पन्न हुए। वहाँ भी दोनों लड़ कर मरे एव मर कर वर्तमान में ये मुर्गे हुए हैं। ये दोनों पूर्व-भव के बैर के कारण ही आपस में लड़ रहे हैं।' उसी समय दो विद्याधर आ कर उन मुर्गों का युद्ध देखने लगे। तब राजा धनरथ ने मेघरथ से पूछा कि ये लोग कौन हैं तथा यहाँ कैसे आये हैं ? तब मेघरथ ने कहा — 'महाराज ! ध्यानपूर्वक सुनिये —'

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में जो विजयार्ध पर्वत है, उसकी उत्तर श्रेणी में कनकपुर नामक एक नगर है। उसमें गरुड़वेग विद्याधर राज्य करता था। उसकी रानी का नाम धृतिषेणा था। उन दोनों के दिवितिलक तथा चन्द्रतिलक नाम के दो पुत्र थे। एक दिन वे दोनों भाई सिद्धकूट की वन्दना के लिए गये। वहीं पर उन्हें दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों के दर्शन हुए। विद्याधर पुत्रों ने विनय सहित नमस्कार कर उनसे अपने पूर्व-भव पूछे। तब उनमें से एक मुनिराज ने कहा — 'पूर्व धातकीखण्ड द्वीप के ऐरावत क्षेत्र में तिलकपुर नाम के नगर में राजा अभयघोष राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम सुवर्णतिलक था। तुम दोनों अपने पूर्व-भव में उन्हीं राज-दम्पति के विजय तथा जयन्त नाम के पुत्र थे। कारण उत्पन्न होने पर तुम्हारे पिता अभयघोष ससार से विरक्त होकर मुनि हो गये। मुनि होकर उन्होंने कठिन तपस्या की तथा सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर 'तीर्थङ्कर' प्रकृति का बन्ध किया। फिर आयु के अन्त में मर कर सोलहवें स्वर्ग में अच्युतेन्द्र हुए। तुम दोनों विजय तथा जयन्त भी आयु के अन्त में जीर्ण शरीर त्याग कर वर्तमान में दिवितिलक तथा चन्द्रतिलक विद्याधर हुए हो। तुम्हारे पूर्व-भव के पिता अभयघोष स्वर्ग से चय कर पुण्डरीकिणी नगरी में राजा हेमागद तथा रानी मेघमालिनी के संयोग से धनरथ नाम के पुत्र हुए हैं। वे इस समय अपने पुत्र-पौत्रों के साथ मुर्गों का युद्ध देख रहे हैं।' इस तरह मुनिराज के मुख से आप के साथ अपने पूर्व-भवों का सम्बन्ध

सुन कर दोनों विद्याधर आप से मिलने के लिए आये हैं। मेघरथ के वचन सुन कर धनरथ तथा समस्त सभासद अत्यन्त प्रसन्न हुए। दोनों विद्याधरों ने राजा धनरथ एवं राजकुमार मेघरथ का खूब सत्कार किया। दोनों मुर्गों ने भी अपने पूर्व-भव सुन कर परस्पर का बैर भाव त्याग दिया एवं सन्यासपूर्वक मरण कर उनमें से एक भूतरमण नामक वन में ताम्रचूल नाम का देव हुआ तथा दूसरा देवरमण नामक वन में कनकचूल नाम का व्यन्तर देव हुआ। वहाँ जब उन देवों ने 'अवधिज्ञान' से अपने पूर्व-भवों का चिन्तवन किया, तब उन्होंने शीघ्र पुण्डरीकिणीपुरी आ कर राजकुमार मेघरथ का खूब सत्कार किया एव उनसे अपने पूर्व-भवों का सम्बन्ध बतलाया। इसके बाद उन व्यन्तर देवों ने कहा — 'राजकुमार! आप ने हमारे साथ जो उपकार किया है, हम उनका बदला नहीं चुका सकते। पर हम यह चाहते हैं कि आप लोग हमारे साथ चल कर मानुषोत्तर पर्वत तक की यात्रा कर लें। राजकुमार मेघरथ तथा महाराज धनरथ की आज्ञा मिलने पर देवों ने सुन्दर विमान बनाया तथा उसमें समस्त परिवार सहित राजकुमार मेघरथ को बैठा कर उसे आकाश में ले गये। वे देव उन्हें क्रम से भरत, हैमवत् आदि क्षेत्रों; गङ्गा, सिन्धु आदि नदियों; हिमवन्, मेरु आदि पर्वतों; पद्म, महापद्म आदि सरोवरों तथा अनेक देशों एवं नगरों की शोभा दिखलाते हुए मानुषोत्तर पर्वत पर ले गये। कुमार मेघरथ प्रकृति की अद्भुत शोभा देख कर अत्यधिक प्रसन्न हुए। उसने समस्त अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना की, स्तुति की तथा फिर उन्हीं देवों की सहायता से वह अपने नगर पुण्डरीकिणीपुरी को लौट आया। स्वगृह आने पर देवों ने उसे अनेक वस्त्र-आभूषण, मणिमालायें आदि भेंट की तथा फिर वे अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

एक दिन उपर्युक्त कारण उत्पन्न होने पर महाराज धनरथ का हृदय विषयवासनाओं से विरक्त हो गया। उन्होंने बारह भावनाओं का चिन्तवन कर अपने वैराग्य को अत्यधिक बढ़ा लिया। लौकान्तिक देवों ने आ कर उनकी स्तुति की तथा दीक्षा लेने का समर्थन किया। निदान महाराज धनरथ युवराज मेघरथ को राज्य सौंप कर वन में जा कर दीक्षित हो गये। इधर कुमार मेघरथ भी अनेक साधु उपायों से प्रजा का पालन करने लगा। जिससे समस्त प्रजा उस पर अत्यन्त मुग्ध हो गई। एक दिन राजा मेघरथ अपनी स्त्रियों के साथ देवरमण नामक वन में घूमता हुआ चन्द्रकान्त नामक एक शिला पर बैठ गया। जहाँ वह बैठा था, वहीं

आकाश-मार्ग से एक विद्याधर जा रहा था। जब उसका विमान ठीक मेघरथ के ऊपर पहुँचा, तब वह सहसा रुक गया। विद्याधर ने विमान रुकने का कारण जानने के लिए सब ओर दृष्टि डाली। ज्यों ही उसकी दृष्टि मेघरथ पर पड़ी, त्यों ही वह क्रोध से आग बबूला हो गया। वह शीघ्रता से नीचे उतरा तथा चन्द्रकान्त शिला को, जिस पर मेघरथ बैठा हुआ था, उठाने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु राजा मेघरथ ने उस शिला को अपने पैर के अँगूठे से इस प्रकार दबा दिया, जिससे वह विद्याधर उस विशाल शिला का भारी बोझ नहीं सह सका। अन्त में वह जोर से चिल्ला उठा। उसकी आवाज सुन कर उसकी स्त्री विमान से उतर कर उसके पास आई तथा उसकी दुर्दशा देख कर मेघरथ से पति के प्राणों की भिक्षा माँगने लगी। तब मेघरथ ने अपने पैर का अँगूठा हटा लिया, जिससे विद्याधर की प्राण-रक्षा हो गई।

यह सब देख कर मेघरथ की स्त्री प्रियमित्रा ने अपने पति से पूछा — 'नाथ! यह सब क्या तथा क्यों हो रहा है?' तब मेघरथ कहने लगा — 'प्रिये! यह विजयार्ध पर्वत की अलका नगरी के राजा विद्युदंष्ट्र एवं रानी अनिलवेगा का प्रिय पुत्र सिंहरथ विद्याधर है। यह अमितवाहन तीर्थङ्कर की वन्दना कर यहाँ आया है। जब इसका विमान मेरे ऊपर आया, तब वह आकाश में कीलित होकर रुक गया। जब कारण जानने के लिए उसने सब ओर देखा, तो उसे मैं ही दीख पड़ा। इसलिये मुझे ही विमान को रोकनेवाला समझ कर वह क्रोध से मुझ पर आगबबूला हो गया तथा इस शिला को, जिस पर हम सब बैठे हुए हैं, उठाने का प्रयत्न करने लगा। तब मैं ने पैर के अँगूठे से शिला को दबा दिया, जिससे वह चिल्लाने लगा। उसकी चिल्लाहट सुन कर उसकी स्त्री विमान से उतर कर नीचे आई।' इतना कह कर मेघरथ ने सिंहरथ विद्याधर के पूर्व-भव कह सुनाये, जिससे वह लज्जित होकर पानी-पानी हो गया तथा राजा मेघरथ की खूब प्रशंसा करने लगा। अपने पुत्र सुवर्णतिलक को राज्य सौंप कर वह दीक्षित हो गया। उसकी स्त्री मदनवेगा भी आर्यिका हो गई। राजा मेघरथ भी देवरमण वन से राजधानी लौट आये तथा नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे।

एक दिन वह अष्टाह्निका व्रत की पूजा कर उपवास की प्रतिज्ञा ले कर स्त्री-पुत्रों के साथ बैठ कर धर्म-चर्चा कर रहे थे कि इतमें में उनके सामने भय से काँपता हुआ एक कबूतर आया। कबूतर के पीछे-पीछे बड़े वेग से उड़ता हुआ एक गीध आया तथा राजा के सामने खड़े होकर कहने लगा — 'महाराज! मैं भूख

से मर रहा हूँ। आप दान-वीर हैं। इसलिये कृपा कर आप यह कबूतर मुझे दे दीजिये, नहीं तो मैं मर जाऊँगा।'

गीध के वचन सुन कर दृढ़रथ (मेघरथ का छोटा भाई) को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उसी समय राजा मेघरथ से पूछा — 'महाराज ! कहिये, यह गीध पुरुषों की बोली क्यों बोल रहा है ?' छोटे भाई का प्रश्न सुन कर मेघरथ ने कहा — 'जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में पद्मिनीखेट नामक नगर में सागरसेन नाम का एक वैश्य रहता था। उसकी स्त्री अमितमति के गर्भ से धनमित्र तथा नन्दिषेण नाम के दो पुत्र हुए थे। वे दोनों धन के लोभ से परस्पर लड़े एवं एक दूसरे की हत्या कर इस भव में ये ये गीध एवं कबूतर हुए हैं। पुरुष की बोली यह गीध नहीं बोल रहा है। गीध के पीछे गुप्त रूप में एक ज्योतिषी देव है। वह आज किसी कारणवश ईशान इन्द्र की सभा में गये थे। वहाँ पर इन्द्र के मुख से मेरी प्रशंसा सुन कर उसे ईर्ष्या उत्पन्न हुई। इसी कारण मेरी परीक्षा लेने के लिये वह यहाँ आया है एव गीध के मुख से पुरुष की बोली बोल रहा है।' इतना कह कर राजा मेघरथ ने उस देव से कहा — 'भाई ! तुम दान के स्वरूप से सर्वथा अपरिचित प्रतीत होते हो। इसीलिये मुझ से गीध के लिये कबूतर की याचना कर रहे हो। सुनो — अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् — निज तथा पर के उपकार के लिये अपनी इष्ट वस्तु का त्याग करना दान कहलाता है एव दान सत्पात्रों को ही दिया जाता है। सत्पात्र — उत्तम-मुनिराज, मध्यम-श्रावक एवं जघन्य अविरत सम्यग्दृष्टि के भेद से — तीन तरह के होते हैं। देय पदार्थ भी मद्य-माँस-मधु से विवर्जित तथा सात्विक हो। अब कहो, यह गीध उनमें से कौन-सा सत्पात्र है ? और यह भी बतलाओ कि यह कबूतर भी क्या देय वस्तु है ?' राजा मेघरथ के युक्तिपूर्ण वचन सुन कर वह देव अपने असली रूप में प्रकट हुआ तथा गीध एवं कबूतर ने भी आपस का विरोध त्याग दिया, जिससे आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक मर कर वे दोनों देवरमण वन में व्यन्तर देव हुए। उत्पन्न होते ही उन देवों ने आ कर राजा मेघरथ की अत्यधिक स्तुति की एव अपनी कृतज्ञता प्रकट की।

एक दिन उन्होंने एक चारण ऋद्धिधारी मुनिराज को आहार दिया, जिससे उनके महल पर देवों ने पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। अष्टाह्निका पर्व में एक दिन वे महापूजा कर एवं उपवास धारण कर रात्रि में प्रतिमा योग से विराजमान थे, उसी समय ईशानेन्द्र ने मेघरथ की सब बातें जान कर अपनी सभा में उनकी धीरता

एव वीरता की खूब प्रशंसा की। इन्द्र के मुख से मेघरथ की प्रशंसा सुन कर अतिरूपा एवं सुरूपा नाम की दो देवियाँ परीक्षा लेने के लिये मेघरथ के समक्ष आयीं एवं अपने हाव-भाव से विलासपूर्वक नृत्य करने लगीं। पर जब वे मेघरथ को किसी प्रकार ध्यान से विचलित न कर सकीं, तब उन्होंने देवी रूप में प्रकट होकर उनकी खूब प्रशंसा की एव स्वर्ग को चली गई।

एक दिन उसी ईशानेन्द्र ने अपनी सभा में मेघरथ की स्त्री प्रियमित्रा के सौन्दर्य की प्रशसा की। उसे सुन कर रतिषेणा एवं रति नाम की देवियाँ उसकी परीक्षा करने के लिये उसके सन्मुख आयीं। जब वे देवियाँ उसके महल पर पहुँची, तब वह तेल-उबटन आदि लगा कर स्नान कर रही थी। उन देवियों ने गुप्त रूप से उसका रूप देखा एवं मन ही मन उसकी प्रशसा करने लगीं। फिर उन देवियों ने कन्याओं का भेष धारण कर प्रतिहारिणी के द्वारा उसके पास सन्देश भेजा कि दो कन्याएँ आप की सौन्दर्य-सुधा का पान करना चाहती हैं। उत्तर में रानी ने कहला भेजा कि तबतक उन्हें ठहरने को कहो,जबतक मैं स्नान न कर लूँ। प्रियमित्रा स्नान कर उत्तमोत्तम वस्त्र एवं अलङ्कार पहिन कर मिलने के स्थान पर पहुँची एव कन्याओं को अपने समक्ष उपस्थित करने की आज्ञा दी। अनुमति पाते ही दोनों कन्यायें भीतर पहुँचीं एवं रानी प्रियमित्रा का रूप देख कर आश्चर्य से एक दूसरे की ओर देखने लगीं। जब उनके आने का कारण पूछा गया तब वे बोलीं — 'महादेवी ! स्नान करते समय हम लोगों ने आप में जो असीम सौन्दर्य देखा था, अब उसका एक अश नहीं है।' कन्याओं को बात सुन कर प्रियमित्रा ने राजा मेघरथ को ओर देखा। तब राजा ने भी कहा — 'हाँ, पहिले की अपेक्षा तुम्हारे रूप में कमी अवश्य हो गई है। पर बहुत अधिक सूक्ष्म।' इसके बाद दोनों कन्याओं ने देवी-वेष में प्रकट होकर सब रहस्य प्रकट कर दिया तथा उसके रूप की प्रशंसा करती हुई स्वर्ग को चली गयीं। अपने रूप में कमी हो गयी है, यह सुन कर प्रियमित्रा को अत्यधिक दुःख हुआ, पर राजा मेघरथ ने मधुर शब्दों में उसे सान्त्वना दे कर उसका वह दुःख दूर कर दिया।

एक दिन मेघरथ के पिता भगवान धनरथ समवशरण सहित विहार करते हुए पुण्डरीकिणीपुरी के मनोहर उद्यान में आये। जब मेघरथ को उनके आने का समाचार मिला, तो वह उसी समय दृढ़रथ तथा परिवार के अन्य लोगों के साथ उनकी वन्दना के लिये गया तथा वहाँ उन्हें साष्टांग प्रणाम कर पुरुषों के

कोठे में बैठ गया। उस समय भगवान धनरथ ने उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) का विवेचन किया, पश्चात् उन्होंने चतुर्गति-रूप संसार के दुःखों का वर्णन किया, जिसे सुन कर राजा मेघरथ का हृदय संसार से एकदम भयभीत हो गया। उसने उसी समय संयम धारण करने का निश्चय कर लिया एवं गृह आ कर छोटे भाई दृढ़रथ को राज्य देने का प्रस्ताव किया। पर दृढ़रथ ने कहा—'आप जिस वस्तु को बुरी समझ कर स्वयं त्याग रहे हैं, उसे मैं क्यों ग्रहण करूँ ? मेरा भी हृदय सांसारिक वासनाओं से ऊब गया है। इसलिए मैं इस भौतिक राज्य को ग्रहण नहीं करूँगा।' जब दृढ़रथ ने राज्य लेने से अस्वीकार कर दिया, तब उसने अपने पुत्र मेघसेन को राज्य सौंप दिया एवं स्वयं अनेक राजाओं के साथ दीक्षा ले ली। राजा मेघरथ ने मुनि बन कर कठिन से कठिन तपस्यायें कीं एवं दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन किया, जिससे उसके 'तीर्थङ्कर' नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में मुनिराज मेघरथ ने नमस्तिलक पर्वत पर एक महीने का प्रायोपगमन सन्यास धारण कर शान्ति से प्राण त्याग किये, जिससे वे 'सर्वार्थसिद्धि' विमान में अहमिन्द्र हुए। वहाँ उनकी आयु तैंतीस सागर की थी, शरीर की ऊँचाई एक अरात्रि — एक हाथ की थी। लेश्या शुक्ल थी। वे तैंतीस हजार वर्ष बाद आहार लेते थे एवं तैंतीस पक्ष बाद श्वासोछ्वास ग्रहण करते थे। वहाँ उन्हें जन्म से ही 'अवधिज्ञान' प्राप्त हो गया था; इसलिये वे सातवीं पृथ्वी तक की बात स्पष्ट रूप से जान लेते थे। अब आगामी भव में अहमिन्द्र मेघरथ भारतवर्ष में सोलहवें तीर्थङ्कर श्री शान्तिनाथ होंगे।

वर्तमान परिचय

इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में कुरुजांगल देश है। यह देश पास-पास बसे हुए ग्रामों एवं नगरों से बहुत अधिक शोभायमान है। इसमें कहीं ऊँची-ऊँची पर्वतमालायें अपने शिखरों से गगन का स्पर्श करती हैं, कहीं कलरव निनाद करते हुए सुन्दर निर्झर बहते हैं, कहीं नदियाँ धीर प्रशान्त गति से गमन करती हैं तथा कहीं हरे-हरे वनों में मृग-मयूर एवं पशु-पक्षी क्रीड़ा किया करते हैं। यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि प्रकृति ने अपने सौन्दर्य का बहुत-सा भाग उसी देश के निर्माण में प्रयुक्त किया था।

उसी देश में हस्तिनापुर नाम की एक नगरी थी। वह परिखा, प्राकार, कूप, सरोवर आदि से अत्यधिक

सुन्दर प्रतीत होती थी। उस नगरी में अनेक गगनचुम्बी भवन बने हुए थे, जो चन्द्रमा के उदय होने पर ऐसे प्रतीत होते थे, मानो दूध से धोये गये हों। वहाँ की प्रजा धन-धान्य से सम्पन्न थी। कोई किसी बात के लिये दुःखी नहीं था। वहाँ असमय में कभी किसी की मृत्यु नहीं होती थी। वहाँ के लोग बड़े धर्मात्मा एव साधु-स्वभावी थे। वहाँ राजा विश्वसेन राज्य करते थे। वे अत्यधिक शूरवीर-रणधीर थे। उन्होंने अपने बाहुबल से भारतवर्ष के समस्त राजाओं को अपना सेवक बना लिया था। उनकी मुख्य रानी का नाम ऐरा था। उस समय पृथ्वी तल पर ऐरा के साथ सुन्दरता में होड़ लगानेवाली स्त्री दूसरी कोई नहीं थी। राज-दम्पति सुख से समय बिताते थे।

ऊपर कहे हुए अहमिन्द्र मेघरथ की आयु जब सर्वार्थसिद्धि में केवल छह माह की शेष रह गई, तब से विश्वसेन के राज-भवन में प्रतिदिन करोड़ों रत्नों की वर्षा होने लगी। उसी समय अनेक शकुन हुए। इन्द्र की आज्ञा से अनेक देव-कुमारियाँ ऐरा रानी की सेवा के लिये आ गयीं। इन सब कारणों से राजा विश्वसेन को निश्चय हो गया कि उनके गृह पर जगतपूज्य किसी तीर्थङ्कर का जन्म होगा। बड़े ही आनन्द से उनका समय बीतने लगा। महारानी ऐरा ने भाद्रपद कृष्णा सप्तमी के दिन भरणी नक्षत्र मे रात्रि के पिछले प्रहर में सोलह स्वप्न देखे एव अपने मुख में प्रवेश करता हुआ एक सुन्दर हाथी देखा। उसी समय मेघरथ का जीव अहमिन्द्र सर्वार्थसिद्धि की आयु पूरी कर उसके गर्भ में प्रविष्ट हुआ। प्रातःकाल होते ही ऐरा देवी ने राजा विश्वसेन से उन स्वप्नों का फल पूछा। तब उन्होंने कहा — 'आज तुम्हारे गर्भ में तीर्थङ्कर ने प्रवेश किया है। नौ माह बाद उनका जन्म होगा। ये स्वप्न उन्हीं का अभ्युदय बतला रहे हैं। पति के मुख से स्वप्नों का फल सुन कर रानी ऐरा को अत्यधिक आनन्द हुआ। उसी समय देवों ने आ कर गर्भ-कल्याणक का उत्सव मनाया तथा उत्तमोत्तम वस्त्राभूषणों से राज-दम्पति की पूजा की। धीरे-धीरे जब गर्भ के नौ माह पूर्ण हो गये, तब ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन भरणी नक्षत्र में प्रातः समय ऐरा ने पुत्र-रत्न प्रसव किया। उस पुत्र के प्रभाव से तीनों लोकों मे आनन्द छा गया। आसनों के कम्पायमान होने से देवों ने तीर्थङ्कर की उत्पत्ति का निश्चय कर लिया तथा शीघ्र ही समस्त परिवार के साथ हस्तिनापुर आ पहुँचे। वहाँ से इन्द्र, बालक को ऐरावत हाथी पर बैठा कर मेरु पर्वत पर ले गया तथा वहाँ उसने उस सद्यःप्रसूत बालक का क्षीर-सागर के

जल से महाभिषेक किया । फिर समस्त देवगण सेना के साथ हस्तिनापुर आकर इन्द्र ने पुत्र को माता की गोद में समर्पित किया। राज-भवन में देव-देवियों ने मिल कर अनेक उत्सव किये। इन्द्र ने 'आनन्द' नाम का नाटक किया। उस बालक का नाम 'भगवान शान्तिनाथ' रक्खा गया।

जन्म का उत्सव समाप्त कर देवगण अपने-अपने स्थान पर चले गये तथा बालक शान्तिनाथ का राज-परिवार में बड़े प्रेम से पालन होने लगा। भगवान धर्मनाथ के बाद पौन पल्य कम तीन सागर बीत जाने पर स्वामी शान्तिनाथ हुए थे। उनकी आयु भी इसी में युक्त है। उनकी आयु एक लाख वर्ष की थी, शरीर की ऊँचाई चालीस धनुष की तथा कान्ति सुवर्ण के समान पीली थी। उनके शरीर में ध्वजा, छत्र, शङ्ख, चक्र तथा मङ्गलकारक चिह्न थे। क्रम से भगवान शान्तिनाथ ने युवावस्था में पदार्पण किया। उस समय उनके शरीर का गठन तथा अनुपम सौन्दर्य देखते ही बनता था।

दृढ़रथ, जो कि राजा मेघरथ का छोटा भाई था एव उसी के साथ तपस्या कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था, राजा विश्वसेन की द्वितोया पत्नी यशस्वती के गर्भ से चक्रायुध नाम का पुत्र हुआ। उसकी उत्पत्ति के समय में भी अनेक उत्सव मनाये गये थे। महाराज विश्वसेन ने योग्य अवस्था देख कर अपने दोनों पुत्रों का कुल-वय-रूप-शील आदि से शोभायमान अनेक कन्याओं के साथ विवाह करवाया था; जिनके साथ वे तरह-तरह के कौतुक करते हुए सुख से समय बिताते थे। इस तरह देवदुर्लभ सुख भोगते हुए, जब भगवान शान्तिनाथ के कुमार काल के पच्चीस हजार वर्ष बीत गये, तब महाराज विश्वसेन ने राज्याभिषेकपूर्वक उन्हें अपना राज्य सौंप दिया एव वन में जा कर दीक्षा ले ली।

इधर भगवान शान्तिनाथ छोटे भाई चक्रायुध के साथ प्रजा का पालन करने लगे। कुछ समय बाद उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ, जिससे उन्हें अपने-आप चक्रवर्ती होने का निश्चय हो गया। चक्ररत्न प्रकट होने के बाद ही वे असख्य सेना ले कर दिग्विजय के लिये निकल पड़े एवं क्रम-क्रम से भरत-क्षेत्र के ों खण्डों को जीत कर हस्तितापुर वापिस आ गये। वे चौदह रत्न एवं नौ निधियों के स्वामी थे। समस्त ना उनकी आज्ञा को पुष्पों की माला समझ कर हर्षपूर्वक अपने मस्तक पर धारण करते थे। चौदह त्नों में से चक्र-छत्र-खड्ग एव दण्ड — ये चार रत्न आयुधशाला में उत्पन्न हुए थे। कांकिणी, चर्म तथा

चूड़ामणि श्रीगृह में में प्रकट हुए थे। पुरोहित, सेनापति, स्थपति एव गृहपति हस्तिनापुर में ही मिल गये। पट्टरानी, हाथी एव घोड़े विजयार्ध पर्वत से प्राप्त हुए थे। नव-निधियाँ भी पुण्य से प्राप्त हुई जो उन्हें इन्द्र ने नदी एव सागर के सगम के स्थान पर दी थी। इस तरह चक्रधर भगवान शान्तिनाथ पच्चीस हजार वर्ष तक अनेक सुख भोगते हुए राज्य करते रहे।

एक दिन वे श्रृङ्गार-गृह में बैठ कर दर्पण में अपना मुख देख रहे थे कि उसमें उन्हें अपने मुख के दो प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़े। मुख के दो प्रतिबिम्ब देख कर उन्हें आश्चर्य हुआ कि यह क्या है? उसी समय उन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया, जिससे वे पूर्व-भव की समस्त बातें जान गये। उन्होंने सोचा—'मैं ने पूर्व-भव में मुनि अवस्था में जो-जो कार्य करने का सकल्प किया था, अभी तक उन कार्यों का सूत्रपात भी नहीं किया। मैं ने अपनी विशाल आयु सामान्य पुरुषों की तरह भोग-विलास में फँस कर कर व्यर्थ ही बिता दी। समस्त विषय-सामग्री क्षण-भगुर हैं — देखते-देखते नष्ट हो जाती हैं; इसलिये इनसे मोह त्याग कर आत्म-कल्याण करना चाहिये। इस तरह चिन्तवन कर भगवान शान्तिनाथ श्रृङ्गार-गृह से बाहर निकले। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आ कर उनके चिन्तवन का समर्थन किया, जिससे उनका वैराग्य-सागर अत्यधिक लहराने लगा। लौकान्तिक देवगण अपना कार्य समाप्त कर ब्रह्मलोक को चले गये तथा वहाँ से इन्द्र आदि समस्त देवगण हस्तिनापुर आये। भगवान शान्तिनाथ अपने पुत्र नारायण को राज्य सौंप कर 'सर्वार्थसिद्धि' पालकी पर सवार हो गये। देवगण पालकी को कन्धों पर उठा कर सहस्राम्र वन में ले गये। वहाँ उन्होंने ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्थी के दिन सध्या के समय भरणी नक्षत्र में 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कहते हुए जिन-दीक्षा ले ली। सामायिक चरित्र की विशुद्धता से उन्हें उसी समय 'मनःपर्यय-ज्ञान' प्राप्त हो गया। उनके साथ चक्रायुध आदि एक हजार राजाओं ने भी दिगम्बर दीक्षा धारण की। देवगण दीक्षा-कल्याणक का उत्सव समाप्त कर चले गये।

तीन दिन बाद मुनिराज शान्तिनाथ ने आहार के लिये मन्दरपुर में प्रवेश किया। वहाँ उन्हें राजा सुमित्र ने भक्तिपूर्वक आहार दिया। पात्र-दान से प्रभावित होकर देवों ने महाराज सुमित्र के महल पर रत्नों की वर्षा की। आहार ले कर भगवान शान्तिनाथ पुनः वन में लौट आये एवं आत्म-ध्यान में लीन हो गये। इस तरह

उन्होंने छद्मस्थ अवस्था में सोलह वर्ष बिताये। इन सोलह वर्षों में भी आप ने अनेक स्थानों पर विहार किया एवं अपनी सौम्य मूर्ति से सब स्थानों पर शान्ति के झरने बहा दिये। इसके अनन्तर आप विहार करते हुए उसी सहस्राम्र वन में आये एव वहाँ नन्द्यावर्त नामक पेड़ के नीचे तीन दिन के उपवास की प्रतिज्ञा ले कर विराजमान हो गये। उस समय भी उनके साथ चक्रायुध आदि एक हजार मुनिराज विराजमान थे। उसी समय उन्होंने क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ होकर शुक्लध्यान के द्वारा चार घातिया-कर्मों का क्षय कर केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन, अनन्त-सुख तथा अनन्त-चतुष्टय प्राप्त किये। देवों ने आ कर 'कैवल्य-प्राप्ति' का उत्सव किया एव कुबेर ने 'समवशरण' की रचना की। समवशरण के मध्य में विराजमान होकर भगवान शान्तिनाथ ने अपना मौन भङ्ग किया — दिव्य-ध्वनि के द्वारा सप्त तत्व, नव पदार्थ, छह द्रव्य आदि का व्याख्यान किया, जिसे सुन कर समस्त भव्य प्राणी प्रसन्न हुए। अनेकों ने जिन-दीक्षा धारण की। उनके समवशरण में चक्रायुध आदि छत्तीस गणधर थे, आठ सौ श्रुतकेवली थे, इकतालीस हजार आठ सौ शिक्षक थे, तीन हजार अवधिज्ञानी थे, चार हजार केवलज्ञानी थे, छह हजार विक्रिया-ऋद्धि के धारक थे, चार हजार मनःपर्यय ज्ञानी थे, दो हजार चार सौ शास्त्रार्थ करनेवाले वादी थे — इस तरह सब मिला कर बासठ हजार मुनिराज थे। हरिषेणा आदि साठ हजार तीन सौ आर्यिकायें थी। सुरकीर्ति आदि दो लाख श्रावक, अर्हद्दासी आदि चार लाख श्राविकायें, असंख्यात देव-देवियाँ एव असंख्यात तिर्यञ्च थे। इन सब के साथ उन्होंने अनेक देशों में विहार किया एवं जैन-धर्म का खूब प्रचार किया।

मत्तगयन्द छन्द — शान्ति जिनेश जयो जगतेश हरे अघ ताप निशेष की नाँई।
सेवत पाय सुरासुर आय नमैं सिर नाय मही तल ताँई॥
मौलि विषै मणि नील दिपै प्रभु के चरणों झलकै बहु झाँई।
सूँघन पाय-सरोज सुगन्धि किधों चल के अलि पङ्क्ति आँई॥ — भूधरदास
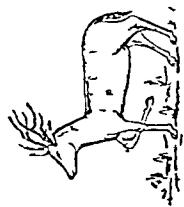
(१७) भगवान श्री कुन्थुनाथजी

ररक्ष कुन्थु प्रमुखानूहि जीवान् दया प्रतापेन, दयालयो यः।
स कुन्थुनाथो दयया सनाथः करोतु मां शीघ्रम् अहो अनाथम्॥ —लेखक

'दया के आलय स्वरूप जिन कुन्थुनाथ ने दया के समूह से कुन्थु आदि जीवों की रक्षा की थी, वे दयायुक्त भगवान कुन्थुनाथ मुझ अनाथ को शीघ्र ही सनाथ करें।'

पूर्व-भव परिचय

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह-क्षेत्र सीता नदी के दाहिने किनारे पर एक वत्स देश है। उसकी राजधानी सुसीमा नगरी थी। उसमें किसी समय सिंहरथ नाम का राजा राज्य करता था। वह अत्यधिक बुद्धिमान एवं पराक्रमी था। उसने अपने बाहुबल से समस्त शत्रु राजाओं को पराजित कर उन्हें देश से निकाल दिया था। उसका नाम सुन कर शत्रु राजा थर-थर काँपते थे।

एक दिन राजा सिंहरथ महल की छत पर बैठा हुआ था कि इतने में आकाश से उल्का-पात (रेखाकार तेज निपात) हुआ। उसे देख कर वह सोचने लगा कि 'ससार के सब पदार्थ इसी तरह अस्थिर हैं। मैं अपनी

भूल से उन्हें स्थिर समझ कर उनमें आसक्त हो रहा हूँ। यह मोह बड़ा प्रबल पवन है, जिसके प्रचण्ड वेग से बड़े-बड़े भूधर भी विचलित हो जाते हैं। यह बड़ा सघन तिमिर है, जिसमें दूरदर्शी आँखें भी काम नहीं कर सकतीं एव यह वह प्रचण्ड दावानल है, जिसकी ऊष्मा से वैराग्य-लतायें झुलस जाती हैं। इस मोह के कारण ही प्राणी चारों गतियों में तरह-तरह के दुःख भोगते हैं। अब मुझे इस मोह को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।' ऐसा सोच कर उसने अपने पुत्र को राज्य सौंप कर यतिवृषभ मुनिराज के पास दीक्षा ले ली एवं कठिन तपस्याओं के द्वारा अपने शरीर को सुखा दिया। उक्त मुनिराज के पास रह कर उसने ग्यारह अङ्गों का अध्ययन किया एव दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध किया। आयु के अन्त में सन्यासपूर्वक शरीर त्याग कर मुनिराज सिंहरथ सर्वार्थसिद्धि के विमान में अहमिन्द्र हुए। वहाँ उसे तैंतीस सागर की आयु प्राप्त हुई थी, उसका शरीर एक हाथ ऊँचा था, शुक्ल लेश्या थी। उसे जन्म से ही अवधिज्ञान था। वह तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार ग्रहण करता एव तैंतीस पक्ष बाद श्वासोच्छ्वास लेता था। वहाँ वह अपना समस्त समय तत्व-चर्चा में ही बिताता था। यही अहमिन्द्र आगे के भव में कथानायक भगवान कुन्थुनाथ होगा।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में कुरुजांगल नामक एक देश है। उसके हस्तिनापुर नगर में कुरुवंशी एव कश्यप गोत्री महाराज शूरसेन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम श्रीकान्ता था। जब ऊपर कहे अहमिन्द्र की आयु केवल छह महीने की शेष रह गई, तब देवों ने महाराज के महल पर रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी। उसी समय श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि आदि देवियाँ आ कर महारानी की सेवा करने लगीं। श्रावण कृष्णा एकादशी के दिन कृत्तिका नक्षत्र में रात्रि के पिछले प्रहर में श्रीकान्ता ने सोलह स्वप्न देखे।

उसी समय उक्त अहमिन्द्र ने सर्वार्थसिद्धि से चय कर उसके गर्भ में प्रवेश किया। प्रातः होते ही रानी ने राजा से स्वप्नों का फल पूछा। तब उन्होंने कहा कि आज तुम्हारे गर्भ में किसी जगतपूज्य तीर्थङ्कर बालक ने प्रवेश किया है। नव माह बाद तुम्हारे गर्भ से तीर्थङ्कर बालक का जन्म होगा। समस्त देव-देवेन्द्र उसे नमस्कार करेंगे। ये सोलह स्वप्न उसी का अभ्युदय बतला रहे हैं। पतिदेव के मुख से स्वप्नों का फल एवं

भावी पुत्र का प्रभाव सुन कर रानी श्रीकान्ता अत्यधिक हर्षित हुईं। उसी वक्त देवों ने आ कर स्वर्ग से लाये हुए वस्त्राभूषणों से राजा-रानी की पूजा की एवं उनके भवन में अनेक उत्सव मनाये। जब गर्भ के नौ माह सुख से व्यतीत हो गये, तब महारानी श्रीकान्ता ने वैशाख शुक्ला प्रतिपदा (परिवा) के दिन कृत्तिका नक्षत्र में पुत्र को जन्म दिया। भगवान के जन्म से कुछ समय के लिए नारकी भी सुखी हो गये। उसी समय भक्ति से प्रेरित चारों निकाय के देव हस्तिनापुर आये एव वहाँ से उस सद्यःप्रसूत बालक को मेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ उन्होंने क्षीर-सागर के जल से उनका कलशाभिषेक किया। अभिषेक समाप्त होने पर इन्द्राणी ने उन्हें बालोचित आभूषण पहिनाये एवं इन्द्र ने मनोहर शब्दों में उनकी स्तुति की। इसके अनन्तर समस्त देवगण हर्ष से नृत्य-ध्वनि करते हुए हस्तिनापुर आये। इन्द्र, जिन-बालक को अपनी गोद में लिए हुए ऐरावत हाथी से नीचे उतरा एव राज-भवन में जा कर उसने बालक को माता श्रीकान्ता के पास भेजा एव उनका नाम भगवान कुन्थुनाथ रक्खा।

भगवान कुन्थुनाथ के जन्मोत्सव से उल्लसित हस्तिनापुर ऐसा लग रहा था, मानो साक्षात् इन्द्रपुरी ही स्वर्ग से उतर कर भूलोक पर आ गयी हो। उत्सव समाप्त कर देवगण अपने-अपने विमान को चले गये। बालक कुन्थुनाथ का राज-परिवार में बड़े लाड़-प्यार से पालन होने लगा। इन्द्र प्रतिदिन स्वर्ग से उनकी प्रिय वस्तुयें भेजा करता था एव अनेक देवगण विक्रिया के बल से तरह-तरह के रूप बना कर उन्हें प्रसन्न रखते थे। द्वितीया के चन्द्रमा की तरह क्रम से बढ़ते हुए भगवान कुन्थुनाथ यौवन अवस्था को प्राप्त हुए। उस समय उनके शरीर की शोभा बड़ी मनोहर हो गई थी। महाराज शूरसेन ने कई योग्य कन्याओं के साथ उनका विवाह किया एवं कुछ समय बाद युवराज बना दिया।

भगवान शान्तिनाथ के मोक्ष जाने के बाद जब आधा पल्य बीत गया था, तब श्री कुन्थुनाथ हुए थे, उनकी आयु भी इसी में युक्त है। उनका शरीर पैंतालीस धनुष ऊँचा था, शरीर की कान्ति सुवर्ण के समान पीली थी एवं आयु पञ्चानवे हजार वर्ष की थी। जब उनकी आयु के तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष बीत गये, तब उन्हें राज्य प्राप्त हुआ था एव जब इतना ही समय राज्य करते हुए बीत गया था, तब उन्हें चक्ररत्न प्राप्त हुआ था। चक्ररत्न के प्राप्त होते ही वे समस्त सेना के साथ षट्खण्डों की विजय के लिए निकले एवं

कुछ वर्षों में समस्त भरत-क्षेत्र में अपना एकछत्र शासन स्थापित
जब दिग्विजयी सम्राट् कुन्थुनाथ ने

कुछ वर्षों में समस्त भरत - क्षेत्र में अपना एकछत्र शासन स्थापित कर हस्तिनापुर को वापिस लौट आये। जब दिग्विजयी सम्राट् कुन्थुनाथ ने राजधानी में प्रवेश किया, तब बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं ने उनका स्वागत किया था। देवों एवं राजाओं ने मिल कर उनका पुनः राज्याभिषेक किया। इस तरह वे चक्रवर्ती बन कर देवदुर्लभ सुख भोगते हुए सुख से समय बिताने लगे।

एक दिन भगवान कुन्थुनाथ अपने प्रिय परिवार के साथ किसी वन में गये थे। वहाँ से लौटते समय मार्ग में उन्हें ध्यान करते हुए मुनिराज दिखलाई पड़े। उन्होंने उसी समय अँगुली से इशारा कर अपने मन्त्री से कहा — 'देखो, कितनी शान्त मुद्रा है।' जब मन्त्री ने उनसे उनके मुनिव्रत धारण करने का कारण पूछा, तब उन्होंने कहा—'मुनिव्रत धारण करने से संसार में फँसानेवाले समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं, फलतः मोक्ष प्राप्त हो जाता है।'

कुन्थुनाथ ने जितने वर्ष सामान्य राजा रह कर राज्य किया था, उतने ही वर्ष सम्राट होकर भी राज्य किया। एक दिन योग्य कारण उपस्थित होने पर उनका चित्त विषयों से उदासीन हो गया, जिससे उन्होंने जिन-दीक्षा लेने का सुदृढ़ सकल्प कर लिया। उसी समय लौकान्तिक देवों आ कर उनकी स्तुति की एवं उनके चिन्तवन का समर्थन किया। लौकान्तिक देवगण अपना कार्य पूरा कर अपने-अपने स्थान पर वापिस चले गये। किन्तु उनके बदले हर्ष से समुद्र की तरह उमड़ते हुए असंख्यात देवगण हस्तिनापुर आ पहुँचे एवं दीक्षा-कल्याणक की विधि करने लगे।

भगवान कुन्थुनाथ पुत्र को राज्य सौंप कर देव-निर्मित 'विजया' नामक पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में जा पहुँचे एव वहाँ तीन दिन के उपवास की प्रतिज्ञा ले कर वैशाख शुक्ला परिवा के दिन कृत्तिका नक्षत्र में सध्या के समय वस्त्राभूषण त्याग कर दिगम्बर हो गये। उन्हें दीक्षा के समय ही मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। देवगण उत्सव समाप्त कर अपने-अपने स्थानों को चले गये। चौथे दिन आहार लेने की इच्छा से उन्होंने हस्तिनापुर में प्रवेश किया। वहाँ धर्ममित्र ने उन्हें आहार दे कर अचिंत्य पुण्य का सञ्चय किया। वे आहार ले कर वन में लौट आये एवं कठिन तपस्या करने लगे। दीक्षा लेने के बाद वे मौन से ही रहते थे। इस तरह कठिन तपश्चर्या करते हुए उन्होंने सोलह वर्ष मौन से व्यतीत किये। इसके अनन्तर विहार करते हुए वे उसी

सहेतुक वन में आये एव वहाँ तिलक वृक्ष के नीचे तेला (तीन दिन) के उपवास की प्रतिज्ञा ले कर विराजमान हो गये। आत्मा की विशुद्धि बढ़ जाने से उन्हें उसी समय चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन कृत्तिका नक्षत्र में संध्या के समय 'केवलज्ञान' प्राप्त हो गया। देवों ने आ कर उनके ज्ञान-कल्याणक की पूजा की। कुबेर ने 'समवशरण' बनाया। उसके मध्य में स्थित होकर उन्होंने अपना मौन भङ्ग किया — दिव्य-ध्वनि के द्वारा पदार्थों का व्याख्यान किया एवं चारों गतियों के दुःखों का चित्रण किया। उनके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक पुरुष-स्त्रियों ने मुनि, आर्यिका एवं श्रावक-श्राविकाओं के व्रत धारण किये। प्रथम उपदेश समाप्त होने के बाद उन्होंने अनेक आर्य-क्षेत्रों में विहार किया, जिससे जैन-धर्म का सर्वत्र सामूहिक प्रचार हुआ।

उनके समवशरण में स्वयम्भू आदि पैंतीस गणधर थे, सात सौ श्रुतकेवली थे, तैंतालीस हजार एक सौ पचास शिक्षक थे, दो हजार पाँच सौ अवधिज्ञानी थे, तीन हजार दो सौ केवलज्ञानी थे, पाँच हजार एक सौ विक्रिया-ऋद्धि के धारक थे, तीन हजार तीन सौ मनःपर्ययज्ञानी थे एव दो हजार पचास शास्त्रार्थ करनेवाले वादी थे। इस तरह सब मिला कर साठ हजार मुनिराज थे। 'भविता' आदि साठ हजार तीन सौ पचास आर्यिकायें थीं। तीन लाख श्रावक, दो लाख श्राविकायें, असख्यात देव-देवियाँ एव असख्यात तिर्यञ्च थे। जब उनकी आयु केवल एक माह की शेष रह गई, तब वे श्री सम्मेदशिखर पर जा पहुँचे एव वहीं पर प्रतिमा-योग धारण कर एक हजार मुनियों के साथ वैशाख शुक्ला परिवा के दिन कृतिका नक्षत्र में रात्रि के पूर्वभाग में मोक्ष मन्दिर के अतिथि बन गये। देवों ने आ कर उनके निर्वाण-क्षेत्र की पूजा की।

भगवान कुन्थुनाथ तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती एव कामदेव — इन तीन पदवियों से विभूषित थे। इनका चिह्न 'बकरा' था।

(१८) भगवान श्री अरहनाथजी

शार्दूलविक्रीडितम्

त्यक्तं येन कुलालचक्रमिव तच्चक्रं धराचक्रचित् ।
श्रीश्चासौघट दासिकैव परम श्रीधर्मचक्रेप्सया ॥
युष्मान् भक्तिभरानतान्स दुरितारति रथ ध्वंसकृत् ।
पायाद्भव्यजनानरो जिनपतिः संसार भीरून् सदा ॥ —आचार्य गुणभद्र

'जिसने, भूमण्डल को सचित करनेवाले चक्ररत्न को कुम्भकार के चक्र के समान त्याग दिया एव जिसने अर्हन्त्य लक्ष्मी तथा धर्मचक्र की प्राप्ति की इच्छा से राज्य-लक्ष्मी को गृह दासी (जल भरनेवाली) की तरह त्याग दिया, वे पाप-रूपी बैरियों का विध्वस करनेवाले भगवान अरहनाथ, भक्तिभाव से नम्रीभूत एव ससार से डरनेवाले भव्यजनों की सतत् रक्षा करें ।'

पूर्व-भव परिचय

जम्बूद्वीप के विदेह-क्षेत्र मे सीता नदी के उत्तर तट पर कच्छ नाम का एक देश है । उसके क्षेमपुर नगर में धनपति नाम का राजा राज्य करता था । वह बुद्धिमान् था, बलवान् था, न्यायवान् था, प्रतापवान् था एवं था अत्यधिक दयावान् । उसने अपने दान से कल्पवृक्षों को एव निर्मल यश से शरच्चन्द्र के मरीति-मण्डल को भी पराजित कर दिया था । उसकी चतुराई एव उसके बल का सब से बड़ा प्रमाण यह था कि उसके जीवन काल में उसका कोई भी शत्रु नहीं था । वह दीन-दुःखी प्राणियों के दुःख को देख कर अत्यधिक दुःखी हो जाता था, इसलिये वह तन-मन-धन से उनकी सहायता किया करता था । उसके राज्य में राजवर्ग तथा प्रजागण— सभी लोग अपनी-अपनी आजीविका के उपायों का उल्लङ्घन नहीं करते थे, इसलिये कोई भी दुःखी नहीं था।

एक दिन राजा ने अर्हन्नन्दन नामक तीर्थङ्कर से धर्म का स्वरूप एव चतुर्गतियों के दुःखों का श्रवण

श्री
चौ
बी
सी

२८,२

किया, जिससे उसका चित्त विषयानन्द से सर्वथा हट गया। उसने अपना राज्य पुत्र को सौंप दिया एवं स्वयं किसी आचार्य के पास दीक्षित हो गया। आचार्य के पास रह कर उसने ग्यारह अङ्गों का अध्ययन किया तथा दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन किया, जिससे उसे 'तीर्थङ्कर' नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। इस तरह कुछ वर्षों तक कठिन तपस्या करने के बाद उसने आयु के अन्त में समाधिमरण किया, जिससे वह जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहाँ उसकी आयु तैंतीस सागर प्रमाण थी, लेश्या शुक्ल थी एवं शरीर की ऊँचाई एक हाथ की थी। वहाँ वह अवधिज्ञान से सातवें नरक तक की बात जान लेता था। तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता था एवं तैंतीस पक्ष में एक बार सुगन्धित श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता था। वहाँ वह प्रवीचार सम्बन्ध से सर्वथा रहित था। उसका समस्त समय जिन-पूजा या तत्व-चर्चाओं में ही बीतता था। यही अहमिन्द्र आगे के भव में भगवान अरहनाथ होगा।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में कुरुजांगल देश है। उसके हस्तिनापुर नगर में सोमवंशीय काश्यप-गोत्री राजा सुदर्शन राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम मित्रसेना था। दोनों राज-दम्पतियों में घनिष्ठ प्रेम था। तरह-तरह के कौतुक करते हुए उन दोनों का समय अत्यधिक सुख से व्यतीत होता था। जब ऊपर कहे हुए अहमिन्द्र की आयु केवल छह माह की शेष रह गई, तब से राजा सुदर्शन के महल पर देवों ने रत्न-वर्षा करनी शुरू कर दी। कुबेर ने एक नवीन हस्तिनापुर की रचना कर उसमें महाराज सुदर्शन तथा समस्त नागरिक प्रजा को ठहराया। इन्द्र की आज्ञा से देवकुमारियाँ आ कर रानी मित्रसेना की सेवा करने लगीं। इन सब शुभ निमित्तों को देख कर राजा-प्रजा को अत्यधिक आनन्द होता था।

फाल्गुन कृष्णा तृतीया के दिन रेवती नक्षत्र के उदय रहते हुए, रात्रि के पिछले प्रहर में महादेवी मित्रसेना ने सोलह स्वप्न देखे। उसी समय उक्त अहमिन्द्र जयन्त विमान से च्युत होकर उसके गर्भ में आया। प्रातः होते ही रानी ने प्राणनाथ राजा सुदर्शन से स्वप्नों का फल पूछा, तब उन्होंने कहा — 'आज तुम्हारे गर्भ में जगद्वन्द्य किसी महापुरुष ने प्रवेश किया है। नव माह बाद तुम्हारे अत्यन्त प्रतापी पुत्र उत्पन्न होगा।'

इधर राजा रानी को स्वप्नों का फल सुना रहे थे, उधर 'जय-जय' घोष से आकाश को गुञाते हुए देवगण आ गये एवं भावी तीर्थङ्कर अरहनाथ का 'गर्भ-कल्याणक' उत्सव मनाने लगे। उन्होंने राजा सुदर्शन तथा रानी मित्रसेना का अत्यधिक सन्मान किया एवं उन्हें स्वर्ग से लाये हुए अनेक वस्त्राभूषण भेंट किये। गर्भाधान का उत्सव समाप्त कर देवगण अपने-अपने स्थान पर चले गये।

नौ माह बाद रानी मित्रसेना ने मगसिर शुक्ला चतुर्दशी के दिन पुष्प नक्षत्र में मति, श्रुति एवं अवधिज्ञान से विभूषित तीर्थङ्कर पुत्र को जन्म दिया। पुत्र के उत्पन्न होते ही सब ओर आनन्द छा गया। भक्ति से ओत-प्रोत चारों निकायों के देवों ने मेरु पर्वत पर ले जा कर उनका अभिषेक किया। वहाँ से लौट कर इन्द्र ने महाराज सुदर्शन के महल पर 'आनन्द' नामक नाटक प्रदर्शित किया तथा अनेक प्रकार के उत्सव किये। उस समय राज-भवन में जो विपुल जन-समुदाय एकत्र था, उससे ऐसा प्रतीत होता था कि मानो तीनों लोकों के समस्त प्राणी वहाँ एकत्रित हो गये हों। (तीर्थङ्कर) पुत्र का नाम 'अरहनाथ' रक्खा गया। देवगण 'जन्म-कल्याणक' का उत्सव समाप्त कर अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

राज-भवन में भगवान अरहनाथ का बड़े प्यार से लालन-पालन होने लगा। वे अपनो बाल चेष्टाओं से माता-पिता, बन्धु-बान्धव आदि को बहुत अधिक हर्षित करते थे। माता मित्रसेना की आशाओं के अनुरूप वे निरन्तर बढ़ने लगे। जब उन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया, तब उनकी शोभा अनुपम हो गई थी। उनकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर लोग उन्हें 'कामदेव' कहने लगे थे।

श्री कुन्थुनाथ तीर्थङ्कर के बाद एक हजार करोड़ वर्ष कम चौथाई पल्य बीत जाने पर भगवान अरहनाथ हुए थे। उनकी आयु भी इसी अन्तराल में युक्त है। जिनराज अरहनाथ की उत्कृष्ट आयु चौरासी हजार वर्ष की थी। तीस धनुष ऊँचा शरीर था। शरीर की कान्ति सुवर्ण के समान पीत थी। उनके शरीर को रोग-शोक, दुःख आदि तो छू भी नहीं पाते थे। योग्य अवस्था देख कर महाराज सुदर्शन ने उनका अनेक कुलीन कन्याओं के साथ विवाह कर दिया एवं कुछ समय बाद उन्हें युवराज पद पर नियुक्त कर दिया। इस तरह कुमार काल के इक्कीस हजार वर्ष बीत जाने पर उन्हें राज्य प्राप्त हुआ एवं इतने ही वर्ष बाद उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ। भगवान अरहनाथ चक्ररत्न को आगे कर विशाल सेना के साथ दिग्विजय

के लिए निकले एवं कुछ ही वर्षों में समस्त भरत-क्षेत्र में अपना आधिपत्य स्थापित कर हस्तिनापुर वापिस लौट आये। दिग्विजयी सम्राट् अरहनाथ का नगर-प्रवेशोत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया गया था। उन्होंने चक्रवर्ती होकर इक्कीस वर्ष तक राज्य किया एवं इस तरह उनकी आयु का तीन-चौथाई अंश गृहस्थ अवस्था में ही बीत गया। एक दिन उन्हें शरद् ऋतु के बादलों का नष्ट होना देख कर वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आ कर स्तुति की एव उनके चिन्तवन का समर्थन किया, जिससे उनकी वैराग्य-भावना बड़ी ही प्रबल हो उठी थी। लौकातिक देव अपना कार्य पूर्ण समझ कर स्वर्ग को लौट गये एव उनके बदले समस्त देव-देवेन्द्र उनके राज्य में आये। उन सब ने मिल कर भगवान अरहनाथ का दीक्षा-अभिषेक किया तथा वैराग्य को बढ़ानेवाले अनेक उत्सव किये। भगवान अरहनाथ अपने पुत्र अरविंद कुमार को राज्य सौंप कर देव-निर्मित 'वैजयन्ती' नाम की पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा ले कर मगसिर शुक्ला दशमी के दिन रेवती नक्षत्र के समय जिन-दीक्षा धारण कर ली — समस्त वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये एव पञ्च-मुष्टियों से समस्त केश उखाड़ डाले। उन्हें उसी समय मनःपर्यय ज्ञान भी प्राप्त हो गया था। उनके साथ में एक हजार अन्य राजाओं ने भी दीक्षा ली थी। देवगण 'निःक्रमण-कल्याणक' का उत्सव समाप्त कर अपने-अपने विमानों को चले गये एव भगवान अरहनाथ मेरु पर्वत की तरह अचल होकर आत्म-ध्यान में लीन हो गये। पारणा के दिन वे चक्रपुर नगर मे गये, वहाँ राजा अपराजित ने उन्हें शुद्ध प्रासुक आहार दिया। पात्र-दान से प्रभावित होकर देवों ने राजा अपराजित के महल पर पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। आहार लेने के बाद वे वन में लौट आये एव वहाँ कठिन तपश्चर्या के द्वारा आत्म-शुद्धि करने लगे।

उन्होंने कई स्थानों पर विहार कर छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष व्यतीत किये। इन दिनों वे मौनपूर्वक रहते थे। इसके अनन्तर वे उसी सहेतुक वन मे आ कर दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा ले कर माकन्द-आम्र वृक्ष के नीचे बैठ गये। वहाँ पर उन्हें घातिया-कर्मो का क्षय हो जाने से कार्तिक शुक्ला द्वादशी के दिन रेवती नक्षत्र में सध्या के समय पूर्णज्ञान 'केवलज्ञान' प्राप्त हो गया, जिससे वे समस्त जगत् की चराचर वस्तुओं को हस्तकमलावत् स्पष्ट जानने लगे। उसी समय देवों ने आ कर 'ज्ञान-कल्याणक' का उत्सव किया। कुबेर ने

दिव्य-सभा 'समवशरण' की रचना की, जिसके मध्य में सिंहासन पर अन्तरिक्ष विराजमान होकर उन्होंने अपना सोलह वर्ष का मौन भङ्ग किया — मधुर-ध्वनि में सब को उपदेश देने लगे। उपदेश के समय समवशरण की बारहों सभायें पूर्णतः भरी हुई थीं। उनके उपदेश से प्रतिबुद्ध होकर अनेक नर-नारियों ने व्रत एव दीक्षाएँ ग्रहण की थीं। इसके बाद उन्होंने अनेक क्षेत्रों में विहार किया एवं जैन-धर्म का व्यापक प्रचार किया। अनेक पथ-भ्रान्त पुरुषों को उन्होंने सच्चे पथ पर लगाया।

उनके समवशरण में कुम्भार्प आदि तीस गणधर थे, छह सौ दश श्रुतकेवली थे, पैंतीस हजार आठ सौ पैंतीस शिक्षक थे, अट्ठाईस सौ अवधिज्ञानी थे, अट्ठाईस सौ केवलज्ञानी थे, चार हजार तीन सौ विक्रिया-ऋद्धि के धारक थे, दो हजार पचपन मनःपर्यय ज्ञानी थे एव एक हजार छह सौ वादी थे। इस तरह सब मिला कर अर्द्ध लक्ष (पचास हजार) मुनिराज थे। यक्षिला आदि साठ हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख साठ हजार श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ एवं असख्यात तिर्यञ्च थे।

जब उनकी आयु एक माह की अवशिष्ट रह गई, तब उन्होंने श्री सम्मेदशिखर पर पहुँच कर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा-योग धारण कर लिया एवं वहीं से चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पहिले प्रहर में मोक्ष प्राप्त किया। देवों ने आ कर उनके निर्वाण-क्षेत्र की पूजा की तथा अनेक उत्सव मनाये। श्री अरहनाथ भी पहिले के दो तीर्थङ्करों की तरह तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती एव कामदेव — इन तीन पदवियों के धारक थे। भगवान अरहनाथ का चिह्न मछली था।

(१९) भगवान श्री मल्लिनाथजी

मोह मल्ल मद भेदन धीरं कीर्तिमान मुखरीकृत वीरम्।
धैर्यखड्ग विनिपातित मारं तं नमामि वर मल्लिकुमारम्॥ —लेखक

'जो मोह-मल्ल का भेदन करने में धीर-वीर हैं, जिन्होंने अपनी कीर्ति-गाथाओं से वीर पुरुषों को वाचाल

किया है एवं जिन्होंने धैर्य-रूपी कृपाण से कामदेव को नष्ट कर दिया है; मैं उन मल्लिकुमार को नमस्कार करता हूँ।'

पूर्व-भव परिचय

जम्बूद्वीप के विदेह-क्षेत्र में मेरु पर्वत से पूर्व की ओर एक कच्छपवती देश है। उसमें अपनी शोभा से स्वर्गपुरी को जीतनेवाली बीतशोका नाम की एक नगरी है। एक समय उसमें वैश्रवण नाम का राजा राज्य करता था। राजा वैश्रवण महा बुद्धिमान् एव प्रतापी पुरुष था। उसने अपने पुरुषार्थ से समस्त पृथ्वी को अपने आधीन कर लिया था। वह हमेशा प्रजा का कल्याण करने में तत्पर रहता था। दीन-दुःखियों की हमेशा सहायता किया करता था एव कला-कौशल विद्या आदि के प्रचार में विशेष योग देता था। एक दिन राजा वैश्रवण वर्षा-ऋतु की शोभा देखने के लिए कुछ इष्ट-मित्रों के साथ वन में गया था। वहाँ मनमोहक हरियाली, निर्मल निर्भर, नदियों की तरल तरगें, श्यामल मेघमाला, इन्द्र-धनुष, चपला की चमक, बलाकाओं का उत्पतन एव मयूरों का मनोहर नृत्य देख कर उसका चित्त मुग्ध हो गया। वर्षा-ऋतु की सुन्दर शोभा देख कर उसे अत्यधिक हर्ष हुआ। वहीं वन में घूमते समय राजा को एक विशाल बड़ का वृक्ष मिला, जो अपनी शाखाओं से आकाश के विस्तृत भाग को घेरे हुए था। वह अपने हरे-हरे पत्तों से समस्त दिशाओं को हरित वर्ण कर रहा था तथा लटकती हुई शाखाओं से जमीन को जकड़े हुए था। राजा ने उस वटवृक्ष की शोभा अपने साथियों को दिखलाई तथा आगे बढ़ गया। कुछ देर पश्चात् जब वह उसी मार्ग से वापिस लौटा, तब उसने देखा कि बिजली के गिरने से वह विशाल बड़ का वृक्ष आमूल जल चुका है। यह देख कर उसका मन विषयों से सहसा विरक्त हो गया। वह सोचने लगा—'जब इतना विशाल वृक्ष भी क्षण-भर में नष्ट हो गया, तब दूसरा अन्य कौन-सा पदार्थ स्थिर रह सकता है? मैं जिन भौतिक भोगों को सुस्थिर समझ कर उनमें तल्लीन हो रहा हूँ, वे सभी इसी तरह क्षण-भगुर हैं। मैं ने इतनी विशाल आयु व्यर्थ ही खो दी। मैं ने कोई ऐसा काम नहीं किया, जो मुझे ससार की असह्य व्यथा से मुक्त करा कर सच्चे सुख की ओर ले जा सके।' इस प्रकार चिन्तवन करता हुआ राजा वैश्रवण अपने महल को लौट आया तथा अपने पुत्र को राज्य सौंप कर किसी वन में पहुँच कर श्रीनाग मुनिराज के पास दीक्षित हो गया। वहाँ उसने उग्र तपस्या से आत्म-

हृदय को विशुद्ध बनाया एवं निरन्तर अध्ययन कर के ग्यारह अङ्गों तक का ज्ञान उपार्जित किया। उस समय उसने दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर 'तीर्थङ्कर' नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध कर लिया। जब आयु का अन्त समय आया, तब उसने संल्लेखनापूर्वक शरीर का परित्याग किया, जिससे वह 'अपराजित' नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहाँ पर उसकी आयु तैंतीस सागर प्रमाण थी, एक हाथ ऊँचा शरीर था, शुक्ल लेश्या थी। वह तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता था एवं तैंतीस पक्ष में सुगन्धित श्वास लेता था। उसे जन्म से ही 'अवधिज्ञान' प्राप्त था, जिससे वह लोक-नाड़ी के अन्त तक की बातों को स्पष्ट जान लेता था। वह प्रवीचार (स्त्री संसर्ग) से रहित था। उसे काम नहीं सताता था। वह निरन्तर तत्व चर्चा आदि में ही अपना समय बिताता था। यही अहमिन्द्र आगे चल कर तीर्थङ्कर मल्लिनाथ होगा। कब एवं कहाँ? सो ध्यानपूर्वक सुनिये।

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र के अङ्ग (बिहार) नामक देश में मिथिला नाम की एक नगरी है। इस देश की उर्वरा भूमि में हर प्रकार के शस्य (अन्न) की उपज होती है। वहाँ किसी समय इक्ष्वाकुवंशीय काश्यप गोत्रीय राजा कुम्भ राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम प्रजावती था। दोनों दम्पति सुख से समय बिताते थे। ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर आये हैं, उनकी आयु जब अपराजित विमान में केवल छह माह की शेष रह गई, तब रानी प्रजावती के महल पर कुबेर ने रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी। चैत्र शुक्ला प्रतिपदा के दिन अश्विनी नक्षत्र में रात्रि के पिछले प्रहर में उसने हस्ती आदि सोलह स्वप्न देखे एवं मुख में प्रवेश करते हुए गन्ध-सिन्धुर मत्त हाथी को देखा। उसी समय उक्त अहमिन्द्र ने अपराजित विमान से चय कर रानी प्रजावती के गर्भ में प्रवेश किया। जब प्रातःकाल हुआ, तब रानी ने उन स्वप्नों का फल प्राणनाथ महाराज कुम्भ से पूछा। उन्होंने स्वप्नों का अलग-अलग फल बतलाते हुए कहा—'आज तुम्हारे गर्भ में किसी महापुरुष तीर्थङ्कर ने पदार्पण किया है। नौ माह बाद तुम्हारे तीर्थङ्कर पुत्र उत्पन्न होगा। ये सोलह स्वप्न उसी का अभ्युदय बतला रहे हैं।' इतना कह कर राजा थमे ही थे कि इतने में आकाश-मार्ग से असख्य देव 'जय-जय' घोष करते हुए उनके पास आ पहुँचे। देवों ने भक्तिपूर्वक राज-दम्पति को नमस्कार किया तथा अनेक

सुन्दर शब्दों में उनकी स्तुति की। अपने साथ में लाये हुए दिव्य वस्त्राभूषणों से उनकी पूजा की तथा भगवान मल्लिनाथ के गर्भावतार का समाचार प्रकट कर अनेक उत्सव किये। देवों के चले जाने पर भी अनेक देवियाँ महारानी प्रजावती की सेवा-शुश्रुषा करती रहती थीं, जिससे उसे गर्भ सम्बन्धी किसी भी कष्ट का सामना नहीं करना पडा।

जब धीरे-धीरे गर्भ के नौ माह बीत गये, तब मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी के दिन अश्विनी नक्षत्र में रानी ने ऐसे पुत्र-रत्न को उत्पन्न किया, जो पूर्ण चन्द्र की तरह चमकता था, जिसके सब अवयव अलग-अलग विभक्त थे एव जो जन्म से ही मति, श्रुति तथा अवधिज्ञान से विभूषित था। उसी समय इन्द्रादि देवों ने बालक को मेरु शिखर पर ले जा कर वहाँ क्षीर-सागर के जल से उसका कलशाभिषेक किया। बाद में महल में ला कर माता की गोद में उसे बैठा दिया एव तांडव-नृत्य आदि अनेक उत्सवों से उपस्थित जनता को आनन्दित किया। जन्म का उत्सव समाप्त कर देवगण अपने-अपने स्थान पर चले गये। राज-भवन में बालक मल्लिनाथ का उचित रूप से लालन-पालन होने लगा।

क्रम-क्रम से बाल्य एव कुमार अवस्था को व्यतीत कर जब उन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया, तब उनके शरीर की आभा अत्यधिक सुन्दर हो गई थी। उस समय उनका सुन्दर सुडौल शरीर देख कर हर किसी की आँखें सतृप्त हो जाती थीं। अठारहवें तीर्थङ्कर भगवान अरहनाथ के बाद एक हजार करोड़ वर्ष बीत जाने पर भगवान मल्लिनाथ हुए थे। उनकी आयु भी इसी अन्तराल मे युक्त है। पञ्चपञ्चाशत् — पचपन हजार वर्ष की उनकी आयु थी, पच्चीस धनुष ऊँचा उनका शरीर था एव सुवर्ण के समान शरीर की कान्ति थी। जब भगवान मल्लिनाथ की आयु सौ वर्ष की हो गई, तब उनके पिता महाराज कुम्भ ने उनके विवाह की तैयारी की। मल्लिनाथ के विवाहोत्सव के लिए पुरवासियों ने मिथिलापुरी को खूब सजाया। अपने द्वारों पर मणियों की वन्दन-मालायें बाँधी। भवनों के शिखर पर पताकायें फहराई गयीं। मार्ग में सुगन्धित जल सींच कर पुष्प बरसाये एव कई तरह के वाद्यों के शब्द से नभ को गुञ्जायमान कर दिया। इधर राज-परिवार एव पुरवासी विवाहोत्सव की तैयारी में लग रहे थे, उधर भगवान मल्लिनाथ राज-भवन के विजन स्थान में बैठे हुए सोच रहे थे कि विवाह एक मीठा बन्धन है। पुरुष इस बन्धन में फँस कर आत्म-स्वातन्त्र्य से

श्री चौबीसी १८८

सर्वथा वचित हो जाते हैं। विवाह एक प्रचण्ड पवन है, जिसके प्रबल झकोरों से प्रशान्त विषय-वह्नि पुनः उद्दीप्त हो उठती है। विवाह एक मलिन कर्दम है, जो कि आत्म-क्षेत्र को सर्वथा मलिन बना देता है। विवाह को सभी हेय दृष्टि से देखते आये हैं एवं यह है भी हेय वस्तु। तब मैं ही क्यों व्यर्थ इस जजाल में अपने-आप को फँसा दूँ? मेरा विश्वास है कि विवाह मेरे उच्च विचार एव उन्नत भावनाओं पर एक दम पानी फेर देगा। विवाह मेरी उन्नति के मार्ग में एक अचल पर्वत की तरह बाधक बन कर खड़ा हो जावेगा। इसलिये मैं आज यह निश्चय करता हूँ कि अब मैं इन भौतिक भोगों में आसक्त न होकर शीघ्र ही आत्मीय आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करूँगा। उसी समय लौकान्तिक देवों ने उनके उच्च आदर्श एवं विचारों का समर्थन किया, जिससे उनका वैराग्य अधिक प्रकर्षता को प्राप्त हो गया। अपना कार्य समाप्त कर लौकान्तिक देवगण अपने-अपने स्थानों पर चले गये एवं सौधर्म आदि इन्द्रों ने आकर दीक्षा-कल्याणक का उत्सव करना आरम्भ कर दिया। भगवान मल्लिनाथ के इस आकस्मिक विचार-परिवर्तन से समस्त मिथिला में क्षोभ मच गया। उभय पक्ष के माता-पिता के हृदय पर भारी ठेस पहुँची। पर उपाय ही क्या था? विवाह की समस्त तैयारियाँ एकदम बन्द कर दी गई। उस समय नगरी में श्रृङ्गार एवं शान्त रस का अद्भुत समर हो रहा था। अन्त में शान्तरस ने श्रृङ्गार को धराशायी बना कर सब ओर अपना आधिपत्य जमा लिया था। देवों ने भगवान मल्लिनाथ का सोत्साह अभिषेक कर उन्हें दिव्य वस्त्राभूषण पहिनाये। दीक्षा-अभिषेक के बाद वे देव-निर्मित 'जयन्त' नाम की पालकी पर आरुढ़ होकर श्वेत वन में जा पहुँचे एवं वहाँ दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा ले कर मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन अश्विनी नक्षत्र में सध्या के समय तीन सौ राजाओं के साथ नग्न-दिगम्बर हो गये — सब वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये तथा पञ्च-मुष्टियों से केश-लोंच कर अलग कर ये। उन्हें दीक्षा धारण करते ही मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। तीसरे दिन वे आहार के लिये मिथिलापुरी। वहाँ उन्हें नन्दिषेण ने भक्तिपूर्वक आहार दिया। पात्र-दान से प्रभावित होकर नन्दिषेण के महल ने पञ्चाश्चर्य प्रकट किये।

ाहार ले कर भगवान मल्लिनाथ पुनः वन में लौट आये एवं आत्म-ध्यान में लीन हो गये। दीक्षा लेने के बाद उन्हें उसी श्वेत वन में अशोक वृक्ष के नीचे मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन अश्विनी नक्षत्र में

प्रातःकाल के समय दिव्यज्ञान 'केवलज्ञान' प्राप्त हो गया। उसी समय इन्द्र आदि देवों ने आ कर ज्ञान-कल्याणक का उत्सव मनाया। इन्द्र की आज्ञा पा कर कुबेर ने समवशरण (धर्म-सभा) की रचना की। उसके मध्य में विराजमान होकर भगवान मल्लिनाथ ने अपना छः दिन का मौन भङ्ग किया। दिव्य-ध्वनि के द्वारा सप्त तत्व, नव-पदार्थ, छः द्रव्य आदि का विवेचन किया। उन्होंने चारों गतियों के दुःखों का वर्णन किया, जिससे प्रभावित होकर अनेक नर-नारियों ने मुनि, आर्यिका एव श्रावक-श्राविकाओं के व्रत धारण किये।

उनके समवशरण में विशाख आदि अट्ठाईस गणधर थे, साढ़े पाँच सौ ग्यारह अङ्ग एव चौदह पूर्व के ज्ञाता थे, उनतीस हजार शिक्षक थे, दो हजार दो सौ अवधिज्ञानी थे, दो हजार दो सौ केवलज्ञानी थे, एक हजार चार सौ वादी थे, दो हजार नौ सौ विक्रिया-ऋद्धि के धारक थे एवं एक हजार सात सौ पचास मनःपर्यय ज्ञानी थे। इस तरह सब मिला कर उनकी सभा में चालीस हजार मुनिराज थे। बन्धुषेणा आदि पचपन हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ थीं एवं असख्यात तिर्यञ्च थे।

भगवान मल्लिनाथ ने अनेक आर्य-क्षेत्रों में विहार कर पथ-भ्रान्त पथिकों को मोक्ष का सच्चा मार्ग बतलाया। जब उनकी आयु केवल एक माह की शेष रह गयी, तब उन्होंने श्री सम्मेदशिखर पर पहुँच कर पाँच हजार मुनियों के साथ प्रतिमा-योग धारण कर लिया एव अन्त में योग-निरोध कर फाल्गुन शुक्ला पञ्चमी के दिन भरणी नक्षत्र में सध्या के समय कर्मो को नष्ट कर मोक्ष-महल में प्रवेश किया। उसी समय देवों ने आ कर सिद्ध-क्षेत्र की पूजा की एव निर्वाण कल्याणक का उत्सव मना कर अपने पुण्य का सञ्चय किया।

भगवान मल्लिनाथ ने कुमार अवस्था में ही अजेय कामदेव को जीत कर अपने को सार्थक किया था। वे महाबली थे — सूर-वीर थे, किन्तु पुरुष-शत्रुओं के सहार के लिए नहीं, अपितु आत्म शत्रु — मोह, मद, मदन आदि को जीतने के लिए। इस तरह उनके पवित्र जीवन एव निर्मल आचारों पर विचार करने पर 'मल्लिनाथ' स्त्री थे, यह केवल कल्पना है। आप का चिह्न कलश था।
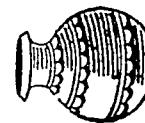
(२०) भगवान श्री मुनिसुव्रतनाथजी

अवोध कालोरग मूढ़ दष्ट मवुबुधत् गारुडरत्नवद्यः ।
जगत्कृपाकोमल दृष्टि पातैः प्रभुः प्रसद्यान्मुनिसुव्रतो न ॥ —अर्हद्दास

'जिन्होंने अज्ञानरूपी काले सर्प के द्वारा डँसे हुए इस मूर्च्छित संसार को गरुड़-रत्न के समान सचेत किया था, वे भगवान मुनिसुव्रतनाथ अपने कृपा-कोमल दृष्टिपात के द्वारा हम सब पर प्रसन्न हों।'

पूर्व-भव परिचय

जम्बूद्वीप भरत-क्षेत्र के अङ्ग देश में चम्पापुर नामक एक नगर था। उसमें किसी समय हरिवर्मा नामक राजा राज्य करते थे। महाराज हरिवर्मा अपने समय के अद्वितीय वीर थे। उन्होंने अपने बाहुबल से समस्त शत्रुओं की आँखें शर्म से नीची कर दी थीं।

एक दिन चम्पापुर के किसी उद्यान में अनन्तवीर्य नामक मुनिराज पधारे। उनके पुण्य प्रताप से वन में एक साथ छहों ऋतुओं की शोभा प्रकट हो गयी। विरोधी प्राणियों ने परस्पर का बैर-भाव त्याग दिया। जब वनमाली ने आ कर राजा हरिवर्मा से मुनिराज अनन्तवीर्य के शुभागमन का समाचार कहा, तब वे अत्यधिक प्रसन्न हुए। सच है — भव्य पुरुषों को वीतराग साधुओं के समागम से जो सुख होता है, वह अन्य पदार्थों के समागम से नहीं होता। आभरण आदि दे कर उन्होंने वनमाली को विदा किया एव स्वय अपने परिवार साथ पूजन की सामग्री ले कर मुनिराज अनन्तवीर्य की वन्दना के लिए गये। वन में पहुँच कर राजा वर्मा ने छत्र, चमर आदि राजाओं के चिह्न दूर से ही अलग कर दिये एव शिष्य की तरह विनीत होकर निराज के समीप जा पहुँचे। अष्टांग नमस्कार कर हरिवर्मा मुनिराज के समीप ही जमीन पर बैठ गये। ीर्य ने 'धर्म वृद्धि' कहते हुए राजा के नमस्कार का प्रत्युत्तर दिया एवं स्यादस्ति, स्यान्नास्ति आदि को ले कर जीव-अजीव आदि तत्वों का स्पष्ट विवेचन किया। मुनिराज के व्याख्यान से महाराज को आतमबोध हो गया। उन्होंने उसी समय अपनी आतमा को पर पदार्थों से भिन्न अनुभव किया एवं

राग-द्वेष को दूर कर आत्मा को सुविशुद्ध बनाने का सुदृढ़ निश्चय कर लिया। गृह लौट कर उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौंप दिया एवं फिर वन में जा कर अनेक राजाओं के साथ उन्हीं अनन्तवीर्य मुनिराज के पास जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली। गुरु के पास रह कर उन्होंने ग्यारह अङ्गों का ज्ञान प्राप्त किया तथा दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तवन कर 'तीर्थङ्कर' प्रकृति का बन्ध किया। इस तरह अत्यधिक दिन तक कठिन तपस्या कर के आयु के अन्त में सल्लेखना विधि से शरीर त्याग किया, जिससे वे चौदहवें 'प्राणत' स्वर्ग में इन्द्र हुए। वहाँ पर उनकी बीस सागर की आयु थी, शुक्ल लेश्या थी, साढ़े तीन हाथ ऊँचा शरीर था। उनके बीस पक्ष बाद उच्छ्वास क्रिया एव बीस हजार वर्ष बाद आहार की इच्छा होती थी। वे वहाँ अपने सहजात अवधिज्ञान से पाँचवें नरक तक की बात जान लेते थे। उनके हजारों सुन्दरी देवियाँ थीं, पर उनके साथ कायिक प्रविचार नहीं होता था। कषायों की मन्दता होने के कारण मानसिक सकल्प मात्र से ही उन की कामेच्छा शान्त हो जाती थी। यही इन्द्र आगे के भव में भगवान मुनिसुव्रतनाथ होंगे। कहाँ सो ध्यानपूर्वक सुनिये।

वर्तमान परिचय

इसी भरत-क्षेत्र के मगध (बिहार) प्रान्त में राजगृह नामक एक नगर है। उसमें हरिवंश-शिरोमणि सुमित्र नाम का राजा राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम सोमा था। दोनों दम्पति सुख से समय व्यतीत करते थे। पहिले उन्हें किसी बात की चिन्ता नहीं थी। पर जैसे-जैसे सोमा की अवस्था बीतती गई एव उन्हें कोई सन्तान पैदा नहीं हुई, तब उन्हें सन्तान का अभाव निरन्तर खटकने लगा। राजा सुमित्र समझदार पुरुष थे, संसार की स्थिति को अच्छी तरह जानते थे, इसलिये अपने-आप को अत्यधिक समझाते रहते थे। उन्हें सन्तान का अभाव विशेष कटु नहीं प्रतीत होता था। पर सोमा का हृदय अनेक बार समझाने पर भी पुत्र के अभाव में शान्त नहीं होता था।

एक दिन जब उसकी नजर एक गर्भवती क्रीड़ारत हसनी पर पड़ी, तब वह अत्यन्त व्याकुल हो उठी एव अपने-आप की निन्दा करती हुई आँसू बहाने लगी। जब उसकी सखियों द्वारा राजा सुमित्र को उसके दुःख का पता चला , तब वे शीघ्र ही अन्तःपुर में आये एव तरह-तरह के मीठे शब्दों से रानी को समझाने

लगे। उन्होंने कहा — 'जो कार्य सर्वथा दैव के द्वारा साध्य है, उसमें पुरुष का पुरुषार्थ क्या कर सकता है ? इसलिये दैव-साध्य वस्तु की प्राप्ति के लिए चिन्ता करना व्यर्थ है।' इस प्रकार रानी को समझा कर महाराज सुमित्र राज-सभा की ओर चले गये एव रानी सोमा भी क्षण-भर के लिए हृदय का दुःख भूल कर दैनिक कार्यालाप में लग गई।

एक दिन महाराज सुमित्र राज-सभा में बैठे हुए थे कि इतने में इन्द्र की आज्ञा पा कर अनेक देवियाँ आकाश से उतरती हुई राज-सभा में आई एवं 'जय-जय' घोष करने लगीं। राजा ने उन सब का सत्कार कर उन्हें योग्य आसनों पर बैठाया एवं फिर उनसे आने का कारण पूछा। राजा के वचन सुन कर श्री देवी ने कहा — महाराज ! आज से पन्द्रह माह बाद आप की पट-रानी सोमा के गर्भ से तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ का जन्म होगा। इसलिये हम सब इन्द्र की आज्ञा पा कर भगवान की माता की शुश्रुषा करने के लिए आई हुई हैं।' इधर देवियों एव राजा के बीच में यह सम्वाद चल रहा था, उधर आकाश से अनेक रत्नों की वर्षा होने लगी। रत्नों की वर्षा देख कर देवियों ने कहा — 'महाराज ! ये सब उसी पुण्य-मूर्ति बालक के अभ्युदय को बतला रहे हैं।' देवियों के वचन सुन कर राजा अत्यधिक प्रसन्न हुए। राजा की आज्ञा पा कर देवियाँ अन्तःपुर जा पहुँचीं एव वहाँ महारानी सोमा की सेवा करने लगीं। छह माह बाद रानी ने श्रावण कृष्णा द्वितीया के दिन रात्रि के पिछले प्रहर में सोलह स्वप्न देखे। उसी समय उक्त इन्द्र ने प्राणत स्वर्ग से चय कर रानी सोमा के गर्भ में प्रवेश किया। देवों ने 'गर्भ-कल्याणक' का उत्सव मनाया एव राज-दम्पति का खूब सत्कार किया। जब धीरे-धीरे दिन पूर्ण हो गये, तब रानी सोमा ने वैशाख कृष्णा दशमी के दिन श्रवण नक्षत्र मे पुत्र-रत्न उत्पन्न किया। देवों ने आ कर उनका अभिषेक किया एव 'मुनिसुव्रतनाथ' नाम रक्खा। बालक मुनिसुव्रतनाथ का राज-भवन में योग्य रीति से लालन-पालन हुआ। क्रम से जब उन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया, तब पिता महाराज सुमित्र ने उनका योग्य कुलीन कन्याओं के साथ विवाह कर दिया। भगवान मुनिसुव्रतनाथ मनोनुकूल पत्नियों के साथ तरह-तरह के कौतुक करते हुए मदनदेव की आराधना करने लगे। श्री मल्लिनाथ तीर्थङ्कर के मोक्ष जाने के बाद चौवन लाख वर्ष बीत जाने पर भगवान मुनिसुव्रतनाथ हुए थे। उनकी आयु भी इसी अन्तराल में युक्त है। तीस हजार वर्ष की उनकी आयु थी, बीस धनुष ऊँचा

शरीर था एवं रङ्ग मोर के गले की तरह नीला था ।

जब कुमारकाल के सात हजार पाँच सौ वर्ष बीत गये, तब उन्हें राज-सिंहासन प्राप्त हुआ। राज्य पा कर भगवान मुनिसुव्रतनाथ ने प्रजा का पालन इस तरह किया कि महाराज सुमित्र की स्मृति अधिक समय तक उनके हृदय में नहीं रह सकी थी। इस प्रकार सुखपूर्वक राज्य करते हुए जब उन्हें पन्द्रह हजार वर्ष बीत गये, तब एक दिन मेघों की गर्जना सुन कर उनके प्रधान हाथी ने खाना-पीना त्याग दिया। जब लोगों ने मुनिसुव्रतनाथ महाराज से कारण पूछा, तब वे अवधिज्ञान से सोच कर कहने लगे — 'यह हाथी इससे पहिले भव में 'तालपुर' नामक नगर का स्वामी राजा नरपति था। उसे अपने कुल, धन, ऐश्वर्य आदि का अत्यधिक अभिमान था। उसने एक बार पात्र-अपात्र का कुछ भी विचार न कर किमिच्छक दान दिया था, जिसके कुप्रभाव से मर कर वह हाथी हुआ है। इस समय इसे अपने अज्ञान का कुछ भी पता नहीं है; न ही बड़ी भारी राज्य-सम्पदा का।' वह मूर्ख हाथी केवल वन का स्मरण कर दुःखी हो रहा था। भगवान के उक्त वचन सुन कर उस हाथी को अपने पूर्व-भव का स्मरण हो आया, जिससे उसने शीघ्र ही अणुव्रत धारण कर लिये। इस घटना से भगवान मुनिसुव्रतनाथ को आत्म-ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे ससार-परिभ्रमण से एकदम उदासीन हो गये। उसी समय उन्होंने विषयों की निस्सारता का चिन्तवन कर उन्हें त्यागने का दृढ़ निश्चय कर लिया। लौकान्तिक देवों ने आ कर उनके उक्त वैराग्य चिन्तवन का समर्थन किया, जिससे उनका वैराग्य बहुत अधिक बढ़ गया। अपना-अपना कार्य पूरा कर लौकान्तिक देवगण अपने-अपने स्थान पर चले गये एवं चतुर्निकाय के देवों ने आ कर दीक्षा-कल्याणक का उत्सव मनाया। भगवान मुनिसुव्रतनाथ युवराज विजय को राज्य सौंप कर देव-निर्मित 'अपराजित' पालकी पर आरुढ़ होकर नील नामक वन में जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने वैशाख कृष्णा दशमी के दिन श्रवण नक्षत्र में सध्या के समय तेला (तीन दिन के उपवास) की प्रतिज्ञा ले कर एक हजार राजाओं के साथ जिन-दीक्षा ले ली। उन्हें जिन-दीक्षा लेते ही मनःपर्यय ज्ञान तथा अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई थीं। चौथे दिन आहार लेने के लिए वे राजगृही नगरी में जा पहुँचे। वहाँ उन्हें वृषभसेन ने नवधा भक्तिपूर्वक शुद्ध-प्रासुक आहार दिया। पात्र-दान से प्रभावित होकर देवों ने वृषभसेन के महल पर पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। राजगृही से लौट कर उन्होंने ग्यारह महीने तक कठिन तपश्चरण किया एवं फिर

वैशाख कृष्णा नवमी के दिन श्रवण नक्षत्र में सध्या समय उसी नील वन में चम्पक वृक्ष के नीचे 'केवलज्ञान' प्राप्त कर लिया।

केवलज्ञान के द्वारा वे विश्व के चराचर पदार्थों को एक साथ जानने लगे थे। उसी समय देवों ने आ कर 'ज्ञान-कल्याणक' का उत्सव किया। धनपति ने दिव्य सभा 'समवशरण' की रचना की। उसके मध्य में स्थित होकर उन्होंने अपना मौन भङ्ग किया — दिव्य-ध्वनि के द्वारा सर्वोपयोगी तत्वों का स्पष्ट विवेचन किया। चारों गतियों के दुःखों का लोमहर्षक वर्णन किया, जिससे अनेक भव्य-जीव प्रतिबुद्ध हो गये। इन्द्र की प्रार्थना सुन कर उन्होंने अनेक आर्य-क्षेत्रों में विहार किया एवं असंख्य नर-नारियों को धर्म का सच्चा स्वरूप समझाया। उनके समवशरण में अनेक भव्य-जीवों ने आश्रय लिया।

आचार्य गुणभद्र ने लिखा है — 'उनके समवशरण में मल्लि आदि अठारह गणधर थे, पाँच सौ द्वादशांग के जानकार थे, इक्कीस हजार शिक्षक थे, एक हजार आठ सौ अवधिज्ञानी थे, एक हजार पाँच सौ मनःपर्यय-ज्ञानी थे, एक हजार आठ सौ केवलज्ञानी थे, बाईस सौ विक्रिया-ऋद्धि के धारक थे एवं एक हजार दो सौ वादी थे। इस तरह कुल तीस हजार मुनिराज थे। इनके अतिरिक्त पुष्पदत्ता आदि पचास हजार आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकाएँ, असंख्यात देव-देवियाँ एवं असंख्यात तिर्यञ्च थे। इन सब के साथ भगवान मुनिसुव्रतनाथ अनेक आर्य-क्षेत्रों में विहार करते थे।'

जब उनकी आयु एक माह शेष रह गई, तब उन्होंने श्री सम्मेदशिखर पर पहुँच कर वहाँ एक हजार राजाओं के साथ प्रतिमा-योग धारण कर लिया एव शुक्लध्यान के द्वारा अघाति-चतुष्क का क्षय कर फाल्गुन कृष्णा द्वादशी के दिन श्रवण नक्षत्र में रात्रि के पिछले प्रहर में मुक्ति-मन्दिर में प्रवेश किया। इन्द्र आदि वों ने आ कर उनके 'निर्वाण कल्याणक' का महान् उत्सव मनाया। भगवान मुनिसुव्रतनाथ कछुआ के ह्न से शोभित थे।

(२१) भगवान श्री नमिनाथजी

शिखरिणी — स्तुतिः स्तोतुः साधो कुशल परिणामय स तदा ,
भवेन्मावा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः ।
किमेवं स्वाधीनाज्जगति सुलभ श्रेयस पथे ,
स्तुयोन्नत्वा विद्वान् सततमपि पूज्यं नमिजिनम् ॥ — स्वामी समन्तभद्र

'साधु की स्तुति, स्तुति करनेवाले के कुशल अथवा अच्छे परिणाम के लिए होती है। यद्यपि उस समय स्तुति करने योग्य साधु सामने उपस्थित हों या न भी हों, तथापि उस उत्कृष्ट स्तोता को स्तुति का फल प्राप्त होता है। इस तरह संसार में अपनी स्वाधीनता के अनुसार जब कि हित का मार्ग सुलभ हो रहा है, तब कौन विद्वान सतत् पूजनीय भगवान नमिनाथ को नहीं पूजेगा ? अर्थात् सभी पूजेंगे।'

पूर्व-भव परिचय

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में वत्स नाम का एक देश है, उसकी कौशाम्बी नगरी में किसी समय पार्थिव नाम का राजा राज्य करता था। राजा पार्थिव की पटरानी का नाम सुन्दरी था। ये दोनों राज-दम्पति सुख से काल-यापन करते थे। कुछ समय बाद इनके सिद्धार्थ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। सिद्धार्थ बड़ा ही होन-हार बालक था। जब वह बड़ा हुआ, तब राजा पार्थिव ने उसे युवराज बना दिया। एक दिन पार्थिव महाराज मनोहर नाम के उद्यान में घूम रहे थे। वहीं पर उन्हें मुनिवर नामक एक साधु के दर्शन हुए। राजा ने उन्हें भक्तिपूर्वक मस्तक झुका कर नमस्कार किया एव उनके मुख से धर्म का स्वरूप सुना। धर्म का स्वरूप सुन चुकने के बाद उसने उनसे अपने पूर्व-भव पूछे। तब मुनिवर मुनिराज ने अवधिज्ञान-रूपी नेत्रों से स्पष्ट देख कर उसके पूर्व-भव कहे। अपने पूर्व-भवों का वृतान्त जान कर राजा पार्थिव को वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने स्वगृह आ कर युवराज सिद्धार्थ को राज्य सौंप दिया एव फिर वन में पहुँच कर उन्हीं मुनिराज के पास जिन-दीक्षा ले ली। इधर सिद्धार्थ भी पिता का राज्य पा कर बड़ी कुशलता से प्रजा का पालन करने लगा।

श्री
चौ
बो
सो

कालक्रम से सिद्धार्थ के श्रीदत्त नाम का एक पुत्र हुआ, जो अपने शुभ-लक्षणों से महापुरुष प्रतीत होता था। एक समय राजा सिद्धार्थ को अपने पिता पार्थिव मुनिराज के समाधि-मरण का समाचार मिला, जिससे वह उसी समय विषयों से विरक्त होकर मनोहर नामक वन में गया एवं वहाँ महाबल नामक केवली के दर्शन कर उनसे तत्वों का स्वरूप पूछने लगा। केवलीश्वर महाबल भगवान के उपदेश से उसका वैराग्य पहिले से बहुत अधिक बढ़ गया। इसलिये वह युवराज श्रीदत्त को राज्य सौंप कर उन्हीं केवली भगवान की चरण-छाया में दीक्षित हो गया। उनके पास रह कर उसने क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, ग्यारह अङ्गों का अध्ययन किया एव विशुद्ध हृदय से दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर 'तीर्थङ्कर' नामक महान पुण्य प्रकृति का बन्ध किया तथा आयु के अन्त में समाधि-मरण धारण कर 'अपराजित' नामक विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहाँ उसकी आयु तैंतीस सागर की थी। शरीर एक अरत्नि (हाथ) ऊँचा था, शुक्ल लेश्या थी। वह तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेता था एवं तैंतीस पक्ष बाद श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता था। वहाँ वह अपने अवधिज्ञान से सप्तम नरक तक की स्थिति स्पष्ट जान लेता था। यही अहमिन्द्र आगे चल कर भगवान नमिनाथ होगा एवं समस्त संसार का कल्याण करेगा।

वर्तमान परिचय

वहाँ अनेक तरह के सुख भोगते हुए जब उस अहमिन्द्र की आयु केवल छह माह की शेष रह गई एवं वह भूतल पर अवतार लेने के लिए उद्यत हुआ, तब इसी भरत-क्षेत्र में अङ्ग (बिहार) देश की मिथिला नगरी में इक्ष्वाकुवंशीय महाराज श्रीविजय राज्य करते थे, जो अपने समय के अद्वितीय शूर-वीर थे। उनकी महारानी का नाम विप्पला था। देवों ने उनके महल पर रत्नों की अजस्र वर्षा की एवं 'श्री', 'ह्री' आदि देवियों ने मन-वचन-काय से उनकी सेवा की। उसने आश्विन कृष्णा द्वितीया के दिन अश्विनी नक्षत्र में रात्रि के पिछले प्रहर हाथी आदि सोलह स्वप्न देखे। उसी समय उक्त अहमिन्द्र ने अपराजित विमान में आरुढ़ होकर हाथी के ार का होकर उसके गर्भ में प्रवेश किया। प्रातः होते ही जब विप्पला रानी ने पतिदेव से स्वप्नों का फल न्होंने कहा — 'आज तुम्हारे गर्भ में त्रिभुवन नायक तीर्थङ्कर भगवान ने प्रवेश किया है। ये सोलह रत्नों को अविरल वर्षा उन्हीं का अपूर्व माहात्म्य प्रकट कर रही है। प्रातःकाल होते ही देवों ने

आ कर मिथिलापुरी की तीन प्रदक्षिणायें दीं एव फिर राज-भवन में जा कर महाराज श्रीविजय एवं विप्पला देवी की स्तुति की तथा अनेक वस्त्राभूषण भेंट कर उन्हें प्रमुदित किया।'

गर्भकाल के नौ माह बीत जाने पर रानी विप्पला ने आषाढ़ कृष्णा दशमी के दिन स्वाति नक्षत्र में एक तेजस्वी बालक को जन्म दिया। उसके दिव्य तेज से समस्त प्रसूति-गृह जगमगा उठा था। उसी समय देवों ने आ कर उसके 'जन्म-कल्याणक' का उत्सव मनाया एव उसे 'नमिनाथ' नाम से सम्बोधित किया। महाराज श्रीविजय ने भी पुत्र-रत्न की उत्पत्ति के उपलक्ष में करोड़ों रत्नों का दान दिया। जन्मोत्सव समाप्त कर देवगण अपने-अपने स्थान पर चले गये। राजमहल में भगवान का उचित रूप से लालन-पालन होने लगा।

क्रम से जब राजकुमार तरुण हुए, तब महाराज श्रीविजय ने उनका योग्य कुलीन कन्याओ के साथ विवाह कर दिया एव उन्हें युवराज पद पर नियुक्त किया।

भगवान मुनिसुव्रतनाथ के मोक्ष जाने के साठ लाख वर्ष बीत जाने पर इनका अवतार हुआ था। इनकी आयु भी इसी अन्तराल में सयुक्त है। इनकी आयु दश हजार वर्ष की थी। शरीर पन्द्रह धनुष ऊँचा था एवं शरीर का रङ्ग तपाये हुए सुवर्ण की तरह था। कुमार काल के पच्चीस सौ वर्ष बीत जाने पर उन्हें राज-गद्दी सौंप कर श्रीविजय महाराज आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर हुए। भगवान नमिनाथ ने राज्य पा कर दुष्टों का निग्रह एव साधुओं पर अनुग्रह किया। बीच-बीच में देवगण सगीत आदि की गोष्ठियों से उनका मन प्रसन्न रखते थे। इस तरह सुखपूर्वक राज्य करते हुए उन्हें पाँच हजार वर्ष बीत गये।

एक दिन किसी वन में घूमते हुए भगवान नमिनाथ वर्षा-ऋतु की शोभा देख रहे थे कि इतने में आकाश में घूमते हुए दो देवगण उनके पास आ पहुँचे। जब भगवान ने उनसे आने का कारण एव उनका परिचय पूछा, तब वे कहने लगे — 'नाथ, इसी जम्बूद्वीप के विदेह-क्षेत्र में वत्सकावती देश है, उसके सुसीमा नगर में अपराजित विमान से आ कर अपराजित नाम के एक तीर्थङ्कर हुए हैं। उनके केवलज्ञान की पूजा के लिए सब इन्द्रादि देवगण आये थे। कल उनके समवशरण में किसी ने पूछा था कि इस समय भरत-क्षेत्र में भी क्या कोई तीर्थङ्कर हैं ?' तब अपराजित स्वामी ने कहा — 'इस समय भरत-क्षेत्र के बिहार प्रान्त की मिथिला नगरी में नमिनाथ स्वामी हैं, जो कुछ समय बाद तीर्थङ्कर होकर दिव्य-ध्वनि से ससार का

कल्याण करेंगे। वे अपराजित विमान से आ कर उत्पन्न हुए हैं। पहिले हम दोनों धातकीखण्ड द्वीप के रहनेवाले थे; पर अब तपश्चर्या के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग में देवगण हुए हैं। अपराजित तीर्थङ्कर से सुन कर आप के दर्शन की अभिलाषा से हम यहाँ आये हैं।'

भगवान नमिनाथ देवों की बात सुन कर अपने नगर को लौट तो आये, पर उनके हृदय में संसार परिभ्रमण के दुःख ने स्थान जमा लिया। उन्होंने सोचा कि यह प्राणी नाटक के नट की तरह कभी देवगण का, कभी पुरुष का, कभी तिर्यञ्च का एवं कभी नारकी का वेष बदलता रहता है। अपने ही परिणामों से अच्छे-बुरे कर्मों को बाँधता है एवं उनके उदय से यहाँ-वहाँ घूम कर पुनः जन्म ले कर दुःखी होता है। इस ससार परिभ्रमण के मोचन का यदि कोई उपाय है, तो वह दिगम्बर मुद्रा धारण करना ही है। यहाँ भगवान ऐसा चिन्तवन कर रहे थे कि वहाँ लौकान्तिक देवों के आसन काँपने लगे; जिससे अवधिज्ञान से सब जान कर वे नमिनाथ जी के पास आये एवं सारगर्भित शब्दों में उनकी स्तुति तथा उनके चिन्तवनों का समर्थन करने लगे। लौकान्तिक देवों के समर्थन से उनका वैराग्य अत्यधिक बढ़ गया। इसलिये उन्होंने अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य सौप दिया एव स्वय 'उत्तर कुरु' नाम की पालकी पर आरुढ़ होकर 'चित्रवन' में जा पहुँचे। वहाँ दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा ले कर आषाढ़ कृष्णा दशमी के दिन अश्विनी नक्षत्र में सध्या के समय एक हजार राजाओं के साथ वे दीक्षित हो गये। देवगण 'तप-कल्याणक' का उत्सव मना कर अपने-अपने स्थान पर चले गये। भगवान नमिनाथ को दीक्षा के समय ही मनःपर्यय ज्ञान तथा अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो गयी थीं।

वे तीसरे दिन आहार लेने की इच्छा से वीरपुर नगर में गये। वहाँ पर राजा दत्त ने उन्हें विधिपूर्वक आहार दिया। तदनन्तर उन्होंने छद्मस्थ अवस्था के नौ वर्ष मौनपूर्वक व्यतीत किये। छद्मस्थ अवस्था में भी उन्होंने कई स्थानों पर विहार किया। नौ वर्ष के बाद वे उसी दीक्षावन (चित्रवन) में आये एवं मौलिश्री (नकुल) वृक्ष के नीचे दो दिन के उपवास की प्रतिज्ञा ले कर विराजमान हो गये। वहीं पर उन्हें मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णमासी के दिन अश्विनी नक्षत्र में पूर्णज्ञान 'केवलज्ञान' प्राप्त हो गया। उसी समय इन्द्र आदि देवों ने आ कर उनकी पूजा की। इन्द्र की आज्ञा पा कर धनपति ने 'समवशरण' की रचना की। उसके मध्य में

सिंहासन पर विराजमान होकर उन्होंने नौ वर्ष के बाद मौन भङ्ग किया। दिव्य-ध्वनि के द्वारा सब पदार्थों का व्याख्यान किया। लोगों को अनेक सामायिक सुधार बतलाये। उनके प्रभाव, शील एव उपदेश से प्रतिबुद्ध होकर कितने ही भव्य-जीवों ने मुनि-आर्यिका, श्रावक एवं श्राविकाओं के व्रत धारण किये थे। इन्द्र की प्रार्थना सुन कर उन्होंने प्रायः समस्त आर्य-क्षेत्रो में विहार किया एव जैन-धर्म का खूब प्रचार किया।

उनके 'समवशरण' में सुप्रभार्य आदि सत्रह गणधर थे, चार सौ पचास ग्यारह अङ्ग एव चौदह पूर्व के जानकार थे, बारह हजार छः सौ शिक्षक थे, एक हजार छः सौ अवधिज्ञानी थे, एक हजार छः सौ केवलज्ञानी थे, पन्द्रह सौ विक्रिया-ऋद्धि के धारक थे, बारह सौ पचास मनःपर्यय ज्ञानी थे एव एक हजार शास्त्रार्थ करनेवाले वादी थे। इस तरह उनकी सभा में कुल बीस हजार मुनिराज थे। मगिनी आदि पैंतालीस हजार आर्यिकायें थीं, असख्यात देव-देवियाँ एवं असख्यात तिर्यञ्च थे।

निरन्तर विहार करते-करते जब उनकी आयु केवल एक माह शेष रह गई, तब वे श्री सम्मेदशिखर पर जा पहुँचे एव वहीं पर एक हजार राजाओं के साथ प्रतिमा-योग धारण कर विराजमान हो गये। वैशाख कृष्णा चतुर्दशी के दिन प्रातःकाल के समय अश्विनी नक्षत्र में शुक्ल-ध्यान रूपी वह्नि के द्वारा समस्त अघातिया-कर्मो को जला कर आत्म-स्वातन्त्र्य (मोक्ष) लाभ किया। उसी समय देवों ने आ कर सिद्ध-क्षेत्र की पूजा की एव 'निर्वाण-कल्याणक' का उत्सव किया। आप नील-कमल के चिह्न से अलकृत थे।

(२२) भगवान श्री नेमिनाथजी

घनाक्षरी छन्द

शोभित प्रियङ्ग अङ्ग देखे दुःख होय भङ्ग, लाजत अनङ्ग जैसे दीप भानु भास तैं।
बाल ब्रह्मचारी उग्रसेन की कुमारो जादों, नाथ तै किनारो कर्म कादो दुःख रास तैं॥

श्री

चौ

बी

सी

भीम भव कानन में आनन सहाय स्वामी, अहो नेमि नामी तक आयो तुम्हें तास तैं।
जैसे कृपा कन्द बन जीवन को बन्द छोड़ि, त्योंहि दास को खलास कीजै भव फाँस तैं॥

पूर्व-भव परिचय

जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह-क्षेत्र में सीतोदा नदी के उत्तर किनारे पर सुगन्धिल नाम का एक देश है। उसके सिंहपुर नगर में किसी समय अर्हद्दास नाम का राजा राज्य करता था। उसकी स्त्री का नाम जिनदत्ता था। दोनों पति-पत्नी साधु-स्वभावी एवं आसन्न भव्य थे। वे अपना जीवन धर्म-कार्य में ही बिताते थे।

एक समय महारानी जिनदत्ता ने अष्टाह्निका पर्व के दिनों में सिद्धयन्त्र की पूजा की एवं अभिलाषा की कि उसके कोई उत्तम पुत्र हो। ऐसी इच्छा कर प्रसन्नचित्त होकर वह रात्रि में सुखपूर्वक सो गई। निद्रा-वस्था में उसने सिंह, हाथी, सूर्य, चन्द्रमा एवं लक्ष्मी का अभिषेक — ऐसे पाँच शुभ स्वप्न देखे। उसी समय उसके गर्भ में स्वर्ग से आ कर किसी पुण्यात्मा जीव ने प्रवेश किया। नौ माह बीत जाने पर उसने एक महान पुण्यात्मा पुत्र को जन्म दिया। उसके उत्पन्न होते ही अनेक शुभ शकुन हुए थे। वह खेल-कूद में भी अपने भाइयों के द्वारा पराजित नहीं होता था। इसलिये राजा ने उसका नाम 'अपराजित' रक्खा था। अपराजित दिन दूना एवं रात्रि चौगुना बढ़ने लगा। धीरे-धीरे उसने युवावस्था में प्रवेश किया, जिससे उसके शरीर की शोभा कामदेव से भी बढ़ कर हो गई थी। योग्य अवस्था देख कर राजा अर्हद्दास ने उसका विवाह कुलीन कन्याओं के साथ कर दिया एव कुछ समय बाद उसे युवराज भी बना दिया।

एक दिन वनमाली ने वन मे विमलवाहन नामक तीर्थङ्कर के आने का समाचार राजा अर्हदास से कहा। राजा प्रसन्नचित्त होकर समस्त परिवार के साथ उनकी वन्दना के लिए गया। वहाँ उसने तीर्थङ्कर की तीन प्रदक्षिणायें दे कर उन्हे भक्तिपूर्वक नमस्कार किया एव मनुष्योचित स्थान कर बैठ कर धर्म का स्वरूप सुना। तीर्थङ्कर देव के उपदेश से विषयों से विरक्त होकर उसने युवराज अपराजित को राज्य सौंप दिया अन्त में उन्हीं विमलवाहन तीर्थङ्कर के पास दीक्षित हो गया। कुमार अपराजित ने भी सम्यग्दर्शन एव अणुव्रत धारण कर राजधानी में प्रवेश किया। वहाँ वह राज्य की समस्त व्यवस्था मन्त्रियों के आधीन त्याग कर धर्म

एवं काम के सेवन में लग गया। एक दिन उसने सुना कि पूज्य पिताजी के साथ श्री विमलवाहन तीर्थङ्कर भी गन्धमादन पर्वत से मुक्त हो गये हैं। यह सुन कर उसने प्रतिज्ञा की कि श्री विमलवाहन तीर्थङ्कर के दर्शन बिना किये वह भोजन नहीं करेगा। इस तरह भोजन किये बिना उसको आठ दिन हो गये, तब इन्द्र की आज्ञा पा कर यक्षपति ने अपनी माया से विमलवाहन तीर्थङ्कर का साक्षात् स्वरूप बना कर अपराजित को दिखलाया। उसने समवशरण में उनकी वन्दना एव पूजा की तथा फिर भोजन किया।

एक दिन राजा अपराजित फाल्गुन मास की अष्टाह्निका के दिनों में जिनेन्द्रदेव की पूजा कर के जिन-मन्दिर में बैठा हुआ धर्मोपदेश सुन रहा था। इतने में वहाँ पर चारण-ऋद्धिधारी दो मुनिराज आये। राजा ने खड़े होकर दोनों मुनिराजों का स्वागत किया एव भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उन्हें योग्य आसन पर बैठाया। कुछ देर तक धर्म-चर्चा होने के बाद राजा ने मुनिराज से कहा — 'महाराज ! मैं ने आप को पहिले कहीं देखा है।' यह सुन कर ज्येष्ठ मुनिराज बोले — 'ठीक है, आप ने मुझे देखा अवश्य है, पर कहाँ ? यह आप नहीं जानते; इसलिये मैं कहता हूँ।' ध्यानपूर्वक सुनिये —

'पुष्करार्ध द्वीप के पश्चिम मेरु की ओर पश्चिम विदेह-क्षेत्र में जो गन्धिल नाम का देश है, उसके विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में सूर्यप्रभ नाम का एक नगर है। उसमें किसी समय सूर्यप्रभ नाम का राजा राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम धारिणी था। उन दोनों के चिन्तागति, मनोगति एव चपलगति नाम के तीन पुत्र थे। उनमें चिन्तागति बड़ा, मनोगति मँझला एवं चपलगति छोटा था। राजा सूर्यप्रभ पतिव्रता पत्नी धारिणी एव बुद्धिमान पुत्रों के साथ सुख से जीवन बिताता था।

उसी गन्धिल देश की उत्तर श्रेणी में अरिन्दम नगर के राजा अरिञ्जय एवं रानी अजितसेना के प्रीतिमती नाम की एक पुत्री थी। प्रीतिमती अत्यधिक बुद्धिमती थी। जब वह युवती हुई एवं उसके विवाह होने का समय आया, तब उसने प्रतिज्ञा की — 'जो राजकुमार उसे 'शीघ्र-गमन' में जीत लेगा, वह उसी के साथ विवाह करेगी, किसी अन्य के साथ नहीं।' यह प्रतिज्ञा ले कर उसने मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देने में एकमात्र चिन्तागति को त्याग कर अन्य समस्त विद्याधर राजकुमारों को जीत लिया, किन्तु चिन्तागति से वह परास्त हो गयी। जब प्रीतिमती विजयी चिन्तागति के गले में वर-माला डालने के लिए गई, तब उसने कहा — 'इस

वर-माला से तुम मेरे छोटे भाई चपलगति को स्वीकार करो, क्योंकि उसी के निमित्त मैं ने यह गति-युद्ध किया था।' चिन्तागति की बात सुन कर प्रीतिमती ने कहा — मैं चपलगति से पराजित नहीं हुई हूँ। मैं तो अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार यह वर-माला आप के ही श्रीकण्ठ में डालना चाहती हूँ।' पर चिन्तागति ने उसका अनुरोध स्वीकार नहीं किया। इसलिये वह संसार से विरक्त होकर निवृता नाम की आर्यिका के पास दीक्षित हो गई। प्रीतिमती का मनोबल देख कर चिन्तागति, मनोगति एवं चपलगति भी दमवर मुनिराज के पास दीक्षित हो गये एवं कठिन तपश्चरण कर आयु के अन्त में माहेन्द्र स्वर्ग में सामानिक देव हुए। वहाँ उन्होंने महा मनोहर भोग भोगते हुए सुख से सात सागर पर्यन्त काल व्यतीत किया। अन्त में वहाँ से च्युत होकर हम दोनों मनोगति एवं चपलगति, जम्बूद्वीप के विदेह-क्षेत्र में पुष्कलावती देश के विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में गगनवल्लभ नगर के राजा गगनचन्द्र एव रानी गगनसुन्दरी के अमितगति एवं अमिततेज नामक पुत्र हुए हैं। एक दिन हमारे पिता गगनचन्द्र पुण्डरीकिणी नगरी को गये। वहाँ उन्होंने स्वयंप्रभ केवली से हम दोनों के पूर्व एवं भावी-भवों के विषय में पूछा। पिता की बात सुन कर स्वयंप्रभ केवली ने हमारे पूर्व एवं भविष्य के कुछ भव बतलाये। उसी प्रकरण में हम दोनों के पूर्व-भव के बड़े भाई चिंतागति का नाम आया था। ... सुन कर पिताजी ने भगवान से पुनः पूछा, 'चिंतागति इस समय कहाँ उत्पन्न हुआ?' तब उन्होंने ... इस समय वह सिंहपुर नगर ने अपराजित नाम का राजा हुआ है। इस प्रकार केवली भगवान के ... सुन कर हम दोनो भाई वहाँ पर दीक्षित हो गये एवं फिर पूर्व-जन्म के स्नेह से आप को देखने के लिए ... आये। अब तक आप ने पूर्व-पुण्य के उदय से अनेक भोग भोगे हैं। एक अज्ञ की तरह ... समझ कर आत्म-हित की ओर ...

भोगता रहा। आयु पूर्ण होने पर जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में राजा श्रीचन्द्र एव रानी श्रीमती के सुप्रतिष्ठित नाम का पुत्र हुआ। राजा श्रीचन्द्र ने उसका विवाह सुनन्दा नामक कन्या के साथ कर दिया, जिससे वह तरह-तरह के भोग-विलासों से अपने यौवन को सफल करने लगा।

एक दिन महाराज श्रीचन्द्र ने पुत्र सुप्रतिष्ठित को राज्य सौप कर सुमन्दर नाम के मुनिराज के पास दीक्षा ले ली। इधर सुप्रतिष्ठित भी काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ, मोह आदि अन्तरङ्ग एव बहिरङ्ग शत्रुओं को जीत कर न्यायपूर्वक राज्य करने लगा। उसने किसी समय यशोधर नामक मुनिराज को आहार दिया, जिससे उसके महल पर पञ्चाश्चर्य प्रकट हुए। एक दिन राजा सुप्रतिष्ठित अपने समस्त परिवार के साथ महल की छत पर बैठ कर चन्द्रमा की सुन्दर सुषमा देख रहा था। उसी समय आकाश से भयङ्कर उल्कापात हुआ, जिससे उसका मन विषयों से सहसा विरक्त हो गया। वह ससार की क्षणभंगुरता का चिन्तवन करता हुआ विषय-लालसाओं से एकदम अनासक्त हो गया। उसने उसी समय अपने पुत्र सुदृष्टि को राज्य सौप कर उन्हीं सुमन्दर ऋषिराज के पास दीक्षा धारण कर ली। वहाँ उसने ग्यारह अङ्गों का अध्ययन किया एवं दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर 'तीर्थङ्कर' नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध किया। जब आयु का अन्तिम समय आया, तब वह सन्यासपूर्वक शरीर त्याग कर 'जयन्त' नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहाँ उसकी आयु तैंतीस सागर की थी। शरीर एक हाथ ऊँचा था। लेश्या परम शुक्ल थी। हजार वर्ष बाद आहार लेने की इच्छा होती थी तथा तैंतीस पक्ष बाद श्वासोच्छ्वास क्रिया होती थी। उसे जन्म से ही अवधिज्ञान था, जिसके बल से वह नीचे सातवें नरक तक की बात जान लेता था। यही अहमिन्द्र आगे के भव में भगवान नेमिनाथ होकर जगत् का कल्याण करेगा। कब कहाँ ? सो ध्यानपूर्वक सुनिये —

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप भरत-क्षेत्र के कुशार्थ देश में शौर्यपुर नाम का एक नगर है। उसमें किसी समय शूरसेन नाम का राजा राज्य करता था। यह राजा हरिवशरूपी आकाश में सूर्य के समान चमकता था। कुछ समय बाद शूरसेन के शूरवीर नाम का पुत्र हुआ,जो सचमुच शूरवीर था। उसने समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली। उस वीर की स्त्री का नाम धारिणी था। धारिणी के गर्भ से अन्धक-वृष्णि तथा नर-वृष्णि नाम के दो पुत्र

हुए। अन्धक-वृष्णि की रानी का नाम सुभद्रा था। उसके काल-क्रम से समुद्र-विजय, स्तिमित सागर, हिमवान, विजय, विद्वान, अचल, धारण, पूरण, पूरिताच्र्छीच्छ अभिनन्दन तथा वासुदेव — ये दश पुत्र तथा कुन्ती एवं माद्री नाम की दो कन्याएँ हुई। समुद्र-विजय आदि नौ भाईयों के क्रम से शिव देवी, धृतीश्वरा, स्वयप्रभा, सुनीता, सीता, प्रियवाक, प्रभावती, कलिंगी तथा सुप्रभा आदि नौ सुन्दरी स्त्रियाँ थीं। वासुदेव ने अनेक देशों में विहार किया था, इसलिये उन्हें अनेक भूमिगोचरी तथा विद्याधर राजाओं ने अपनी-अपनी कन्यायें भेंट की थीं — उसके बहुत-सी स्त्रियाँ थीं। उन सब में देवकी मुख्य थी।

अन्धक-वृष्णि की पुत्री कुन्ती तथा माद्री का विवाह हस्तिनापुर के कौरववंशी राजा पाण्डु के साथ हुआ था। राजा पाण्डु को कुन्ती देवी के गर्भ से युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा माद्री देवी के गर्भ से नकुल तथा सहदेव — इस तरह पाँच पुत्र हुए थे। वे राजा पाण्डु की सन्तान होने के कारण 'पाण्डव' नाम से प्रसिद्ध हो गए थे। साला-बहनोई का रिश्ता होने के कारण समुद्र-विजय आदि दश भाई तथा पाण्डु आदि में परस्पर खूब स्नेह था। वे एक दूसरे को जी-जान से चाहते थे। कुछ समय बाद छोटे भाई वासुदेव के बलराम तथा श्रीकृष्ण नाम के दो पुत्र हुए, जो बड़े ही पराक्रमी थे। श्रीकृष्ण ने अपने अतुल्य पराक्रम से मथुरा के दुष्ट राजा कस को मल्ल युद्ध में मार दिया था, जिससे उसकी स्त्री 'जीवद्यशा' विधवा होकर रोती हुई अपने पिता जरासंध के पास राजगृही नगर में चली गई। उस समय जरासंध का प्रताप समस्त संसार में फैला हुआ था। वह तीन खण्ड पृथ्वी का राजा था तथा अर्द्ध-चक्रवर्ती कहलाता था। पुत्री की दयनीय अवस्था देख कर उसने श्रीकृष्ण आदि को मारने के लिए अपने पुत्र अपराजित को भेजा। पर वासुदेव, श्रीकृष्ण आदि ने अपराजित को युद्ध में ३४६ बार हराया। अन्त में अपराजित हार कर राजगृही लौट गया। फिर कुछ समय बाद जरासध का दूसरा पुत्र कालयवन श्रीकृष्ण को मारने के लिए आया। उसके पास असख्य सेना थी। जब समुद्र-विजय आदि को इस बात का पता चला, तब उन्होंने आपस में परामर्श किया कि अभी तो श्रीकृष्ण की आयु छोटी है, इसलिये इस समय समर्थ शत्रु से युद्ध नहीं करना ही अच्छा है। ऐसा सोच कर वे सब शौर्यपुर से भाग गये तथा विन्ध्यावटी को पार कर समुद्र के किनारे पर पहुँच गये। इधर कालयवन भी उनका पीछा करता हुआ जब विन्ध्यावटी में पहुँचा, तब वहाँ समुद्र-विजय आदि

की कुलदेवी एक बुढ़िया का रूप बना कर बैठ गई एवं विद्या-बल से अग्नि जला कर 'हा समुद्र-विजय ! हा वासुदेव ! हा श्रीकृष्ण !' आदि कह-कह कर विलाप करने लगी। जब कालयवन ने उससे रोने का कारण पूछा, तब उसने कहा — 'मैं एक बूढ़ी धाय हूँ। हमारे राजा समुद्र-विजय आदि दशों भाई, श्रीकृष्ण आदि पुत्रों तथा समस्त स्त्रियों के साथ शत्रु के भय से भागे जा रहे थे। अचानक इस प्रचण्ड अग्नि के बीच में पड़ कर वे सब के सब असमय में ही भस्म हो गये हैं। अब मैं असहाय होकर उन्हीं के लिये रो रही हूँ।' बुढ़िया के वचन सुन कर कालयवन शत्रु को मरा हुआ जान कर हर्षित होता हुआ वापिस लौट गया। जब राजा समुद्र-विजय आदि समुद्र के किनारे पर पहुँचे थे, तब वहाँ रहने के लिए कोई भवन वगैरह नहीं थे, इसलिये वे सब उपयुक्त आवास को चिन्ता में इधर-उधर घूमने लगे। इस सकट से मुक्त होने के लिये वहीं पर बुद्धिमान श्रीकृष्ण ने आठ दिन उपवास किया एव डाभ के आसन पर बैठ कर सिद्धात्माओं का ध्यान किया। श्रीकृष्ण की आराधना से प्रसन्न होकर 'नैगम' नाम के एक देवता ने प्रकट होकर कहा — 'अभी तुम्हारे पास एक सुन्दर घोड़ा आयेगा, तुम उस पर आरुढ़ होकर समुद्र में बारह योजन तक चले जाना। वहाॅ पर तुम्हारे लिये एक मनोहर नगर बन जायेगा।' इतना कह कर वह देवता तो अदृश्य हो गया, पर उसके स्थान पर एक सुन्दर घोड़ा आ कर खड़ा हो गया। श्रीकृष्ण उस पर आरुढ़ होकर समुद्र में बारह योजन तक चले गये। पुण्य प्रताप से समुद्र का वह भाग जिस पर वे चलते जा रहे थे, स्थलमय हो गया। वहीं पर इन्द्र की आज्ञा पा कर कुबेर देवगण ने एक महा मनोहर नगरो की रचना कर दी। उसके बड़े-बड़े गोपुर देख कर समुद्र-विजय आदि ने उसका नाम द्वारावती (द्वारिका) रख लिया। राजा समुद्र-विजय अपने छोटे भाईयों तथा श्रीकृष्ण आदि पुत्रों के साथ द्वारिका में सुखपूर्वक रहने लगे।

भगवान नेमिनाथ के पूर्वभवों का वर्णन करते हुए ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर आये हैं, उसकी वहाॅ की आयु जब केवल छः माह की शेष रह गयी, तभी से द्वारिकापुरी में राजा समुद्र-विजय एवं महारानी शिवा देवी के महल पर देवों ने रत्नों को प्रतिदिन वर्षा करनी शुरू कर दी। इन्द्र की आज्ञा पा कर अनेक देव कुमारियाॅ आ कर शिवा देवी सेवा करने लगीं। इन सब बातों से अपने कुल में तीर्थङ्कर की उत्पत्ति का निश्चय कर समस्त हरिवशी हर्ष से फूले न समाते थे।

कार्तिक शुक्ला षष्ठी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में रात्रि के पिछले प्रहर में रानी शिवा देवी ने सोलह स्वप्न देखे। उसी समय उक्त अहमिन्द्र ने 'जयन्त' विमान से च्युत होकर उसके गर्भ में प्रवेश किया। प्रातःकाल होते ही रानी ने पतिदेव से स्वप्नों का फल पूछा, तब उन्होंने कहा — 'आज तुम्हारे गर्भ में किसी तीर्थङ्कर के जीव ने प्रवेश किया है। नौ माह बाद तुम्हारे गर्भ से एक महा यशस्वी तीर्थङ्कर बालक उत्पन्न होगा। ये सोलह स्वप्न उसी की विभूति बतला रहे हैं।' राजा समुद्र-विजय रानी को स्वप्नों का फल बतला कर निवृत्त हुए ही थे कि इतने में वहाँ पर 'जय - जयकार' घोष करते हुए समस्त देवगण आ पहुँचे। देवों ने 'गर्भ-कल्याणक' का उत्सव मनाया तथा उत्तमोत्तम वस्त्राभूषणों से दम्पति का खूब सत्कार किया।

तदनन्तर नौ माह बाद शिवा देवी ने श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन चित्रा नक्षत्र में पुत्र-रत्न का प्रसव किया। उसी समय सौधर्म आदि इन्द्र तथा समस्त देवों ने मेरु पर्वत पर ले जा कर बालक का जन्माभिषेक किया, इन्द्राणी ने बालक का अङ्ग पोंछ कर उसे बालोचित उत्तम-उत्तम आभूषण पहिनाये। इन्द्र ने मधुर शब्दों में स्तुति की एव बालक का नाम 'नेमिनाथ स्वामी' रक्खा। अभिषेक की क्रिया समाप्त कर इन्द्र भगवान नेमिनाथ को द्वारिकापुरी ले आये एवं उन्हें उनकी माता को सौंप दिया। उस समय द्वारिकापुरी में सर्वत्र अनेक उत्सव किये जा रहे थे। 'जन्म-कल्याणक' का उत्सव समाप्त कर देवगण अपने-अपने स्थानों पर चले गये। बालक नेमिनाथ का राज-परिवार में उचित रूप से लालन-पालन होने लगा। वे अपनी मधुर चेष्टाओं से सभी को हर्षित किया करते थे। द्वितीया के चन्द्रमा की तरह वे दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगे।

भगवान नमिनाथ के मोक्ष जाने के बाद पाँच लाख वर्ष बीत जाने पर स्वामी नेमिनाथ हुए थे। उनकी आयु भी इसी में युक्त है। उनकी आयु का प्रमाण एक हजार वर्ष का था। शरीर की ऊँचाई दश धनुष थी एव वर्ण मयूर की ग्रीवा के समान नीला था। यद्यपि उस समय द्वारावती (द्वारिका) के राजा समुद्र-विजय थे, पर नेमिनाथ के पहिले उनकी कोई सन्तान नहीं हुई थी एव उनकी अवस्था प्रायः ढल चुकी थी, इसलिये उन्होंने राज्य का बहुत-सा भार अपने छोटे भाई वासुदेव के लघु पुत्र श्रीकृष्ण को सौंप दिया था। श्रीकृष्ण अत्यधिक होनहार पुरुष थे, इसलिये उन पर समस्त यादवों की नजर लगी हुई थी। सब कोई उन्हें स्नेह एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। भगवान नेमिनाथ भी अपने चचेरे बड़े भाई श्रीकृष्ण के साथ अत्यधिक प्रेम करते थे।

एक दिन मगध देश के कई वैश्य पुत्र समुद्र-मार्ग में रास्ता भूल कर द्वारिकापुरी में आ पहुँचे। वहाँ की विभूति देख कर उन्हें अत्यधिक आश्चर्य हुआ। जब वे लोग अपने-अपने गृह जाने लगे, तब साथ में वहाँ के बहुमूल्य रत्न लेते गये। वैश्य पुत्रों ने राजगृही में पहुँच कर वहाँ के महाराज जरासध के दर्शन किये एवं वे रत्न उन्हें भेंट किये। जरासध ने रत्न देख कर उन वैश्य पुत्रों से पूछा — 'आप लोग ये रत्न कहाँ से लाये हैं ?' तब उन्होंने कहा — 'महाराज ! हम लोग समुद्र में रास्ता भूल गये थे, इसलिये घूमते-घूमते एक द्वीप में जा पहुँचे। पूछने पर लोगों ने उसका नाम 'द्वारिका' बतलाया। वह पुरी अपनी शोभा से स्वर्गपुरी को भी जीतती है। इस समय उसमें महाराज समुद्र-विजय राज्य करते हैं। उनके पुत्र नेमिनाथ भावी तीर्थङ्कर हैं, जिससे वहाँ नर-नारियों की खूब चहल-पहल रहती है। वासुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण की तो बात ही न पूछिये। उनका निर्मल यश सागर की तरल-तरङ्गों के समान अठखेलियाँ करता है। उनकी वीर चेष्टायें समस्त नगर में प्रसिद्ध हैं। श्रीकृष्ण का बड़ा भाई बलराम भी कम बलवान नहीं हैं। उन दोनों भाईयों में परस्पर बहुत अधिक स्नेह है। वे एक दूसरे के बिना क्षण-भर भी नहीं रहते हैं। हम उसी नगर से ये रत्न लाये हैं।' वैश्य पुत्रों के वचन सुन कर राजा जरासंध के क्रोध की सीमा न रही। अभी तक तो 'समस्त यादवगण विन्ध्यावटी में जल कर मर गये हैं' — ऐसा निश्चय कर वह निश्चिन्त था, पर आज वैश्य पुत्रों के मुख से उनके उत्कर्ष एव वैभव का वर्णन सुन कर प्रतिस्पर्द्धा से उसके ओंठ काँपने लगे, आँखें लाल हो गई एवं भौहें टेढ़ी हो गई। उसने वैश्य पुत्रों को विदा कर सेनापति को उसी समय एक विशाल सेना तैयार करने की आज्ञा दी एवं कुछ समय पश्चात् सुसज्जित होकर द्वारिका की ओर रवाना हो गया। इधर जब कौतूहली नारदजी ने यादवों को जरासध के आने का समाचार सुनाया, तब श्रीकृष्ण भी शत्रु के साथ युद्ध करने के लिये सन्नद्ध हो गये। उन्होंने समुद्र-विजय आदि की अनुमति से एक विशाल सेना तैयार की, जो शत्रु को बीच में ही रोकने के लिये प्रस्तुत हो गई। जाते समय श्रीकृष्ण भगवान नेमिनाथ के पास जा कर बोले — 'जबतक मैं शत्रुओं का विनाश कर वापिस न आ जाऊँ, तबतक आप राज्य-कार्यो की देख-भाल करना।' बड़े भाई श्रीकृष्ण के वचन नेमिनाथ ने सहर्ष स्वीकार कर लिये। तब विनयी हो श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा — 'भगवन् ! इस युद्ध-यात्रा में मेरी विजय होगी या नहीं ?' तब वे अवधिज्ञान से कुछ सोच कर हँस दिये। इससे श्रीकृष्ण भी

अपनी सफलता निश्चित समझ कर प्रसन्नतापूर्वक युद्ध के लिये बढ़े। युद्ध का समाचार पाते ही हस्तिनापुर से राजा पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिर आदि भी रणक्षेत्र में आ कर उनके साथ डट गये। कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में दोनों ओर की सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। अनेक सैनिक तथा हाथी-घोड़े आदि युद्ध में मारे गये। जब लगातार कई दिनों के युद्ध से भी किसी पक्ष की पूर्ण विजय नहीं हुई, तब एक दिन श्रीकृष्ण एव जरासध में भयङ्कर युद्ध हुआ। जरासंध जिस शस्त्र का प्रयोग करता था, श्रीकृष्ण उसे बीच में ही काट देते थे। अन्त में जरासंध ने क्रुद्ध होकर घुमा कर चक्र चलाया, पर वह चक्र श्रीकृष्ण की प्रदक्षिणा देकर उनके हाथ में आ गया। फिर श्रीकृष्ण ने उसी चक्र से जरासध का सहार किया। ठीक ही कहा है — 'भाग्यं फलित सर्वत्र' — सब जगह भाग्य ही फलता है। चक्ररत्न को आगे कर विजयी श्रीकृष्ण ने बड़े भाई बलभद्र एव असख्य सेना के साथ भरत-क्षेत्र के तीन खण्डों को जीत कर द्वारिका नगरी में प्रवेश किया। उस समय उनके स्वागत के लिये हजारों राजे एकत्रित हुए थे। यादवों की इस अनुपम विजय से उनका प्रभाव एवं प्रताप सब ओर फैल गया। सभी राजे उनका लोहा मानने लगे थे। समुद्र-विजय आदि ने प्रतापी श्रीकृष्ण का राज्याभिषेक कर उन्हें पूर्ण रूप से राजा बना दिया। श्रीकृष्ण भी चातुर्य एवं न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करते थे। बलभद्र भी सतत् इनका साथ देते थे। श्रीकृष्ण के सत्यभामा आदि सोलह हजार सुन्दरी स्त्रियाँ थीं, जब कि बलराम आठ हजार स्त्रियों के पति थे। श्रीकृष्ण 'नारायण' एव बलराम 'बलभद्र' कहलाते थे। एक दिन राज-सभा में श्रीकृष्ण, बलराम एवं भगवान नेमिनाथ आदि बैठे हुए थे। उस समय किसी सभासद ने पूछा — 'इस समय भारतवर्ष में सबसे अधिक बलवान् कौन है?' इस प्रश्न को सुन कर कुछ सभासदों ने श्रीकृष्ण को ही सब से अधिक बलवान बतलाया। श्रीकृष्ण भी अपने शौर्य की प्रशसा सुन कर अत्यधिक प्रसन्न हुए। पर 'बलभद्र' बलराम ने कहा — 'इस समय भगवान नेमिनाथ से बढ़ कर पराक्रमी (बलवान) कोई दूसरा नहीं है। उनके शरीर में बचपन से ही अतुल्य बल है। आप लोग जो वत्स श्रीकृष्ण को ही सब से अधिक बलवान समझ रहे हो, यह आप का केवल भ्रम है। क्योंकि, श्रीकृष्ण एवं आप सब में जो बल है, उससे कई गुना अधिक बल नेमिनाथ स्वामी में विद्यमान है।' बलराम के वचन सुन कर श्रीकृष्ण के पक्षपातियों को बड़ा आघात लगा। श्रीकृष्ण भी अब तक पृथ्वी पर अपने से बढ़ कर किसी दूसरे को बलवान नहीं समझते थे।

इसलिये उन्होंने भी अग्रज बलराम के वचनों से अपनी असहमति प्रकट की। अब धीरे-धीरे परस्पर का विवाद अधिक बढ़ गया। अन्त में भगवान नेमिनाथ एवं श्रीकृष्ण के बल की परीक्षा करना निश्चित हुआ। यद्यपि भगवान नेमिनाथ इस विषय में सहमत नहीं थे, तथापि बलराम के आग्रह से उन्हें इस प्रतिस्पर्द्धा के लिए सहमत होना पड़ा। उन्होंने हँसते हुए कहा — 'यदि श्रीकृष्ण मेरे से बलवान हैं, तो सिंहासन पर से मेरे इस पाँव को उठा दें'—ऐसा कह कर उन्होंने सिंहासन पर अपना पैर जमा दिया। श्रीकृष्ण ने उसे उठाने की भरसक चेष्टा की, पर वे सफलता प्राप्त न कर सके। इससे उन्हें अत्यधिक लज्जित होना पड़ा। भगवान नेमिनाथ का अतुल्य बल देख कर उन्हें शङ्का हुई कि ये तो हम से भी बलवान हैं; सम्भव है कि कभी प्रतिकूल होकर हमारे राज्य पर अधिकार न कर लें। श्रीकृष्ण ने अपने इस सन्देह को अपने हृदय में गुप्त ही रक्खा।

एक समय शरद्-ऋतु में महाराज श्रीकृष्ण अपने समस्त अन्तःपुरवासियों के साथ वन में जल-क्रीड़ा करने के लिए गये थे। भगवान नेमिनाथ भी उनके साथ थे। श्रीकृष्ण की सत्यभामा आदि स्त्रियाँ सरोवर की ओर दृष्टि किए नेमिनाथ के ऊपर जल उछालती हुई उनसे अनेक श्रृङ्गारमय वचन कहने लगीं। नेमिनाथ ने भी चतुराईपूर्वक उनके व्यग भरे वचनों का यथोचित उत्तर दिया। जल-क्रीड़ा कर चुकने के बाद भगवान नेमिनाथ ने सत्यभामा से कहा —'तुम मेरी इस गीली धोती को धो डालो।' तब सत्यभामा क्रोध से भौंहें टेढ़ी करती हुई बोली —'आप वे श्रीकृष्ण नहीं हैं, जिन्होंने नाग-शैय्या पर आरुढ़ होकर लीला-मात्र में 'शारङ्ग' नाम का धनुष चढ़ाया था एवं दशों दिशाओं को गुञा देनेवाला 'पाँचजन्य' शङ्ख बजाया था। यदि अपनी धोती धुलाने का शौक हो, तो किसी राजकुमारी को क्यों नहीं ले आते?' सत्यभामा के ताने भरे वचन सुन कर नेमिनाथ को कुछ क्रोध आ गया, जिससे वे वहाँ से लौट कर आयुध-शाला में गये एवं सबसे पहिले नाग-शैय्या पर आरुढ़ होकर 'शारङ्ग' धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ाई, फिर दशों दिशाओं को गुञा देने-वाला शङ्ख बजाया। श्रीकृष्ण राज्य-सम्बन्धी कुछ कार्यो के कारण इन सब से पहिले ही नगरी में लौट आये थे। जिस समय नेमिनाथ ने धनुष चढ़ा कर शङ्ख बजाया था, उस समय वे 'कुसुमचित्रा' नामक सभा में बैठे हुए कुछ आवश्यक कार्य कर रहे थे। ज्यों ही वहाँ उनके कानों में शङ्ख की गम्भीर ध्वनि पहुँची, त्यों ही वे चकित होकर आयुध-शाला की ओर दौड़ गये। वहाँ उन्होंने भगवान नेमिनाथ को क्रोधयुक्त देख

चल रहे थे। जब उनका रथ उन पशुओं के घेरे के पास पहुँचा एवं उनके करुण-क्रन्दन की ध्वनि नेमिनाथ के कानों में पडी, तब उन्होंने पशुओं के रक्षकों से पूछा — 'ये पशु किसलिये इकट्ठे किये गये हैं ?' छद्म पशु-रक्षक बोले — 'आप के विवाह में आमन्त्रित क्षत्रिय राजाओं को माँस खिलाने के लिये इन पशुओं को वध हेतु महाराज श्रीकृष्ण ने इन्हें इकट्ठा करवाया है।' रक्षकों के वचन सुन कर नेमिनाथ ने अचम्भे में पड़ कर कहा — 'श्रीकृष्ण ने, एव मेरे विवाह में मारने के लिये ?' तब रक्षकों ने ऊँचे स्वर में कहा — 'हाँ, देव !'

यह सुन कर नेमिनाथ मन में विचारने लगे — 'जो निरीह पशु जंगलों में रह कर तृण के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं खाते, किसी का भी कुछ अपराध नहीं करते — हाय ! स्वार्थी पुरुष उन्हें भी नहीं छोड़ते।' नेमिनाथ अवधिज्ञान के द्वारा श्रीकृष्ण का कपट जान गये एव वहीं उनको लक्ष्य कर कहने लगे — 'हा कृष्ण ! इतना अविश्वास ? मैं ने कभी आप को अनादर एव अविश्वास की दृष्टि नहीं देखा। जिस राज्य पर कुलक्रम से मेरा अधिकार था, मैं ने उसे सहर्ष आप के हाथों सौप दिया। फिर भी आप को सन्तोष नहीं हुआ। हमेशा आप के हृदय में शङ्का बनी रही कि नेमिनाथ पैतृक राज्य पर अपना अधिकार न कर लें। छिः, यह तो पराकाष्ठा हो गई अविश्वास की ! इस जीर्ण तृण के समान तुच्छ राज्य के लिए इन निरीह पशुओं की हत्या करने की क्या आवश्यकता थी ? यदि आप को मेरे प्रति इतना अविश्वास है, तो मैं हमेशा के लिए आप का मार्ग निष्कण्टक किये देता हूँ।' तत्काल उन्होंने विषय-भोगों की क्षण-भंगुरता का चिन्तवन कर दीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आ कर उनकी स्तुति की एव उनके दीक्षा लेने के चिन्तवन का समर्थन किया। बस फिर क्या था ? बारात बीच ही में भङ्ग हो गई। समुद्र-विजय, वासुदेव, बलराम, श्रीकृष्ण आदि कोई भी उन्हें अपने दृढ़-निश्चय से विचलित नहीं कर सके। वहीं पर देवों ने आ कर उनका दीक्षाभिषेक किया एव उन्होंने महा मनोहर 'देवकुरु' नाम की एक पालकी बनाई। भगवान नेमिनाथ उस पालकी पर आरुढ़ होकर रैवतक (गिरनार) पर्वत पर जा पहुँचे एव वहाँ पर सहस्त्राम्र वन में एक हजार राजाओं के साथ उसी दिन (श्रावण शुक्ला षष्ठी) को चित्रा नक्षत्र में सध्या के समय दीक्षित हो गये। उन्हें दीक्षा लेते ही मनःपर्यय ज्ञान प्रकट हो गया था। दीक्षा लेते समय भगवान नेमिनाथ की आयु तीन सौ वर्ष की थी।

इधर जब राजा उग्रसेन के गृह पर नेमिनाथ का दीक्षा लेने का समाचार जा पहुँचा, तो वे अत्यधिक दुःखी हुए। उस समय राजकुमारी राजमती की जो अवस्था हुई थी, उसका वर्णन इस तुच्छ लेखनी के द्वारा नहीं किया जा सकता। माता-पिता के बहुत अधिक समझाने पर भी उसने किसी दूसरे वर से विवाह करना स्वीकार नहीं किया। वह शोक से व्याकुल होकर गिरनार पर्वत पर मुनिराज नेमिनाथ के पास जा पहुँची एवं अनेक मधुर वचनों से उनका चित्त विचलित करने का उद्यम करने लगी। परन्तु जैसे प्रलयङ्कारी पवन से मेरु पर्वत विचलित नहीं होता, वैसे ही राजमती के वचनों से नेमिनाथ का मन विचलित नहीं हुआ। अन्त में उनके वैराग्यमय उपदेश से वह भी आर्यिका हो गई।

भगवान नेमिनाथ ने दीक्षा लेने के तीन दिन बाद आहार लेने को द्वारका नगरी में प्रवेश किया। यहाँ उन्हें वरदत्त महीपति ने भक्तिपूर्वक आहार दिया। पात्र-दान से प्रभावित होकर देवों ने वरदत्त के महल पर पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। इस तरह तपश्चरण करते हुए जब छद्मस्थ अवस्था के छप्पन दिन निकल गये, तब उसी रैवतक (गिरनार) पर्वत पर वंश-वृक्ष के नीचे तीन दिन के उपवास की प्रतिज्ञा ले कर वे विराजमान हुए। वहीं पर उन्हें आसोज शुक्ला पड़िवा के दिन प्रातःकाल के समय चित्रा नक्षत्र में 'केवलज्ञान' की प्राप्ति हुई। उसी समय इन्द्रादि देवों ने आ कर उनके 'ज्ञान-कल्याणक' का उत्सव मनाया। धनपति कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से 'समवशरण' की रचना की, उसके मध्य में स्थिर होकर उन्होंने अपना छप्पन दिन का मौन भङ्ग किया—दिव्य-ध्वनि द्वारा षट्द्रव्य, नव-पदार्थ आदि का विशद् विवेचन किया। भगवान नेमिनाथ को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है, यह सुन कर श्रीकृष्ण, बलभद्र आदि समस्त यादवगण सपरिवार उनकी वन्दना के लिए 'समवशरण' में गये। वहाँ वे भगवान नेमिनाथ को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर पुरुषों के कोठे में बैठ गये। धार्मिक उपदेश सुनने के बाद श्रीकृष्ण तथा उनकी रानियों ने अपने-अपने पूर्व-भवों का वर्णन सुना।

भगवान नेमिनाथ की सभा में वरदत्त आदि ग्यारह गणधर थे, चार सौ श्रुतकेवली थे, ग्यारह हजार आठ सौ शिक्षक थे, पन्द्रह सौ अवधिज्ञानी थे, नौ सौ मनःपर्ययज्ञानी थे, पन्द्रह सौ केवली थे, ग्यारह सौ विक्रियाऋद्धि के धारक थे एवं आठ सौ वादी थे। इस तरह सब मिला कर उनकी सभा में आठ हजार मुनिराज थे। यक्षी, राजमती आदि चालीस हजार आर्यिकायें थीं। एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकायें

थीं। असख्यात देव-देवियाँ एवं असख्यात तिर्यञ्च थे। इन सब के साथ उन्होंने अनेक आर्य देशों में विहार किया एवं धर्मामृत की वर्षा की। भगवान नेमिनाथ ने छः सौ निन्यानवे वर्ष नौ महीने एवं चार दिन तक विहार किया। फिर विहार त्याग कर आयु के अन्त में पाँच सौ तैंतीस मुनियों के साथ योग-निरोध कर उसी गिरनार पर विराजमान हो गये एव वहीं पर शुक्ल ध्यान के द्वारा अघातिया कर्मों का नाश कर आषाढ़ शुक्ला सप्तमी के दिन चित्रा नक्षत्र में रात्रि के प्रारम्भ काल में मुक्त हो गये। देवों ने आ कर 'निर्वाण-कल्याणक' का उत्सव किया एव सिद्धक्षेत्र की पूजा की। आप का चिह्न था शङ्ख।

(२३) भगवान श्री पार्श्वनाथजी

छप्पय — जन्म जलधि जलयान, जान जनहंस मानसर।
सर्व इन्द्र मिल आन, आन जिसे धरें सीस पर॥
पर उपकारी बान, बान उत्थप्य कुनय गण।
गण सरोज बन भान, भान मम मोह तिमिर घन॥
घन वर्ण देह दुःख दाह धर, हर्षत हेत मयूर मन।
मन मत मतङ्ग हरि पास जिन, जिन विसरहु छिन जगत जन॥ —भूधरदास

पूर्व-भव परिचय

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में सुरम्य नाम का एक रमणीय देश है एवं उसमें पोदनपुर एक प्रख्यात नगर है। उस नगर में किसी समय अरविन्द नाम का राजा राज्य करता था। अरविन्द अत्यधिक गुणवान्, न्यायवान् एवं

[illegible] राजा था। उसी नगर में वेद-शास्त्रों का जाननेवाला विश्वभूति नाम का ब्राह्मण रहता था। वह अपनी अनुन्धरी नाम की ब्राह्मणी से अत्यधिक प्यार करता था। उन दोनों के कमठ एवं मरुभूति नाम के दो पुत्र थे। दोनों में कमठ बड़ा एव मरुभूति छोटा था। मरुभूति था तो छोटा पर वह अपने गुणों से सब को प्यारा लगता था। कमठ विशेष विद्वान न होने के साथ-साथ सदाचारी भी नहीं था। वह अपने दुर्व्यवहार से परिवार के लोगों को अत्यधिक तङ्ग किया करता था। यदि आचार्य गुणभद्र के शब्दों में कहा जाये, तो कमठ का निर्माण विष से हुआ था एव मरुभूति की रचना अमृत से। कमठ की स्त्री का नाम वरुणा था एव मरुभूति की स्त्री का नाम वसुन्धरी। कमठ एव मरुभूति दोनों राजा अरविन्द के मन्त्री थे; इसलिये इन्हें किसी प्रकार का भी आर्थिक सकट नहीं उठाना पड़ता था एव नगर में इनकी धाक खूब जमी हुई थी। समय बीतने पर ब्राह्मण एव ब्राह्मणी की मृत्यु हो गई, जिससे उनकी बनी हुई गृहस्थी एक प्रकार से छिन्न-भिन्न हो गई।

एक दिन राजा अरविन्द ने ब्राह्मण-पुत्र मरुभूति को कार्यवश बाहर भेजा। घर पर मरुभूति की स्त्री थी। वह अत्यधिक सुन्दरी थी। मौका पाकर कमठ ने उसे अपने षड्यन्त्र में फँसा कर उसके साथ दुराचार करना चाहा। जब राजा को इस बात का पता चला, तब उसने मरुभूति के वापिस आने के पहिले ही कमठ को राज्य से निर्वासित कर दिया। कमठ जन्म-भूमि को त्याग कर इधर-उधर भटकता हुआ एक पर्वत के किनारे पर जा पहुँचा। वहाँ पर एक साधु पञ्चाग्नि तप कर रहा था। कमठ उसी का शिष्य बन गया एव वहीं एक वजनदार शिला को लिये दोनों हाथों को ऊपर उठा कर खड़ा-खड़ा कठिन तपस्या करने लगा। इधर जब मरुभूति राज-कार्य पूर्ण कर के अपने गृह वापिस आया एव उसने कमठ के देश-निकाले का समाचार सुना, तब उसका हृदय दुःख से टूक-टूक हो गया। मरुभूति सरल-परिणामी एव स्नेही पुरुष था। उसने कमठ के अपराध पर कुछ भी विचार न कर उसे वापिस लाने की राजा से प्रार्थना की। राजा अरविन्द ने भी उसे कमठ को बुलाने की आज्ञा दे दी। मरुभूति राजा की आज्ञा पा कर हर्षित होता हुआ ठीक उसी स्थान पर पहुँच गया, जहाँ पर उसका बड़ा भाई कमठ तपस्या कर रहा था। मरुभूति क्षमा माँगने के लिये उसके चरणों में पड़ कर कहने लगा — 'पूज्य भ्राता! आप मेरा अपराध क्षमा कर फिर से गृह को चलिये। आप के बिना मुझे यहाँ अच्छा नहीं लगता।' क्षमा के वचन सुनते ही कमठ का क्रोध अत्यधिक बढ़ गया। उसकी

आँखें लाल-लाल हो गई, ओंठ काँपने लगे तथा कुछ देर बाद 'दुष्ट ! दुष्ट !' कहते हुए उसने हाथों की वजनदार शिला मरुभूति के मस्तक पर पटक दी। शिला के गिरते ही मरुभूति के प्राण-पखेरू उड़ गये। कमठ भाई को मरा हुआ देख कर अट्टहास करता हुआ किसी दूसरी ओर चला गया।

मरते समय मरुभूति के मन में दुर्ध्यान हो गया था, इसलिये वह मलय पर्वत पर कुब्जक नामक सल्लिकी वन में 'वज्रघोष' नाम का हाथी हुआ। कमठ की स्त्री वरुणा मर कर उसी वन में हस्तिनी हुई, जो कि वज्रघोष के साथ तरह-तरह की क्रीड़ा किया करती थी। जब राजा अरविन्द को मरुभूति की मृत्यु के समाचार मिले, तब वह अत्यधिक दुःखी हुआ। वह सोचने लगा — 'जैसे, चन्द्रमा राहु का कुछ भी अनिष्ट नहीं करता, फिर भी वह उसे ग्रस लेता है; वैसे ही दुष्ट पुरुष अनिष्ट नहीं करनेवाले सज्जनों से भी अपनी दुष्टता नहीं छोड़ते। यह ससार प्रायः इन्हीं कमठ जैसे खल पुरुषों से भरा हुआ है। पर मरुभूति ! मैं तुम्हें जानता था एवं अच्छी तरह जानता था कि तुम्हारा हृदय स्फटिक की तरह निर्मल था, तुम्हारे हृदय में सतत् प्रीतिरूपी मन्दाकिनी का पावन प्रवाह बहता रहता था। हमारे मना करने पर भी तुम भ्रातृ स्नेह को नहीं तोड़ सके; इसलिये अन्त में मृत्यु को प्राप्त हुए। अहा ! मरुभूति !' इस प्रकार चिन्तवन करते हुए उसका मन ससार से विरक्त हो गया, जिससे किसी तपस्वी के पास उसने जिन-दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा के कुछ समय बाद अरविन्द मुनिराज अनेक मुनियों के साथ श्री सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए गये। चलते-चलते वे उसी सल्लिकी वन में जा पहुँचे, जहाँ मरुभूति का जीव वज्रघोष हाथी हुआ था। सामायिक का समय देख कर अरविन्द मुनिराज वहीं एक शिला पर प्रतिमा-योग धारण कर विराजमान हो गये। जब वज्रघोष की दृष्टि मुनिराज पर पड़ी, तब वह उन्हें मारने के लिए वेग से उनकी ओर दौड़ा। पर ज्यों ही उसने अरविन्द मुनिराज के वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न देखा, त्यों ही उसे अपने पूर्व-भव का स्मरण हो आया। उसने उन्हें देख कर पहिचान लिया कि ये हमारे पूर्व स्वामी अरविन्द हैं। वज्रघोष एक विनीत शिष्य की तरह शान्त होकर उन्हीं के पास बैठ गया। उन्मत्त हाथी मुनिराज के पास आ कर एकदम शान्त हो गया—यह देख कर सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ। सामायिक पूर्ण होने पर अरविन्द मुनिराज ने अवधिज्ञान से उसे मरुभूति का जीव समझ कर खूब समझाया, जिससे उसने सब बैर-भाव त्याग कर सम्यग्दर्शन के

साथ-साथ पाँच अणुव्रत धारण कर लिये। अरविन्द मुनिराज अपने संघ के साथ आगे चले गये।

एक दिन वज्रघोष पानी पीने के लिये किसी भदभदा (झरने) के पास जा रहा था, पर दुर्भाग्य से वह उसी के किनारे पर स्थित दलदल में फँस गया! उसने उससे निकलने के लिए अत्यधिक प्रयत्न किये, पर वह निकल नहीं सका। तापस कमठ मर कर उसी भदभदा के किनारे कुक्कुट जाति का साँप हुआ था। उसने पूर्व-भव के बैर के कारण उस प्यासे हाथी को डँस लिया एव वह हाथी मर कर अणुव्रतों के प्रभाव से बारहवें सहस्रार स्वर्ग में सोलह सागर की आयुवाला देव हुआ। कमठ के जीव कुक्कुट सर्प को भी उसी समय एक वानरी ने मार डाला, जिससे वह मर कर धूमप्रभ नाम के पाँचवें नरक में महा भयङ्कर नारकी हुआ। वज्रघोष का जीव स्वर्ग की सोलह सागर प्रमाण आयु समाप्त कर जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह-क्षेत्र में पुष्कलावती देश के विजयार्ध पर्वत पर त्रिलोकोत्तम नगर में वहाँ के राजा विद्युद्गति एवं रानी विद्युन्माला के अग्निवेग नाम का पुत्र हुआ। अग्निवेग ने पूर्ण यौवन प्राप्त कर किन्हीं समाधिगुप्त नामक मुनिराज के पास जिन-दीक्षा धारण कर ली तथा सर्वतोभद्र आदि ने उपवास किये।

मुनिराज अग्निवेग एक दिन हरि नामक पर्वत की गुफा में ध्यान लगाये हुए विराजमान थे। इतने में कमठ (कुक्कुट सर्प का जीव) जो धूमप्रभ नरक से निकल कर उसी गुफा में विशालकाय अजगर हुआ था, मुनिराज को देख कर क्रोध से उन्हें निगल गया।

मुनिराज ने संन्यासपूर्वक शरीर त्याग कर सोलहवें अच्युत स्वर्ग के पुष्कर विमान में देव पदवी पाई। वहाँ उनकी आयु बाईस सागर प्रमाण थी। कमठ का जीव अजगर भी मर कर छट्ठे नरक में नारकी हुआ।

स्वर्ग की आयु पूरी कर मरुभूति-वज्रघोष-अग्निवेग का जीव इसी जम्बूद्वीप के पश्चिम क्षेत्र में पद्मदेश के अश्वपुर नगर में वहाँ के राजा वज्रवीर्य एवं रानी विजया के वज्रनाभि नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वज्रनाभि बड़ा प्रतापी पुरुष था। उसने अपने प्रताप से छह खण्ड पृथ्वी पर विजय की थी — वह चक्रवर्ती था। एक दिन निमित्त पा कर चक्रवर्ती वज्रनाभि राज्य-सम्पदाओं से विरक्त हो गया। इसलिये उसने क्षेमङ्कर मुनिराज के पास जा कर समीचीन-धर्म का स्वरूप सुना एवं उनके उपदेश से प्रभावित होकर पुत्र को राज्य सौंप दिया एवं उनके चरणों में दीक्षा धारण कर ली। कमठ (अजगर का जीव) नरक से निकल कर उसी वन में

कुरङ्ग नामक एक भील हुआ था, जो बड़ा ही क्रूर (हिंसक) था ।

एक दिन वज्रनाभि मुनिराज उसी वन में आतापन योग लगाये हुए बैठे थे कि उस कुरङ्ग भील ने पूर्व-भव के संस्कारों से उन पर घोर उपसर्ग किये । मुनिराज समाधिपूर्वक शरीर त्याग कर सुभद्र नामक मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए। वहाँ उनकी आयु सत्ताईस सागर की थी। कुरङ्ग भील भी मुनि हत्या के पाप से सातवें नरक में नारकी हुआ। मरुभूति का जीव अहमिन्द्र ग्रैवेयक की सत्ताईस सागर प्रमाण आयु पूरी कर इसी जम्बूद्वीप में कौशल देश की अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशीय राजा वज्रबाहु की प्रभाकरी पत्नी से आनन्द नामक पुत्र हुआ। वह अत्यधिक सुन्दर था । आनन्द को देख कर सभी को आनन्द होता था । बड़ा होने पर आनन्द महामण्डलेश्वर राजा हुआ । उसके पुरोहित का नाम स्वामिहित था ।

एक दिन पुरोहित स्वामिहित ने राजा के सामने अष्टाह्निका व्रत के माहात्म्य का वर्णन किया, जिससे उसने फाल्गुन माह की अष्टाह्निका में एक बड़ी पूजा करवाई। उसे देखने के लिए वहाँ पर विपुलगति नाम के एक मुनिराज पधारे। राजा ने विनय के साथ उनकी वन्दना की एवं ऊँचे आसन पर उन्हें बैठाया। पूजा कार्य समाप्त होने पर राजा ने मुनिराज से पूछा — 'महाराज ! जिनेन्द्रदेव की अचेतन प्रतिमा जब किसी का हित एव अहित नहीं कर सकती, तब उसकी पूजा करने से क्या लाभ है ?' राजा का प्रश्न सुन कर उन्होंने कहा — 'यह ठीक है कि जिनराज की जड़ प्रतिमा किसी को कुछ दे नहीं सकती । पर उसके सौम्य, शान्त आकार के देखने से हृदय में एक बार वीतरागता की लहर उत्पन्न हो जाती है,आत्मा के सच्चे स्वरूप का पता चल जाता है एव कषायरूपी रिपुओं के क्रिया-कलाप एकदम बन्द हो जाते हैं । उससे बुरे कर्मों की निर्जरा होकर शुभ-कर्मों का बन्ध होता है , जिनके उदयकाल में प्राणियों को सुख की सामग्री मिलती है। इसलिये प्रथम अवस्था में जिनेन्द्र की प्रतिमाओं की अर्चना करना बुरा नहीं है।' इतना कह कर उन्होंने राजा आनन्द के सामने अकृत्रिम चैत्यालयों का वर्णन करते हुए आदित्य (सूर्य) विमान में स्थित अकृत्रिम जिन-बिम्बों का वर्णन किया, जिसे सुन कर समस्त जनता अत्यन्त हर्षित हुई। आनन्द ने हाथ जोड़ कर सूर्य-विमान की प्रतिमाओं को लक्ष्य कर नमस्कार किया एवं अपने मन्दिर में अनेक दीप्तिवान रत्नों का विमान बनवा कर उसमें रत्नमयी प्रतिमाएँ विराजमान कीं एव वह सूर्य-विमान की प्रतिमाओं की कल्पना

कर उन्हें प्रतिदिन भक्ति से नमस्कार करता था। उस समय अनेक लोगों ने राजा आनन्द का अनुकरण किया था। उसी समय से भारतवर्ष में सूर्य-नमस्कार करने की प्रथा चल पड़ी थी। राजा आनन्द ने सुदीर्घ समय तक पृथ्वी का पालन किया।

एक दिन उसे अपने सिर में एक श्वेत बाल के देखने से वैराग्य उत्पन्न हो गया, जिससे वह अपना विशाल राज्य ज्येष्ठ पुत्र को सौंप कर समुद्रदत्त नाम के एक मुनिराज के पास दीक्षित हो गया। उन्हीं के पास रह कर उसने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं तप — इन चार की आराधना की। ग्यारह अङ्गों का ज्ञान प्राप्त किया एवं विशुद्ध हृदय से दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तवन कर 'तीर्थङ्कर' नामक पुण्य-प्रकृति का बन्ध किया। एक दिन मुनिराज आनन्द प्रायोपगमन सन्यास ले कर निराकुल रूप से क्षीर नामक वन में बैठे हुए थे। कमठ का जीव भी नरक से निकल कर उसी वन में सिंह हुआ था। ज्यों ही उसकी दृष्टि मुनिराज पर पड़ी, त्यों ही उसे पूर्व-भव के सस्कार से प्रचण्ड क्रोध आ गया। उसने अपने पैने दाँतों से आनन्द मुनिराज का गला पकड़ लिया। सिंह-कृत उपसर्ग सहन करते हुए मरण प्राप्त कर मुनिराज आनत स्वर्ग के 'प्राणत' नाम के विमान में इन्द्र हुए। वहाँ उनको आयु बीस सागर की थी, साढ़े तीन हाथ का शरीर था। शुक्ल लेश्या थी, वे दश माह बाद श्वास लेते थे एवं बीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार ग्रहण करते थे। उन्हें जन्म से हो अवधिज्ञान प्राप्त था, इसलिये वे पाँचवें नरक तक की बातों को स्पष्ट जान लेते थे। अनेक देव-देवियाँ उनकी सेवा करती थीं। यही इन्द्र आगे के भव में भगवान पार्श्वनाथ होगा। कब, कहाँ ? सो ध्यानपूर्वक सुनिये —

वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में काशी नामक विशाल देश है, उसमें अपनी शोभा से अलकापुरी को भी जीतने-वाली एक बनारस नाम की नगरी है। बनारस के समीप ही शान्त-स्मित गति से गङ्गा नदी बहती है। वह भी अपनी धवल तरङ्गों से किनारे पर बनी हुई अट्टालिकाओं को सींचती हुई बड़ी ही भव्य प्रतीत होती है। उसमें काश्यप गोत्रीय राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम ब्रह्मादेवी था। दोनों राज्य-दम्पति इन्द्र-इन्द्राणी की तरह मनोहर सुख भोगते हुए आनन्द से समय बिताते थे। ऊपर जिस का

कथन कर आये हैं,वहाँ पर जब उसकी आयु केवल छः माह की शेष रह गई, तब से राजा विश्वसेन के महल पर देवों ने रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी। अनेक देवियाँ आ कर महारानी ब्रह्मादेवी की सेवा करने लगीं, जिससे उन्हें निश्चय हो गया कि यहाँ किसी महापुरुष (तीर्थङ्कर) का जन्म होनेवाला है।

वैशाख कृष्णा द्वितोया के दिन विशाखा नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में रानी ने सुर-कुञर आदि सोलह स्वप्न देखे एव स्वप्न देखने के बाद ही मुख में प्रवेश करते हुए एक मत्त हाथो को देखा। उसी समय मरुभूति के जीव इन्द्र ने स्वर्ग-वसुन्धरा से सम्बन्ध त्याग कर उनके गर्भ में प्रवेश किया। प्रातःकाल होते ही रानी ने स्नान आदि से निवृत्त होकर प्राणनाथ से स्वप्नों का फल पूछा। तब उन्होंने प्रमुदित होकर कहा — 'आज तुम्हारे गर्भ में तेईसवें तीर्थङ्कर ने अवतार लिया है। नौ माह बाद उनका जन्म होगा। यह रत्नों की वर्षा, देव-कुमारियों की सेवा एव स्वप्नों का देखना उन्हीं का माहात्म्य (प्रभाव) प्रकट कर रहे हैं। पतिदेव के वचन सुन कर ब्रह्मादेवी को इतना अधिक हर्ष हुआ कि अत्यधिक आनन्द से उसके समस्त शरीर में रोमाञ्च हो आया। उसी समय देवों ने आ कर राज-दम्पति का खूब सत्कार किया, स्तुति की एव स्वर्ग से साथ में लाये हुए वस्त्र-आभूषण उन्हें भेंट किये।

नौ माह बाद रानी ने पौष कृष्णा एकादशी के दिन अनिल योग में पुत्र-रत्न को जन्म दिया। पुत्र के उत्पन्न होते ही सब ओर आनन्द ही आनन्द छा गया। उसी समय सौधर्म इन्द्र आदि देवों ने मेरु पर्वत पर ले जा कर उनका जन्माभिषेक किया एवं उनका नाम भगवान 'पार्श्वनाथ' रक्खा। वहाँ से वापिस आ कर इन्द्र ने उन्हें उनकी माता को सौंप दिया एव भक्ति से गद्गद् होकर ताण्डव-नृत्य आदि का प्रदर्शन कर 'जन्म-कल्याणक' का महोत्सव किया। उत्सव समाप्त होने पर देवगण अपने-अपने स्थान पर चले गये।

राज-परिवार में बालक पार्श्वनाथ का योग्य रीति से लालन-पालन हुआ। भगवान नेमिनाथ के मोक्ष जाने के बाद तिरासी हजार सात सौ पचास वर्ष बीत जाने पर पार्श्वनाथ स्वामी हुए थे। इनकी सौ वर्ष की आयु भी इसी में युक्त है। इनके शरीर की ऊँचाई नौ हाथ की थी एवं रङ्ग हरा था। इनकी उत्पत्ति उग्रवंश में हुई थी। भगवान पार्श्वनाथ ने धीरे-धीरे बाल्यावस्था व्यतीत कर कुमार अवस्था में प्रवेश किया एव फिर कुमार अवस्था को पार कर यौवन अवस्था में पदार्पण किया।

सोलह वर्ष की अवस्था में पार्श्वनाथ एक दिन अपने ...
हुए थे। वहाँ से लौट कर ...

सोलह वर्ष की अवस्था में पार्श्वनाथ एक दिन अपने इष्ट-मित्रों के साथ वन में क्रीड़ा करने के लिए गये हुए थे। वहाँ से लौट कर जब वे स्वगृह आ रहे थे, तब उन्हें मार्ग में किनारे पर पञ्चाग्नि तप करता हुआ एक साधु मिला। वह साधु ब्रह्मादेवी का पिता अर्थात् भगवान पार्श्वनाथ का मातामह (नाना) था। अपनी स्त्री के विरह से दुःखी होकर वह पञ्चाग्नि तप करने लगा था। उसका नाम महीपाल था। कमठ का जीव सिंह जो आनन्द मुनिराज की हत्या करने से मर कर नरक में गया, वहाँ से निकल कर अनेक कुयोनियों में घूमता हुआ यह महीपाल हुआ था। भगवान पार्श्वनाथ एवं उनके मित्र सुभौम कुमार नमस्कार किये बिना ही उस तापस के सामने खड़े हो गये। तापस को इस आचरण से बहुत अधिक आघात लगा। वह सोचने लगा — 'मुझे बड़े-बड़े राजे-महाराजे तो नमस्कार करते हैं, पर ये आजकल के बालक कितने अभिमानी हैं। खैर! यह सोच कर उसने बुझती हुई अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये कुल्हाड़ी से एक लकड़ी को काटना चाहा।' अवधिज्ञान से जान कर भगवान पार्श्वनाथ ने कहा — 'बाबाजी! आप इस लकड़ी को न काटें, इसके भीतर दो प्राणी बैठे हुए हैं, जो कुल्हाड़ी के प्रहार से मर जायेंगे।' उनके मित्र सुभौम कुमार ने भी उसके अज्ञान तप की खूब निन्दा की एवं पञ्चाग्नि तप की हानियाँ बतलाई। सुभौम के वचन सुन कर झल्लाते हुए तापस ने दोनों के प्रति बहुत अधिक रोष प्रकट किया एवं कुल्हाड़ी मार कर लकड़ी के दो टुकड़े कर दिये। कुल्हाड़ी के प्रहार से लकड़ी के अन्दर बैठे हुए सर्प एव सर्पिणी के भी दो-दो टुकड़े हो गये। उनके विच्छिन्न टुकड़े पीड़ा से तड़प रहे थे। पार्श्वनाथ स्वामी ने अन्य कोई उपाय न देख कर सर्प-सर्पिणी को शान्त होने का उपदेश दिया एवं उन्हें पञ्च नमस्कार मन्त्र सुनाया। उनके उपदेश से शान्तचित्त होकर दोनों ने णमोकार मन्त्र का ध्यान किया, जिसके प्रभाव से वे दोनों मर कर महा विभूति के धारक धरणेन्द्र एव पद्मावती हुए। बहुत अधिक समझाने पर भी जब उस तापस महीपाल ने अपना हठ नहीं छोड़ा, तब पार्श्वनाथ मित्रों के साथ अपने गृह लौट आये। तापस महीपाल को भी अपने इस अनादर से बहुत अधिक दुःख हुआ, जिससे आर्तध्यान से मर कर वह कालसंवर नाम का ज्योतिषी देव हुआ।

जब भगवान पार्श्वनाथ की आयु तीस वर्ष की हो गई, तब अयोध्या नगर के स्वामी राजा जयसेन ने उन्हें उत्तमोत्तम भेंट प्रदान करने के लिये एक दूत को भेजा। कुमार पार्श्वनाथ ने बड़ी प्रसन्नता से उनकी

भेंट स्वीकार की एव दूत का योग्य सम्मान किया। अवसर पा कर जब उन्होंने दूत से अयोध्या का समाचार पूछा, तब दूत ने पहिले वहाँ पर उत्पन्न हुए वृषभनाथ आदि तीर्थङ्करों का वर्णन किया, राजा रामचन्द्र, लक्ष्मण आदि की वीर-चेष्टाओं का व्याख्यान किया एव फिर नगर की शोभा का निरूपण किया। दूत से विगत तीर्थङ्करों का विभव सुन कर उन्होंने सोचा कि मैं भी भावी तीर्थङ्कर कहलाता हूँ, पर इस थोथे पद से क्या लाभ ? मैं ने सचमुच में एक सामान्य पुरुष की तरह अपनी आयु के तीस वर्ष व्यर्थ ही गँवा दिये। इस प्रकार चिन्तवन करते हुए उन्हें आत्म-ज्ञान प्राप्त हो गया, जिससे उन्होंने विषय-वासनाओं से मोह त्याग कर दीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उन्हें दीक्षा लेने के लिए तत्पर देख कर राजा विश्वसेन आदि ने बारम्बार समझाया, पर उन्होंने किसी की एक न मानी। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आ कर 'दीक्षा-कल्याणक' का उत्सव मनाया। भगवान पार्श्वनाथ अनेक राजकुमारियों की प्रणय प्रार्थना को ठुकरा कर देव-निर्मित 'विमला' पालकी पर आरुढ़ होकर अश्व वन में जा पहुँचे एव वहाँ तेला का नियम ले कर एक सौ राजाओं के साथ पौष कृष्णा एकादशी के दिन प्रातःकाल समय दीक्षित हो गये। बढ़ती हुई विशुद्धि के कारण उन्हें दीक्षा लेते ही मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। 'दीक्षा-कल्याणक' का उत्सव समाप्त कर देवगण अपने-अपने स्थान को चले गये।

चौथे दिन भगवान पार्श्वनाथ ने आहार लेने के लिए गुलमसेटपुर में प्रवेश किया। वहाँ उन्हें धन्य नामक राजा ने विधिपूर्वक उत्तम आहार दिया। आहार से प्रभावित होकर देवों ने राजा धन्य के महल पर पञ्चाश्चर्य प्रकट किये। आहार ले कर भगवान पार्श्वनाथ पुनः वन में आ कर विराजमान हो गये। इस तरह कभी प्रतिदिन, कभी दो-चार-छः दिनों के बाद आहार लेते हुए एव आत्म-ध्यान करते हुए उन्होंने छद्मस्थ अवस्था के चार माह व्यतीत किये। फिर वे उसी दीक्षा-वन में आम्रवृक्ष के नीचे सात दिन के अनशन की प्रतिज्ञा ले कर ध्यान में मग्न हो गये। जब वे ध्यान में मग्न होकर अचल की तरह निश्चल हो रहे थे, उसी समय कमठ महीपाल का जीव कालसवर नाम का ज्योतिषी देव आकाश-मार्ग से विहार करता हुआ वहाँ से निकला। जब उसका विमान मुनिराज पार्श्वनाथ के ऊपर आया, तब वह मन्त्र से कीलित की तरह अकस्मात् रुक गया। कालसवर ने इसका कारण जानने के लिये इधर-उधर नजर दौड़ाई, तब उसे ध्यान करते हुए भगवान

पार्श्वनाथ दीख पड़े। उन्हें देखते ही उसे अपने पूर्व-भव के बैर की याद आ गई, जिससे उसने क्रुद्ध होकर उन पर घोर उपसर्ग करना शुरू कर दिया। सबसे पहिले उसने भयानक शब्द किया एवं फिर लगातार सात दिन तक मूसलाधार पानी एवं ओले बरसाये तथा अन्त में वज्र गिराया। पर भगवान पार्श्वनाथ कालसंवर के उपसर्ग से रचमात्र भी विचलित नहीं हुए। उनके द्वारा दिये गये नमस्कार मन्त्र के प्रभाव से जो सर्प-सर्पिणी, धरणेन्द्र एवं पद्मावती हुए थे, उन्होंने अवधिज्ञान से अपने उपकारी भगवान पार्श्वनाथ के ऊपर होनेवाले घोर उपसर्ग का वृत्तान्त जान लिया। तत्क्षण वे दोनों घटनास्थल पर जा पहुँचे एवं भगवान पार्श्वनाथ को उस प्रचण्ड घनघोर वर्षा के मध्य में मेरु की तरह अविचल देख कर आश्चर्यचकित हो गये। उन दोनों ने उन्हें अपने ऊपर उठा लिया एवं उनके सिर पर फणावली की छत्र लगा दी, जिससे उन पर पानी की बूँद भी नहीं गिर सकती थी। उसी समय ध्यान के माहात्म्य से घातिया-कर्मों का नाश कर उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। भगवान पार्श्वनाथ के अनुपम धैर्य के समक्ष हार मान कर कालसंवर अत्यधिक लज्जित हुआ। उसी समय उसके कषायों में कुछ मन्दता आ गई, जिससे वह पहिले का समस्त बैर-भाव त्याग कर क्षमा माँगने के लिये उनके चरणों में आ पड़ा। भगवान पार्श्वनाथ को चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन 'केवलज्ञान' प्राप्त हुआ था। केवलज्ञान प्राप्त होते ही समस्त देवों ने आ कर उनका 'ज्ञान-कल्याणक' महोत्सव किया। कुबेर ने समवशरण की रचना की। उसके मध्य में स्थित होकर उन्होंने चार माह बाद मौन भङ्ग किया — दिव्य-ध्वनि के द्वारा समस्त पदार्थों का व्याख्यान किया। उनके समय में स्थान-स्थान पर वैदिक-धर्म का प्रचार बढ़ा हुआ था, इसलिये उन्होंने सभी आर्य-क्षेत्र में विहार कर उसका युक्तियुक्त खण्डन किया एवं जैन-धर्म का प्रचार किया।

भगवान पार्श्वनाथ के समवशरण में स्वयम्भुदि आदि दश गणधर थे, तीन सौ पचास द्वादशांग के जानकार थे, दश हजार नौ सौ शिक्षक थे, चौदह सौ अवधिज्ञानी थे, सात सौ पचास मनःपर्यय ज्ञानी थे, एक हजार केवलज्ञानी थे, एक हजार विक्रिया-ऋद्धि के धारक थे एवं छः सौ वादी थे। इस तरह सब मिला कर सोलह हजार मुनिराज थे। सुलोचना आदि को ले कर छत्तीस हजार आर्यिकाएँ थी, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, असंख्यात देव-देवियाँ एव असख्यात तिर्यञ्च थे।

श्री
चौ
बी
सी

इन सब के साथ उन्होंने उनहत्तर वर्ष सात माह तक विहार किया। उस समय उनकी ख्याति चारों ओर फैली हुई थी। हठवादी इनकी युक्तियों से अत्यधिक डरते थे। जब इनकी आयु एक माह की शेष रह गई, तब वे छत्तीस मुनियों के साथ योग-निरोध कर श्री सम्मेद शैल पर विराजमान हो गये एव वहीं से उन्होंने श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन विशाखा नक्षत्र में प्रातःकाल के समय अघातिया-कर्मों का नाश कर मोक्ष लाभ किया। देवों ने आ कर भक्तिपूर्वक उनके 'निर्वाण-कल्याणक' का उत्सव मनाया। भगवान पार्श्वनाथ का चिह्न सर्प था।
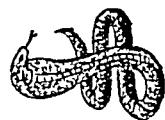
(२४) भगवान श्री महावीर स्वामी

दिढ कर्माचल दलन पवि, भवि सरोज रविराय।
कञ्चन छवि कर जोर कवि, नमत वीर जिनपाय ॥ —भूधरदास

पूर्व-भव परिचय

सब द्वीपों में शिरमौर जम्बूद्वीप के विदेह-क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती देश है। उसमें अपनी स्वाभाविक शोभा से स्वर्गपुरी को जीतनेवाली पुण्डरीकिणी नगरी है। उसके मधु नाम के वन में किसी समय पुरुरवा नाम का भीलों का राजा रहता था। वह बड़ा ही दुष्ट था — निरीह जीवों को मारते हुए उसे कभी दया नहीं आती थी। पुरुरवा की स्त्री का नाम कालिका था। दोनों स्त्री-पुरुष में प्रगाढ़ प्रेम था। एक दिन मार्ग भूल कर सागरसेन मुनिराज उस वन में इधर-उधर भटक रहे थे। दूर से उन्हें हरिण समझ कर मारने के लिए पुरुरवा तैयार हो गया; परन्तु उसकी स्त्री कालिका ने उसे उसी समय रोक दिया एव कहा — 'ये वन के अधिष्ठाता देव हैं, हरिण नहीं है; इन्हें मारने से तुम सङ्कट में पड़ जाओगे। स्त्री के

कहने से प्रशान्तचित्त होकर वह मुनिराज साग बैठ गया।

कहने से प्रशान्तचित्त होकर वह मुनिराज सागरसेन के पास जा पहुँचा एवं नमस्कार कर उन्हीं के पास बैठ गया। मुनिराज ने उसे मधुर एव सरल शब्दों में उपदेश दिया, जिससे वह अत्यधिक प्रसन्न हुआ। उसने मुनिराज के कहने से जीवन भर के लिये मद्य, माँस एवं मधु का सेवन त्याग दिया। मार्ग मिलने पर मुनिराज अपने वाँछित स्थान की ओर चले गये एवं प्रसन्नचित्त पुरुरवा अपने गृह आया। वहाँ वह निर्दोष रूप से अपने व्रत का पालन करता रहा एवं आयु के अन्त में शान्त परिणामों से मर कर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ उसकी आयु एक सागर की थी। स्वर्ग के सुख भोग कर वह जम्बूद्वीप भरत-क्षेत्र की अयोध्या नगरी के राजा भरत की अनन्तमति नामक रानी से मरीचि नाम का पुत्र हुआ। जब वह उत्पन्न हुआ था, उस समय भगवान वृषभदेव गृहस्थ अवस्था में ही थे एवं महाराज नाभिराज भी वर्तमान थे, इसलिये उसके जन्म का खूब उत्सव मनाया गया था। जब वह बड़ा हुआ, तब अपने पितामह भगवान वृषभदेव के साथ वह भी मुनि हो गया। उस समय कच्छ, महाकच्छ आदि अन्य भी चार हजार राजे मुनि हो गये थे, पर वे सभी भूख-प्यास की बाधा से दुःखी होकर भ्रष्ट हो गये थे। वह मरीचि भी मुनि-पद से पतित होकर जगलों में कन्दमूल खाने एवं तालाब में जल पीने के लिये गया, तब वहाँ वन-देवता ने प्रकट होकर कहा — 'यदि तुम यति वेष में रह कर यह अनाचार करोगे, तो हम तुम्हें दण्डित करेंगे।' देवताओं के वचन सुन कर उसने वृक्षों के वल्कल पहिन कर दिगम्बर वेष को त्याग दिया एवं मनमानी प्रवृत्ति करने लगा। उसने कपिल आदि अपने बहुत से अनुयायियों को शिष्य बना कर उन्हें सांख्यमत का उपदेश दिया।

जब भगवान आदिनाथ ने समवशरण के मध्य में विराजमान होकर दिव्य उपदेश दिया, तब उन पतित साधुओं में से बहुत से साधु पुनः जैन-धर्म में दीक्षित हो गये। पर मरीचि ने अपना हठ नहीं त्यागा। वह सतत् यही कहता रहा कि जिस तरह आदिनाथ ने एक मत चला कर ईश्वर-पदवी प्राप्त की है, उसी तरह मैं भी अपना मत चला कर ईश्वर-पदवी प्राप्त करूँगा। इस तरह वह कन्दमूल का भक्षण करता हुआ, शीतल जल से स्नान करता हुआ, वृक्ष के वल्कल पहिनता हुआ एवं सांख्य मत का प्रचार करता हुआ इधर-उधर घूमता रहा। आयु के अन्त में कुछ शान्त परिणामों से मर कर वह पाँचवें स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ उसकी आयु दश सागर की थी। आयु पूर्ण होने पर वह वहाँ से चय कर साकेत नगर के कपिल ब्राह्मण की काली नामक स्त्री

के गर्भ से जटिल नाम का पुत्र हुआ। जब वह बड़ा हुआ, तब उसने परिव्राजक सांख्य-साधु की दीक्षा ले कर पहिले के समान सांख्य तत्वों का प्रचार किया एव आयु के अन्त में मर कर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ दो सागर तक दिव्य सुखों का अनुभव कर इसी भरत-क्षेत्र के स्थूणागार नगर में भारद्वाज ब्राह्मण के घर पर उसकी भार्या पुष्पदत्ता की कुक्षि से पुष्पमित्र नाम का पुत्र हुआ। वहाँ भी उसने परिव्राजक की दीक्षा ले कर साख्य तत्वों का प्रचार किया एव शान्त परिणामों से मरण कर सौधर्म स्वर्ग में देव का पद पाया। वहाँ उसकी आयु एक सागर प्रमाण थी। वहाँ के सुख भोगने के बाद वह जम्बूद्वीप भरत-क्षेत्र के सूतिका नगर में अग्निभूत ब्राह्मण की स्त्री गौतमी के गर्भ से अग्निसह नाम का पुत्र हुआ। पूर्व-भव के सस्कार से उसने पुनः परिव्राजक की दीक्षा ले कर प्रकृति आदि पच्चीस तत्वों का प्रचार किया एवं समता-भावों से मर कर सनत्कुमार स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ पर वह सात सागर तक अनन्त सुख भोगता रहा। फिर आयु पूर्ण होने पर इसी भरत-क्षेत्र के मन्दिर नामक नगर में गौतम ब्राह्मण की स्त्री कौशाम्बी के गर्भ से अग्निमित्र नाम का पुत्र हुआ। वहाँ भी उसने जीवन भर सांख्य मत का प्रचार किया एव आयु के अन्त में मर कर माहेन्द्र स्वर्ग में देव-पदवी प्राप्त की। वहाँ के सुख भोगने के बाद वह उसी मन्दिर नगर में सालङ्कायन विप्र की भार्या मन्दिरा के गर्भ से भारद्वाज नाम का पुत्र हुआ। वहाँ भी उसने त्रिदण्ड ले कर सांख्य मत का प्रचार किया तथा आयु के अन्त में समता भावों से शरीर त्याग कर माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ वह सात सागर तक दिव्य सुखों का अनुभव करता रहा। बाद में वहाँ से च्युत होकर कुधर्म फैलाने के बुरे फल से अनेक त्रस-स्थावर योनियों में घूम-घूम कर दुःख भोगता रहा। फिर मगध (बिहार) देश के राजगृही नगर में शाण्डिल्य विप्र की स्त्री पाराशरी के गर्भ से स्थावर नाम का पुत्र हुआ। वह भी बड़ा होने पर अपने पिता शाण्डिल्य की तरह वेद-वेदांगों का ज्ञाता हुआ। पर सम्यग्दर्शन के बिना उसका समस्त-ज्ञान निष्फल था। उसने वहाँ पर भी परिव्राजक की दीक्षा ले कर सांख्य मत का प्रचार किया तथा आयु के अन्त में मर कर माहेन्द्र स्वर्ग में देव-पदवी पाई। वहाँ उसकी आयु सात सागर प्रमाण थी। आयु का अन्त होने पर वहाँ से च्युत होकर वह उसी राजगृही नगर में विश्वभूति राजा की महारानी जैनी के गर्भ से विश्वनन्दी नाम का पुत्र हुआ। बड़ा होने पर वह अत्यधिक शूर-वीर निकला। राजा विश्वभूति के छोटे भाई का नाम विशाखभूति

था। विशाखभूति के उसकी स्त्री लक्ष्मणा
था। इस पर्

था। विशाखभूति के उसकी स्त्री लक्ष्मणा से विशाखनन्द नाम का पुत्र हुआ था, जो अधिक बुद्धिमान नहीं था। इस परिवार के सब लोग जैन-धर्म में बहुत अधिक रुचि रखते थे। मरीचि का जीव विश्वनन्दी भी जैन-धर्म में आस्था रखता था।

एक दिन राजा विश्वभूति ने शरद् ऋतु के क्षण-भंगुर (नाशवान) बादल को देखा तथा वैराग्य प्राप्त होकर मुनि हो गये। उन्होंने अपना राज्य छोटे भाई विशाखभूति को सौंप दिया तथा अपने पुत्र विश्वनन्दी को युवराज बना दिया।

एक दिन युवराज विश्वनन्दी अपने मित्रों के साथ राजोद्यान में क्रीड़ा कर रहा था कि इतने में वहाँ से नये राजा विशाखभूति का पुत्र विशाखनन्द निकला। राजोद्यान की शोभा देख कर उसका जी ललचा गया। उसने जा कर अपने पिता से कहा — 'आप ने जो वन विश्वनन्दी को सौंप रक्खा है, वह मुझे दीजिये, नहीं तो गृह त्याग कर परदेश भाग जाऊँगा।' राजा विशाखभूति भी पुत्र के वश होकर बोला — 'बेटा! यह कौन-सी बड़ी बात है? मैं अभी तुम्हें वह उद्यान दिलाये देता हूँ।' ऐसा कह कर उसने युवराज विश्वनन्दी को अपने पास बुला कर कहा — 'मुझे कुछ आततायियों को रोकने के लिये पर्वतीय प्रदेशों में जाना है। जब तक मैं लौट कर वापिस न आ जाऊँ, तब तक राज्य-कार्यों की देखभाल करना।' काका के वचन सुन कर निष्कपट विश्वनन्दी ने कहा — 'नहीं तात! आप यहां पर सुख से रहिये, मैं पर्वतीय प्रदेशों में जा कर उपद्रवियों का दमन करता हूँ।' राजा ने विश्वनन्दी को कुछ सेना के साथ पर्वतीय प्रदेशों में भेज दिया तथा उसकी अनुपस्थिति में उसका उद्यान अपने पुत्र विशाखनन्द को सौंप दिया। जब विश्वनन्दी को राजा के इस कपट का पता चला, तब वह बीच से ही लौट कर वापस चला आया तथा विशाखनन्द को मारने के लिये सुअवसर की प्रतीक्षा करने लगा। विशाखनन्द उसके भय से भाग कर एक कैथ के पेड़ पर चढ़ गया। परन्तु कुमार विश्वनन्दी ने उसे मारने के लिए वह कैथ का वृक्ष ही उखाड़ डाला। तदनन्तर वह भाग कर पत्थर के खम्भे में जा छिपा। परन्तु विश्वनन्दी ने अपनी कलाई की चोट से उस खम्भे को भी तोड़ डाला, जिससे वह वहाँ से भी भागा। उसे भागता हुआ देख कर युवराज विश्वनन्दी को दया आ गई। उसने कहा — 'भाई भागो मत, तुम आनन्द से मेरे उद्यान में क्रीड़ा करो, अब मुझे उसकी आवश्यकता

नहीं है। अब तो मुझे जंगल के सूखे कटीले झाड़-झङ्खाड़ ही अच्छे लगेंगे।' ऐसा कह कर संसार की कपट भरी अवस्था का चिन्तवन कर के उसने सम्भूत नामक मुनिराज के पास जिन-दीक्षा ले ली। इस घटना से राजा विशाखभूति को भी अत्यधिक पश्चात्ताप हुआ। उसने मन में सोचा — 'मैं ने व्यर्थ पुत्र के मोह में आ कर साधु-स्वभावी विश्वनन्दी के साथ कपट किया। सच पूछो, तो यह राज्य भी उसी का है। केवल स्नेह के कारण ही बड़े भाई मुझे राजा बना गये हैं। अब किसी भी तरह मुझे इस पाप का पायश्चित्त करना चाहिये।' ऐसा सोच कर उसने भी विशाखनन्दी को राज्य सौंप कर जिन-दीक्षा ले ली। हम पहिले ही लिख आये हैं कि विशाखनन्दी बुद्धिमान नहीं था, इसलिये वह राज्य-सत्ता पा कर मदोन्मत्त हो गया, कई तरह से दुराचार करने लगा, जिससे प्रजा के लोगों ने उसे राजगद्दी से च्युत कर देश से बाहर निकाल दिया। राज्य से च्युत होकर आजीविका के लिए विशाखनन्दी ने किसी राजा के यहाॅ नौकरी कर ली। एक समय वह राजा के कार्य से मथुरा नगरी में आया था तथा वहाँ एक वेश्या के महल की छत पर बैठा हुआ था।

मुनिराज विश्वनन्दी भी कठिन तपस्या से अपने शरीर को कृश करते हुए उस समय मथुरा नगरी में जा पहुँचे तथा आहार की इच्छा से मथुरा नगरी की गलियों में घूमते हुए वहाँ से निकले, जहाँ पर वेश्या के मकान की छत पर विशाखनन्दी बैठा हुआ था। असाता का उदय किसी को नहीं छोडता। मुनिराज विश्वनन्दी को उस गली में एक नव-प्रसूता गाय ने धक्का दे कर जमीन पर गिरा दिया। उन्हें जमीन पर पड़ा हुआ देख कर विशाखनन्दी ने हँसते हुए कहा — 'हाथ की चोट से पत्थर के खम्भे को गिरा देनेवाला तुम्हारा वह बल आज कहाॅ गया?' उसके वचन सुन कर विश्वनन्दी को भी क्रोध आ गया। उन्होंने लड़खड़ाती हुई आवाज में कहा — 'तुझे इस हँसी का फल अवश्य मिलेगा।' आहार ले कर मुनिराज वन ओर चले गये। वहाॅ उन्होंने आयु के अन्त में प्रतिज्ञा ले कर सन्यासपूर्वक शरीर त्यागा, जिससे वे महाशुक्र नाम के स्वर्ग में देव हुए। मुनिराज विशाखभूति आयु के अन्त में समता भावो से मर कर वहाँ पर देव हुए। वहाॅ उन दोनों में बहुत अधिक स्नेह था।

सोलह सागर तक स्वर्गों के सुख भोगने के बाद वहाँ से च्युत होकर विशाखभूति का जीव जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में सुरम्य देश के पोदनपुर नगर के राजा प्रजापति की रानी जयावती के गर्भ से विजय नाम का

पुत्र हुआ एवं विश्वनन्दी का जीव उसी राजा
पूर्व-भव के सं

पुत्र हुआ एवं विश्वनन्दी का जीव उसी राजा की दूसरी रानी मृगावती के गर्भ से त्रिपृष्ठ नाम का पुत्र हुआ। पूर्व-भव के संस्कार से इन दोनों में अत्यधिक स्नेह था। बड़े होने पर विजय 'बलभद्र' पदवी का धारक हुआ एव त्रिपृष्ठ ने 'नारायण' पदवी पाई। मुनि-निन्दा के पाप से विशाखनन्दी का जीव अनेक कुयोनियों में भ्रमण करता हुआ विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी पर अलका नगरी के राजा मयूरग्रीव की नीलाञ्जना रानी के गर्भ से अश्वग्रीव नाम का पुत्र हुआ। वह बचपन से ही उद्दण्ड प्रकृति का था। बड़े होने पर तो उसकी उद्दण्डता का पार ही नहीं रहा। उसके पास चक्ररत्न था, जिससे वह तीन खण्ड पर अपना आधिपत्य जमाये हुए था। किसी कारणवश त्रिपृष्ठ तथा अश्वग्रीव में जम कर लड़ाई हो गई। तब अश्वग्रीव ने क्रोधित होकर त्रिपृष्ठ पर अपना चक्र चलाया, पर चक्ररत्न तीन प्रदक्षिणाएँ दे कर त्रिपृष्ठ के हाथ में आ गया। तब उसने उसी चक्ररत्न के प्रहार से अश्वग्रीव को मार डाला तथा स्वयं तीन खण्ड पृथ्वी का राज्य करने लगा। तीन खण्ड का विशाल राज्य पा कर तरह-तरह के भोग भोगते हुए भी उसे कभी तृप्ति नहीं होती थी। वह हमेशा विषय-सामग्री को एकत्रित करने में लगा रहता था, जिससे वह त्रिपृष्ठ मर कर सातवें नरक में नारकी हुआ। वहाँ वह तैंतीस सागर पर्यन्त भयङ्कर दुःख भोगता रहा। फिर वहाँ से निकल कर जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में गङ्गा नदी के किनारे सिंहगिरि पर्वत पर सिंह हुआ। वहाँ उसने अनेक वन-प्राणियों का नाश कर के पाप का उपार्जन किया, जिसके फल से वह पुनः पहिले नरक में गया तथा वहाँ कठिन दुःख भोगता रहा। वहाँ से निकल कर जम्बूद्वीप में सिंहकूट के पूर्व की ओर हिमवान् पर्वत के शिखर पर फिर से सिंह हुआ। वह एक समय अपने तीक्ष्ण दाँतों से एक मृग को मार कर खा रहा था कि इतने में वहाँ से अत्यन्त कृपालु चारण-ऋद्धिधारी अजितञ्जय तथा अमितगुण नाम के दो मुनिराज निकले। सिंह को देखते ही उन्हें तीर्थङ्कर के वचनों का स्मरण हो आया। वे किन्हीं तीर्थङ्कर के समवशरण में सुन कर आये थे कि हिमकूट पर्वत पर रहनेवाला सिंह दशवें भव में 'महावीर' नाम का तीर्थङ्कर होगा। अजितञ्जय मुनिराज ने अवधिज्ञान के द्वारा उसे तत्क्षण पहिचान लिया। उक्त दोनों मुनिराज आकाश से उतर कर सिंह के सामने एक शिला पर बैठ गये। सिंह भी चुपचाप वहीं पर बैठा रहा। कुछ देर बाद अजितञ्जय मुनिराज ने उस सिंह को सार-गर्भित शब्दों में समझाया — 'अय मृगराज ! तुम इस तरह प्रतिदिन निर्बल प्राणियों को क्यों मारा करते

हो ? इस पाप के फल से ही तुमने अनेक बार कुयोनियों में अनेक दुःख उठाये हैं ।' इस प्रकार कहते हुए उन्होंने उसके पहिले के समस्त भव कह सुनाये । मुनिराज के वचन सुन कर सिंह को भी जाति-स्मरण हो आया, जिससे उसकी ऑंखों के सामने पहिले के समस्त भव प्रत्यक्ष झलकने लगे । उसे अपने दुष्कार्यो पर इतना अधिक पश्चात्ताप हुआ कि उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली । मुनिराज ने फिर उसे शान्त करते हुए कहा — 'तुम आज से अहिंसा-व्रत का पालन करो । तुम इस भव से दशवें भव में जगत्पूज्य वर्द्धमान तीर्थङ्कर होगे । मुनिराज के उपदेश से वनराज ने सन्यास धारण किया तथा विशुद्ध-चित्त होकर आत्म-ध्यान करने लगा, जिससे वह मर कर सौधर्म स्वर्ग में सिंहकेतु नाम का देव हुआ । मुनि-युगल भी अपना कर्तव्य पूरा कर आकाश-मार्ग से विहार कर गये । सिंहकेतु दो सागर तक स्वर्ग के सुख भोगने के बाद धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व मेरु से पूर्व की ओर विदेह-क्षेत्र में मगलावती देश के विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में कनकप्रभ नगर के राजा कनकपुंख्य तथा उनकी महारानी कनकमाला के कनकोज्वल नाम का पुत्र हुआ । बड़ा होने पर उसका राजकुमारी कनकवती के साथ विवाह हुआ । एक दिन वह अपनी स्त्री के साथ मदराचल पर्वत पर क्रीड़ा करने के लिए गया था । वहाँ पर उसे प्रियमित्र नाम के अवधिज्ञानी मुनिराज मिले । कनकोज्वल ने प्रदक्षिणा दे कर उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार किया तथा फिर धर्म का स्वरूप पूछा । उत्तर में प्रियमित्र मुनिराज ने कहा —

धर्मो दयामयो धर्मे श्रयधर्मेण नायसे, मुक्तिर्धर्मेण कार्माणि हन्ता धर्माय सन्मतिम् ।
देहि भापेहि धर्मात्त्व याहि धर्मस्य भृत्यताम्, धर्मेष्ठि, चिरंधर्म पाहिमामिति चिन्तय ॥

— आचार्य गुणभद्र

अर्थात् — धर्म दयामय है, तुम धर्म का आश्रय ग्रहण करो, धर्म से ही मुक्ति प्राप्त होती है, धर्म के लिए उत्तम बुद्धि लगाओ, धर्म से विमुख मत होवो, धर्म के भृत्य (दास) बन जाओ, धर्म में लीन रहो तथा 'हे धर्म ! हमेशा मेरी रक्षा करो' — इस तरह का चिन्तवन करो ।

मुनिराज के वचन सुन कर उसके हृदय में वैराग्य-रस समा गया, जिससे उसने कुछ समय बाद ही जिन-दीक्षा ले कर सब परिग्रहों का परित्याग कर दिया । अन्त में वह सन्यासपूर्वक शरीर त्याग कर सातवें

कल्प स्वर्ग में देव हुआ । लगातार ...

कल्प स्वर्ग में देव हुआ। लगातार तेरह सागर तक स्वर्ग के सुख भोग कर वह वहाँ से च्युत हुआ तथा जम्बूद्वीप भरत-क्षेत्र के कौशल देश में साकेत नगर के राजा वज्रसेन की रानी शीलवती के हरिषेण नाम का पुत्र हुआ। हरिषेण ने अपने बाहुबल से विशाल राज-लक्ष्मी का उपभोग किया था तथा अन्त समय में उस विशाल राज्य को जीर्ण तृण के समान त्याग कर श्रुतसागर मुनिराज के पास जिन-दीक्षा ले ली तथा उग्र तपस्याएँ की। तपस्या के प्रभाव से वह महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ उसकी आयु सोलह सागर प्रमाण थी। आयु के अन्त में स्वर्ग-वसुन्धरा से सम्बन्ध त्याग कर वह धातकीखण्ड के पूर्व मेरु से पूर्व की ओर विदेह-क्षेत्र के पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में वहाँ के राजा सुमित्र की रानी सुव्रता के गर्भ से प्रियमित्र नाम का पुत्र हुआ। सुमित्र चक्रवर्ती था। उसने अपने पुरुषार्थ से छः खण्डों को वश में कर लिया था। किसी समय उसने क्षेमकर जिनेन्द्र के मुख से संसार का स्वरूप सुना तथा विषय-वासनाओं से विरक्त होकर जिन-दीक्षा धारण कर ली। अन्त में समाधिपूर्वक मर कर बारहवें सहस्रार स्वर्ग में सूर्यप्रभ नामक देव हुआ। वहाँ वह अठारह सागर तक यथेष्ठ सुख भोगता रहा। फिर आयु के अन्त में वहाँ से च्युत हो कर जम्बूद्वीप के क्षेत्रपुर नगर में राजा नन्दवर्धन की रानी वीरमती के गर्भ से नन्द नाम का पुत्र हुआ। वह बचपन से ही धर्मातमा तथा न्यायप्रिय था। कुछ समय तक राज्य भोगने के बाद उसने प्रोष्टिल नामक एक मुनिराज के पास जिन-दीक्षा ले ली। मुनिराज नन्द ने गुरु-चरणों की सेवा कर ग्यारह अङ्गों का ज्ञान प्राप्त किया तथा दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर 'तीर्थङ्कर' नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध किया। फिर आयु के अन्त में आराधनापूर्वक शरीर त्याग कर सोलहवें अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में इन्द्र हुआ। वहाँ पर उसकी आयु बाईस सागर प्रमाण थी। तीन हाथ का शरीर था, शुक्ल लेश्या थी। वह बाईस हजार वर्ष में एक बार मानसिक आहार ग्रहण करता था तथा बाईस पक्ष के बाद एक बार श्वासोच्छ्वास लेता था। पाठकों को यह जान कर हर्ष होगा कि यही इन्द्र आगे चल कर वर्द्धमान तीर्थङ्कर (भगवान महावीर) होगा। कहाँ तथा कब ? सो ध्यानपूर्वक सुनिये —

वर्तमान परिचय

भगवान पार्श्वनाथ के मोक्ष चले जाने के कुछ समय बाद भारतवर्ष में अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हो गये

थे। उस समय कितने ही पुरुष स्वर्ग-प्राप्ति के लोभ से जीवित पशुओं को यज्ञ की बलिवेदी पर चढ़ा देते थे। कितने ही बौद्ध-धर्म की क्षणिकवादिता को अपना कर दुःखी हो रहे तथा कितने ही सांख्य नैयायिक तथा वेदान्तियों के प्रपञ्च में पड कर आत्म-हित से कोसों दूर भाग रहे थे। उस समय लोगों के दिमाग पर धर्म का भूत बुरी तरह से सवार था। जिसे भी देखो, वही हर व्यक्ति को अपनी ओर — अपने धर्म की ओर खींचने की कोशिश करता हुआ नजर आता था। उद्दण्ड धर्माचार्य धर्म की ओट में अपना स्वार्थ गाँठने में लगे थे। मिथ्यात्व यामिनी का घन तिमिर सब ओर फैला हुआ था। उसमें दुष्ट उल्लू भयङ्कर रव करते हुए इधर-उधर घूमते थे। आततायिओं के घोर आतङ्क से यह धरा आकुलित हो उठी थी। रात्रि के उस सघन तिमिर से व्याकुल होकर प्रायः सभी सुन्दर प्रभात का दर्शन करना चाहते थे। उस समय सभी की दृष्टि प्राची की ओर लग रही थी। वे सतृष्ण लोचनों से पूर्व की ओर देखते थे कि प्रातःकाल की ललित लालिमा आकाश में कब फैलती है ?

किसी ने ठीक ही कहा है — सृष्टि का क्रम जनता की आवश्यकतानुसार हुआ करता है। जब पुरुष ग्रीष्म की तप्त लू से व्याकुल हो उठते हैं, तब सुन्दर श्यामल बादलों से आकाश को आवृत कर पावस ऋतु आती है। वह शीतल तथा स्वादु सलिल की वर्षा कर जनता का सन्ताप दूर कर देता है। पर जब मेघों की घनघोर वर्षा, निरन्तर दुर्दिन, बिजली की कड़क, मेघों की गड़गड़ाहट तथा मलिन पङ्क से चित्त म्लान हो जाता है, तब स्वर्गीय अप्सरा का रूप धारण कर शरद् ऋतु आती है। वह प्रतिदिन प्रातः समय बाल-दिनेश की सुनहली किरणों से लोगों के अन्तस्तल को अनुरञ्जित कर देती है। रजनी चन्द्रमा की रजतमयी शीतल किरणों से अमृत वर्षाती है। पर जब उसमें भी लोगों का चित्त प्रफुल्लित नहीं होता, तब हेमन्त-शिशर तथा वसन्त आदि ऋतुयें आ-आ कर लोगों को आनन्दित करने की चेष्टायें करता हैं। रात्रि के बाद दिन एव दिन के बाद रात्रि का आगमन भी लोगों के हित के लिए है। दुष्टों का दमन करने के लिए महात्माओं की उत्पत्ति अनादि से सिद्ध होती आई है। इसलिये भगवान पार्श्वनाथ के बाद जब ससार में भारी आतङ्क फैल गया था, तब किसी महात्मा के अवतार ग्रहण की नितान्त आवश्यकता थी। बस उसी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए हमारे कथानायक भगवान महावीर ने भारत वसुन्धरा पर अवतार लिया था।

जम्बूद्वीप — भरत-क्षेत्र के मगध (बिहार) देश में कुण्डलपुर नामक एक नगर था, जो उस समय वाणिज्य-व्यवसाय के द्वारा उत्कर्ष की चरम सीमा पर था। उसमें बड़े-बड़े धनाढ्य सेठ लोग रहा करते थे। कुण्डलपुर का शासन-सूत्र महाराज सिद्धार्थ के हाथ में था। सिद्धार्थ शूर-वीर होने के साथ-साथ अत्यधिक गम्भीर प्रकृति के पुरुष थे। लोग उनकी दयालुता देख कर कहते थे कि ये चलते-फिरते दया के सागर हैं। उनकी पटरानी का नाम प्रियकारिणी (त्रिशला) था। त्रिशला सिन्धु देश की वैशालीपुरी के राजा चेटक की पुत्री थी। वह बड़ी ही रूपवती एव बुद्धिमती थी। वह निरन्तर परोपकार में अपना समय बिताती थी। रानी होने का अभिमान तो उसे छू भी नहीं गया था। वह सच्ची पतिव्रता थी। अपनी सेवा से वह महाराज सिद्धार्थ को सन्तुष्ट रखती थी। वह अपने सेवकों से भी स्नेह का व्यवहार करती थी एव विघ्न-व्याधि के उपस्थित होने पर उनकी सतत् रक्षा करती थी।

राजा सिद्धार्थ नागवश के शिरोमणि थे। वे भी अपने को त्रिशला की सगति से धन्य मानते थे। राजा चेटक के त्रिशला के अतिरिक्त मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलिनी, ज्येष्ठा एव चन्दना नाम की छह पुत्रियाँ अन्य थीं। मृगावती का विवाह वत्स देश की कौशाम्बी नगरी के चन्द्रवशीय राजा शतानीक के साथ हुआ था। सुप्रभा, दशार्ण देश के हरकक्ष नगर के स्वामी सूर्यवशी राजा दशरथ की पटरानी हुई थी। प्रभावती का विवाह-सम्बन्ध कच्छ देश के रोरुक नगर के स्वामी राजा उदयन के साथ हुआ था। प्रभावती का दूसरा नाम शीलवती भी प्रचलित था। चेलिनी मगध देश में राजगृही नगर के राजा श्रेणिक की प्रिय पत्नी हुई थी। ज्येष्ठा एव चन्दना ने ससार से विरक्त होकर आर्यिका के व्रत ले लिये थे।

इस तरह महाराज सिद्धार्थ का अनेक प्रतिष्ठित राजवशों के साथ पारिवारिक सम्बन्ध था। सिद्धार्थ ने अपनी शासन प्रणाली में समयानुकूल यथोचित सुधार भी किया था।

ऊपर जिस इन्द्र का कथन कर आये हैं, अच्युत-स्वर्ग में जब उसकी आयु छः माह की शेष रह गई, तब से महाराज सिद्धार्थ के महल पर प्रतिदिन रत्नों की वर्षा होने लगी। अनेक देवियाँ आ कर त्रिशला प्रियकारिणी की सेवा करने लगीं। इन सब कारणों से महाराज सिद्धार्थ को निश्चय हो गया था कि अब हमारे नाथ-वश में किसी प्रभावशाली जगवन्द्य महापुरुष का जन्म होनेवाला है।

३०

आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में रात्रि के पिछले प्रहर में रानी त्रिशला ने सोलह स्वप्न देखे एव स्वप्न देखने के बाद अपने मुख में प्रवेश करते हुए एक हाथी को देखा। उसी समय उक्त इन्द्र ने अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान से मोह त्याग कर उसके गर्भ मे प्रवेश किया। प्रातःकाल होते ही रानी ने स्नान कर पतिदेव महाराज सिद्धार्थ से स्वप्नों का फल पूछा। उन्होंने अवधिज्ञान से विचार कर कहा—'हे प्रिये, तुम्हारे गर्भ से नव माह बाद एक तीर्थङ्कर पुत्र का जन्म होगा। वह समस्त ससार का कल्याण करेगा — लोगों को सच्चे मार्ग पर लगावेगा।' पति के वचन सुन कर त्रिशला मारे हर्ष के फूली न समाती थी। उसी समय चारों निकाय के देवों ने आ कर भावी तीर्थङ्कर महावीर के गर्भावतरण का उत्सव मनाया एवं उनके माता-पिता त्रिशला एव सिद्धार्थ का उचित आदर-सत्कार किया।

गर्भ काल के नौ माह पूर्ण होने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में प्रातः समय त्रिशला के गर्भ से भगवान वर्द्धमान का जन्म हुआ। उस समय अनेक शुभ शकुन हुए थे। उनकी उत्पत्ति से देव, दानव, तिर्यञ्च एव मानव सभी को हर्ष हुआ था। चारों निकाय के देवों ने आ कर जन्मोत्सव मनाया था। उस समय कुण्डलपुर नगर अपनी शोभा से स्वर्ग को भी पराजित कर रहा था। देवराज ने इनका नाम 'वर्द्धमान' रक्खा था। जन्मोत्सव की विधि समाप्त कर देवगण अपने-अपने स्थान पर चले गये। राज-परिवार में बालक वर्द्धमान का अत्यधिक प्यार से लालन-पालन होने लगा।

वे द्वितीया के इन्दु की तरह दिन-प्रतिदिन बढ़ कर कुमार अवस्था में प्रविष्ट हुए। कुमार वर्द्धमान को जो भी देखता था, उसकी आँखें हर्ष के आँसुओं से तर हो जाती थीं। मन आनन्द से गद्‌गद् हो जाता था एव शरीर रोमाञ्चित हो जाता था। इन्हें अल्प काल में ही समस्त विद्यायें स्वतः प्राप्त हो गई थीं। कुमार वर्द्धमान के अगाध पाण्डित्य को देख कर अच्छे-अच्छे विद्वानों को भी दाँतों तले अँगुलियाँ दबानी पड़ती थीं। विद्वान होने के साथ-साथ वे शूरता, वीरता एव साहस आदि गुणों के अनन्य आश्रय थे।

एक दिन सौधर्म इन्द्र की सभा में चर्चा चल रही थी कि इस समय भारतवर्ष में कुमार वर्द्धमान ही सब से अधिक बलवान, शूर-वीर एव साहसी हैं। इस चर्चा को सुन कर संगम नाम का एक कौतुकी देव कुण्डलपुर आया। उस समय कुमार वर्द्धमान इष्ट-मित्रों के साथ एक वृक्ष पर चढ़ने-उतरने का खेल खेल रहे थे। अवसर

देख कर संगम देव ने एक भयङ्कर सर्प का रूप धारण किया एवं फुँकार मारता हुआ उस वृक्ष को जड़ से ले कर स्कन्ध तक लिपट गया। नागराज की भयावनी सूरत देख कर कुमार वर्द्धमान के सब साथी वृक्ष से कूद-कूद कर अपने घर भाग गये, पर वर्द्धमान ने अपना धैर्य नहीं त्यागा। वे उसके विकराल फण पर पाँव रख कर खड़े हो गये एवं आनन्द से स्वच्छन्द उछलने लगे। उनके साहस से प्रसन्न होकर वह देव, सर्प का रूप त्याग कर अपने असली रूप में प्रकट हुआ। उसने उनकी खूब स्तुति की एवं उनका नाम 'महावीर' रक्खा।

भगवान महावीर जन्म से ही परोपकार में लगे थे। जब वे दीन-दुःखी जीवों को देखते थे, तब उनका हृदय रो पड़ता था। इतना ही नहीं, जब तक उनके दुःख हरने का अपनी शक्ति भर प्रयत्न न कर लेते, तब तक वे चैन नहीं लेते थे। वे अनेक असहाय बालकों की रक्षा करते थे। पुत्र की तरह विधवा स्त्रियों की रक्षा करते थे। उनकी दृष्टि में छोटे-बड़े का कोई भेदभाव नहीं था। वे अपने हृदय का प्रेम मुक्तहस्त से वितरित करते थे जिसे आवश्यकता होती, वह उसे यथेष्ट मात्रा में प्राप्त कर लेता था।

कुमार वर्द्धमान की कीर्ति-गाथाओं से समस्त भारतवर्ष मुखरित हो उठा था। पर्वत की चोटियों पर, नद नदी निर्झरों के किनारों पर, सुन्दर लता-गृहों में किन्नर देव अपनी प्रेयसियों के साथ बैठ कर इनकी कीर्ति-गाथा गाया करते थे। महलों की छतों पर सौभाग्यवती स्त्रियाँ भक्ति से उनका यशोगान करती थीं।

श्री पार्श्वनाथ स्वामी के मोक्ष जाने के ढाई सौ वर्ष बाद भगवान महावीर हुए थे। उनकी आयु भी इसी अन्तराल में युक्त है। उनकी आयु कुछ कम बहत्तर वर्ष की थी। * शरीर की ऊँचाई सात हाथ की थी एवं रंग सुवर्ण के समान उज्वल पीत वर्ण का था।

जब धीरे-धीरे उनकी आयु के तीस वर्ष बीत गये एवं उनके शरीर में यौवन का पूर्ण विकास हो गया, तब एक दिन महाराज सिद्धार्थ ने उनसे कहा — 'प्रिय पुत्र! अब तुम पूर्ण युवा हो गये हो। तुम्हारी गम्भीर एवं विशाल आँखें, तुम्हारा उन्नत ललाट, प्रशान्त वदन, मन्द मुस्कान, चतुर वचन, विस्तृत वक्षस्थल एवं घुटनों तक लम्बी तुम्हारी भुजायें तुम्हें प्रत्यक्ष महापुरुष सिद्ध कर रही हैं। अब तुम्हारे अन्दर खोजने पर भी वह

* आप की आयु के विषय में दो मत हैं। एक मत में आप की आयु ७२ वर्ष की कही गयी है और दूसरी में ७१ वर्ष ३ माह २५ दिन बताई गई है। दोनों मतों का खुलासा 'जयधवल' में किया गया है। देखिये सागर की हस्तलिखित प्रतिलिपि पत्र नं० ८ और १०।

में चञ्चलता नहीं पाता हूँ, जो बाल्यावस्था में थी। अब यह समय तुम्हारे राज-कार्य संभालने का है। मैं अब वृद्ध हो गया हूँ एवं कितने दिन तक तुम्हारा साथ दे सकूँगा? मैं तुम्हारा विवाह कर तुम्हें राज्य सौंप कर ससार की झंझटों से बचना चाहता हूँ।' पिता के वचन सुन कर महावीर का प्रफुल्ल मुखमण्डल सहसा गम्भीर हो गया। मानो, किसी गहरी समस्या के सुलझाने मे लग गये हों। कुछ देर बाद उन्होंने कहा — 'पूज्य पिता जी! आप की आज्ञा का पालन मुझ से नहीं हो सकेगा। भला, जिस जञ्जाल से आप स्वयं बचना चाहते हैं, उसी जञ्जाल में आप मुझे क्यों कर फँसाना चाहते है? ओह! मेरी कुल आयु बहत्तर वर्ष की है, जिसमें आज तीस वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। अब अवशिष्ट अल्प जीवन में मुझे बहुत कुछ कार्य करना बाकी है। देखिये पिता जी! आज लोग धर्म के नाम पर किस तरह आपस में झगड़ते हैं। सभी एक दूसरे को अपने मत की ओर खींचना चाहते हैं। पर यदि विचार किया जाय, तो ये सब निरर्थक सिद्ध होंगे। धर्माचार का प्रपञ्च फैला कर ये धर्म की दूकान सजाते हैं, जिसमें भोले प्राणी ठगे जाते हैं। मैं इन पथ-भ्रान्त प्राणियों को सुख का सच्चा मार्ग बतलाऊँगा। अब आप ही कहें कि मेरा विचार क्या बुरा है?' राजा सिद्धार्थ ने बीच में ही कुमार को टोक कर कहा — 'पर ये कार्य तो गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी हो सकते हैं।' तब महावीर ने उत्तर दिया — 'जी नहीं पिताजी! यह मुझ पर केवल आप का व्यर्थ मोह है। थोड़ी देर के लिए आप यह भूल जाइये कि महावीर आप का पुत्र है। फिर देखिये आप की यह विचार-धारा परिवर्तित हो जाती है या नहीं? बस पिताजी! मुझे आज्ञा दीजिये, जिससे मैं जङ्गल के उन्मुक्त वायु-मण्डल में रह कर आत्म-ज्योति को प्राप्त कर सकूँ एव जगत का कल्याण कर सकूँ।' क्या सोचा था पर क्या हुआ, विचार कर सिद्धार्थ महाराज विषण्ण-वदन हो मौन रहे।

जब पिता-पुत्र के प्रश्नोत्तर का सम्वाद त्रिशला रानी के कानों में पड़ा, तब वह पुत्र-मोह से व्याकुल हो उठी। उसके पाँव के नीचे की जमीन खिसकने-सी लगी। आँखों के सामने अधेरा छा गया। वह मूर्च्छित हुआ ही चाहती थी कि बुद्धिमान वर्द्धमान कुमार ने चतुराई भरे मधुर शब्दों मे उसे धैर्य बँधाया। उनके सामने उसने अपने समस्त कर्तव्य प्रकट कर दिये — अपने उच्च आदर्श एवं पवित्र विचार उनके सामने रख दिये एवं ससार के दूषित वातावरण से उन्हें परिचित करा दिया। तब रानी त्रिशला ने अश्रु-सिक्त आँखों से

भगवान महावीर की ओर देखा। उस समय उनके चेहरे पर उसे परोपकार की दिव्य झलक दिखलाई दी। उसकी लालसा-रहित सरल मुखाकृति ने उनके समस्त विमोह को दूर कर दिया। भगवान महावीर को देख कर उसने अपने-आप को धन्य माना तथा कुछ देर तक अनिमेष दृष्टि से उनकी ओर देखती रही। फिर कुछ देर बाद उसने भगवान महावीर से स्पष्ट स्वर में कहा — 'हे देव ! जाओ, हर्ष से जाओ, अपनी तपस्या से संसार का कल्याण करो। अब मैं आप को पहिचान सकी, आप पुरुष नहीं — देव हैं। मैं आप को जन्म दे कर धन्य हुई। अब न आप मेरे पुत्र हैं तथा न मैं आप की माता। पर अब आप एक आराध्य देव हैं तथा मैं हूँ आप की एक क्षुद्र सेविका। मेरा पुत्र-मोह बिल्कुल दूर हो गया है।'

माता के उक्त वचनों से महावीर स्वामी के विरक्त हृदय को और भी आलम्बन मिल गया। उन्होंने स्थिर-चित्त होकर संसार की परिस्थिति का पूर्ण चिन्तवन किया तथा वन में जा कर दीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उसी समय पीताम्बर पहिने हुए लौकान्तिक देवों ने आ कर उनकी स्तुति की तथा उनके दीक्षा धारण करने के चिन्तवनों का समर्थन किया। अपना कार्य पूरा कर लौकान्तिक देवगण अपने-अपने स्थानों पर वापिस चले गये। उनके जाते ही असंख्य देवगण 'जय-जय' घोष करते हुए आकाश-मार्ग से भूतल पर आये। वहाँ उन्होंने भगवान महावीर का दीक्षाभिषेक किया तथा उन्हें अनेक सुन्दर-सुन्दर आभूषण पहिनाये। भगवान महावीर भी देव-निर्मित 'चन्द्रप्रभा' पालकी पर आरूढ़ होकर षण्डवन में गये तथा वहाँ

एक दिन विहार करते हुए भगवान महावीर उज्जयिनी के अतिमुक्तक नामक श्मशान में जा पहुँचे तथा रात्रि में प्रतिमा-योग धारण कर वहीं पर विराजमान हो गये। उन्हें देख कर महादेव रुद्र ने अपनी दुष्टता से उनके धैर्य की परीक्षा करनी चाही। उसने वैताल-विद्या के प्रभाव से रात्रि के सघन अन्धकार को और भी सघन बना दिया। अनेक भयानक रूप बना कर वह नाचने लगा। कठोर शब्द, अट्टहास तथा विकराल दृष्टि से वह भगवान महावीर को डराने लगा। तदनन्तर वह सर्प, सिंह, हाथी, अग्नि तथा वायु आदि के साथ भीलों की एक सेना बना कर आया। इस तरह उसने अपनी विद्या के प्रभाव से भगवान महावीर पर घोर उपसर्ग किया। पर भगवान महावीर का चित्त आत्म-ध्यान से रञ्चमात्र भी विचलित नहीं हुआ। उनके अनुपम धैर्य को देख कर अन्त में परास्त होकर रुद्र ने असली रूप में प्रकट होकर उनकी प्रशंसा की तथा उनसे क्षमा याचना कर अपने स्थान पर चला गया।

वैशाली के राजा चेटक की कनिष्ठा पुत्री चन्दना वन में खेल रही थी। उसे देख कर एक विद्याधर कामबाण से पीड़ित हो गया। इसलिये वह उसे उठा कर आकाश में ले गया, पर ज्यों ही उस विद्याधर की दृष्टि अपनी स्त्री पर पड़ी, त्यों ही वह उससे डर कर चन्दना को एक निर्जन अटवी में छोड़ कर भाग गया। किसी भील ने उसे वहाँ पर देख कर धन पाने की इच्छा से कौशाम्बी नगरी के वृषभदत्त सेठ के पास उसे भेज दिया। सेठ की स्त्री का नाम सुभद्रा था। वह बड़ी दुष्टा थी। उसने सोचा कि सेठजी इस चन्दना की रूप-राशि पर मुग्ध होकर कहीं मुझे अपमानित न कर दें — यह विचार कर उसके मन में आते ही वह चन्दना को खूब कष्ट देने लगी। सेठानी के घर पर प्रतिदिन चन्दना को मिट्टी के बर्तन में काँजी से साना हुआ पुराने कोदों का भात ही खाने को मिलता था। इस पर भी वह हमेशा जंजीरों से बँधी रहती थी। इन सब अत्याचारों के कारण उसका शारीरिक सौन्दर्य प्रायः नष्ट-सा हो गया था।

एक दिन विहार करते हुए भगवान महावीर आहार लेने के लिए कौशाम्बी नगरी में जा पहुँचे। उनका आगमन सुन कर चन्दना की इच्छा हुई कि वह भी भगवान महावीर को आहार दे। पर उसके पास रक्खा ही क्या था? उसे जो भी मिलता था, वह दूसरे की कृपा से तथा वह भी सड़ा हुआ। इसके उपरान्त वह जंजीर में बँधी हुई थी। चन्दना को अपनी परतन्त्रता का विचार आते ही बहुत अधिक दुःख हुआ। पर

कहा — 'तुम कहाँ से आये हो ? किसके शिष्य हो ?' वेषधारी इन्द्र ने कहा — 'मैं सर्वज्ञ भगवान महावीर का शिष्य हूँ।' इन्द्रभूति ने महावीर के साथ 'सर्वज्ञ' तथा 'भगवान' विशेषण को सुन कर व्यग्य करते हुए कहा — 'ओ सर्वज्ञ के शिष्य। तुम्हारे गुरु यदि सर्वज्ञ है, तो अभी तक कहाँ छिपे रहे ? क्या मुझ से शास्त्रार्थ किये बिना ही वे 'सर्वज्ञ' कहलाने लगे हैं ?' इन्द्र ने कहा — 'क्या आप उनसे शास्त्रार्थ करने को प्रस्तुत हैं ?' इन्द्रभूति ने कहा — 'अवश्य'। इन्द्र ने कहा — 'पहिले आप मुझ से ही शास्त्रार्थ कर के देखिये, फिर मेरे गुरु से करियेगा। मेरा प्रश्न है — त्रैकाल्य द्रव्यषट्क नव पद सहित — आदि। कहिये महाराज। इस श्लोक का अर्थ क्या है ?'

जब इन्द्रभूति को 'द्रव्यषट्क' 'नव पद सहित' 'लेश्या' आदि शब्दों का अर्थ प्रतिभासित नहीं हुआ, तब वह चिढ़ कर बोला — तुझ से क्या शास्त्रार्थ करूँ ? तेरे गुरु से ही शास्त्रार्थ करूँगा।' वह अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ भगवान महावीर के पास जाने को उद्यत हो गया। इन्द्र भी आगे-आगे चल कर उन्हें मार्ग बतलाने लगा। ज्यों ही इन्द्रभूति समवशरण के पास आया तथा उसकी दृष्टि मान-स्तम्भ पर पड़ी, त्यों ही उसका अभिमान चूर हो गया। वह समवशरण के भीतर गया। वहाँ भगवान महावीर की दिव्य विभूति देख कर उसने अपने-आप को बहुत अधिक क्षुद्र अनुभव किया। इन्द्रभूति भगवान महावीर को नमस्कार कर पुरुषों के कोठे में बैठ गया। इन्द्र ने उससे कहा — 'आप जो पूछना चाहते हों, पूछिये।' इन्द्रभूति ने भगवान महावीर से जीव का स्वरूप पूछा। भगवान महावीर ने सप्तभङ्गी में जीव-तत्व का विशद् व्याख्यान किया। उनके दिव्य उपदेश से गद्गद् होकर इन्द्रभूति ने कहा — 'भगवान ! मुझे भी अपने चरणों में स्थान दीजिये।' ऐसा कह कर उसने वहीं जिन-दीक्षा धारण कर ली। उसके पाँच सौ शिष्यो ने भी जैन-धर्म स्वीकार कर यथा शक्ति व्रत-विधान ग्रहण किये। दीक्षा लेने के बाद इन्द्रभूति को सात ऋद्धियाँ तथा मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया। यही इन्द्रभूति भगवान वर्द्धमान का प्रथम गणधर हुआ था। गौतम-ग्राम में रहने के कारण इन्द्रभूति का दूसरा नाम 'गौतम' था। भगवान महावीर अर्ध-मागधी भाषा मे तत्वों का उपदेश करते थे तथा गौतम गणधर उसे ग्रन्थ रूप से सकलित करते जाते थे। कालक्रम से भगवान महावीर के गौतम के अतिरिक्त वायुभूति, अग्निभूत, सधर्म, मौर्य, मौन्द्रय, पुत्र, मैत्रेय, अकम्पन, अन्धवेल तथा प्रभास — ये दश गणधर अन्य थे।

इनके समवशरण में तीन सौ ग्यारह द्वादशांग के वेत्ता थे, नौ हजार नौ सौ शिक्षक थे, तेरह सौ अवधिज्ञानी थे, सात सौ केवलज्ञानी थे, नौ सौ विक्रिया-ऋद्धि के धारक थे, पाँच सौ मनःपर्यय ज्ञानी थे तथा चार सौ वादी थे। इस तरह सब मिला कर चौदह हजार ग्यारह मुनि थे। चन्दना आदि छत्तीस हजार आर्यिकायें थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकायें थीं, असख्यात देव-देवियाँ तथा असख्यात तिर्यञ्च थे। इन सब से वेष्टित होकर उन्होंने नय-प्रमाण एवं निक्षेपों से वस्तु का स्वरूप बतलाया। अनन्तर कई स्थानों में विहार कर धर्मामृत की वर्षा की।

इन्हीं के समय में कपिलवस्तु के राजा शुद्धोधन के गौतम-बुद्ध नाम का पुत्र था, जो अपने विशाल ऐश्वर्य को त्याग कर साधु बन गया था। साधु गौतम-बुद्ध ने अपनी तपस्या से 'महात्मा' पद प्राप्त किया था। महात्मा बुद्ध स्थान-स्थान पर घूम-घूम कर बौद्ध-धर्म का प्रचार किया करते थे। बुद्ध के अनुयायी 'बौद्ध' एव भगवान महावीर के अनुयायी 'जैन' कहलाते थे। यद्यपि उस समय जैन तथा बौद्ध—ये दोनों सम्प्रदाय वैदिक-विधान, बलि, हिंसा आदि का विरोध करने में पूरी-पूरी शक्ति लगाते थे, तथापि उन दोनों में बहुत अधिक मतभेद था। बौद्ध एव जैनियों की दार्शनिक तथा आचार-विषयक मान्यताओं में बहुत अधिक अन्तर था। जो कुछ भी हो, यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि वे दोनों उस समय के महापुरुष थे. दोनों का व्यक्तित्व खूब बढ़ा-चढ़ा था। जब तक भगवान महावीर की छद्मस्थ अवस्था रही, तब तक प्रायः बुद्ध के उपदेशों का ही अधिक प्रचार रहा। पर जब भगवान महावीर 'केवलज्ञानी' होकर दिव्य-ध्वनि के द्वारा उपदेश करने लगे थे, तब बुद्ध का माहात्म्य बहुत कुछ कम हो गया था। राजा श्रेणिक जैसे कट्टर बौद्ध भी भगवान महावीर के अनुयायी बन गये थे अर्थात् जैनी हो गये थे। एक स्थान पर गौतम-बुद्ध ने भी अपने शिष्यों के सामने भगवान महावीर को 'सर्वज्ञ' स्वीकार किया था एव उनके वचनों में अपनी आस्था प्रकट की थी।

पूर्णज्ञानी योगी भगवान महावीर ने पहिले तो वैदिकी हिंसा (बलि) तथा अन्य कुरीतियों को बन्द करवाया था, फिर अपने मार्मिक धार्मिक उपदेशों से बौद्ध, नैयायिक, सांख्य आदि मत-मतान्तरों की मान्यताओं का खण्डन कर स्याद्वादी दृष्टिकोण से जैन-धर्म की मान्यताओं की प्रतिष्ठा की थी।

एक दिन भगवान महावीर विहार करते हुए राजगृही नगर में आये एव वहाँ के विपुलाचल पर्वत पर समवशरण सहित विराजमान हो गये। उस समय राजगृही नगर में राजा श्रेणिक का राज्य था। पहिले

कारणवश श्रेणिक राजा ने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया था; परन्तु चेलिनी रानी के बहुत कुछ प्रयत्न करने पर उन्होंने बौद्ध-धर्म को त्याग कर पुनः जैन-धर्म धारण कर लिया। जब उन्हें विपुलाचल पर भगवान महावीर स्वामी के आगमन का समाचार मिला, तब वह समस्त परिवार के साथ उनकी वन्दना के लिए गया एव उन्हे नमस्कार कर मनुष्यों के कोठे मे बैठ गया। भगवान महावीर ने सुन्दर सरस शब्दो में पदार्थों का विवेचन किया, जिसे सुन कर राजा श्रेणिक को क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया। क्षायिक सम्यग्दर्शन पा कर उसे बडी ही प्रसन्नता हुई। राजा श्रेणिक को भगवान महावीर के प्रति इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा हो गई थी कि वह उनके पास प्रायः नित्यप्रति जा कर तत्वों का उपदेश सुना करता था।

श्रेणिक को आसन्न भव्य समझ कर गौतम गणधर आदि भी उसे खूब उपदेश दिया करते थे। प्रथमानुयोग का उपदेश तो प्रायः श्रेणिक के प्रश्नों के अनुसार ही किया गया था। श्रेणिक ने उन्हीं के समक्ष दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह-कारण भावनाओं का चिन्तवन कर 'तीर्थङ्कर' प्रकृति का बन्ध भी कर लिया था, जिससे वह आगामी उपसर्पिणीकाल में 'पद्मनाभि' नामक तीर्थङ्कर होंगे।

भगवान महावीर का विहार, बिहार प्रान्त में बहुत अधिक हुआ है। राजगृही के विपुलाचल पर्वत पर कई बार उनके आने के कथानक मिलते हैं। इस तरह समस्त भारतवर्ष में जैन-धर्म का प्रचार करते-करते जब उनकी आयु बहुत थोड़ी रह गई, तब वे पावापुर आये एव वहाँ योग-निरोध कर आत्म-ध्यान में लीन होकर विराजमान हो गये। वहीं पर उन्होंने सूक्ष्म-क्रिया प्रतिपाति एवं व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति नामक शुक्ल-ध्यान के द्वारा समस्त अघातिया-कर्मों का नाश कर कार्त्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन प्रातः-काल के समय बहत्तर वर्ष की अवस्था मे मोक्ष-श्री का लाभ किया। देवों ने आ कर निर्वाण-क्षेत्र की पूजा की एव उनके गुणों की स्तुति की।

भगवान महावीर जब मोक्ष गये थे, तब चतुर्थकाल के ३ वर्ष ८ माह १५ दिन शेष रह गये थे। उन्हें उत्पन्न हुए आज २५८४ वर्ष एव मोक्ष प्राप्त किये २५१२ वर्ष व्यतीत हो गये हैं। वे ब्रह्मचारी थे। न उन्होंने विवाह किया एवं न राज्य ही पालन, किन्तु कुमार अवस्था में दीक्षा धारण कर ली थी। जिन्होंने इनकी आयु ७२ वर्ष ३ माह २५ दिन की मानी है, उन्होंने उसका विभाग इस तरह लिखा है :—

गर्भकाल ९ माह ८ दिन, कुमारकाल २८ वर्ष ७ माह १२ दिन, छद्मस्थकाल १२ वर्ष ५ माह १५ दिन, केवलीकाल २९ वर्ष ५ माह २० दिन — कुल ७२ वर्ष ३ माह २५ दिन हुए।

मुक्त होने पर चतुर्थकाल के शेष रहे ३ वर्ष ८ माह २५ दिन।

इस तरह उपरोक्त मत में चतुर्थकाल के ७५ वर्ष १० दिन शेष रहने पर भगवान महावीर ने गर्भ में प्रवेश किया था एवं जिन्होंने ७२ वर्ष की आयु मानी है, उन्होंने कहा है — चतुर्थकाल के ७५ वर्ष ८ माह १५ दिन शेष रहने पर भगवान महावीर ने माता त्रिशला के गर्भ में प्रवेश किया था।

उनके बाद गौतम, सुधर्म एवं जम्बूस्वामी — ये तीन केवली और हुए हैं। आज जैन-धर्म की आम्नाय उन्हीं के सार-गर्भित उपदेशों से चल रही है। वर्द्धमान, महावीर, वीर अतिवीर एवं सन्मति — भगवान महावीर के ये पाँच नाम प्रसिद्ध हैं। भगवान महावीर सिंह के चिह्न से विभूषित थे।
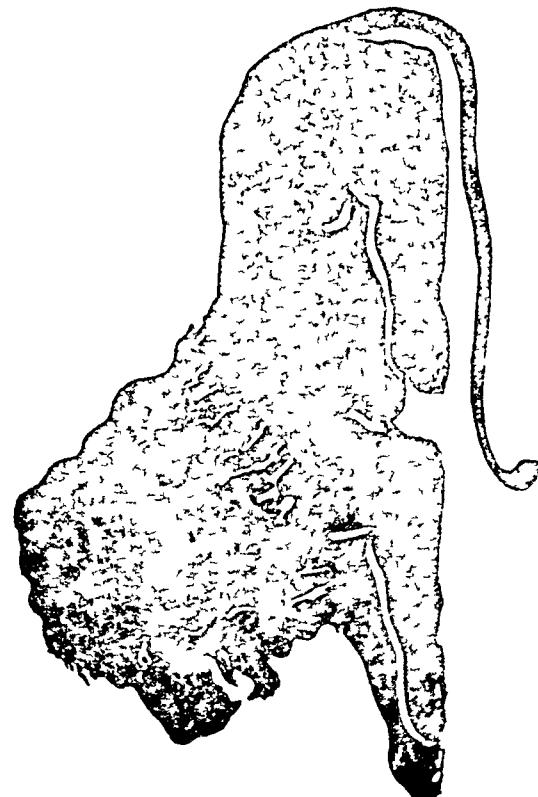
श्री चौबीस तीर्थङ्करों के पञ्च-कल्याणक तिथियां

श्रावकों को नीचे लिखे दिनों में पूजन और स्वाध्याय करना चाहिये, ऐसा करने से पुण्य बंध होता है।

सं०	नाम तीर्थङ्कर	गर्भ	जन्म	तप	ज्ञान	मोक्ष
१	श्री आदिनाथ जी	आषाढ़ कृष्ण २	चैत्र वदी ९	चैत्र वदी ९	फाल्गुन वदी ११	माघ वदी १४
२	श्री अजितनाथ जी	ज्येष्ठ वदी १५	माघ सुदी १०	माघ सुदी १०	पौष सुदी ४	चैत्र सुदी ५
३	श्री सम्भवनाथ जी	फाल्गुन सुदी ८	कार्तिक सुदी १५	मगसिर सुदी १५	कार्तिक वदी ४	चैत्र सुदी ६
४	श्री अभिनन्दननाथ जी	वैसाख सुदी ६	माघ वदी १२	माघ सुदी १२	पौष सुदी १४	वैसाख सुदी ६
५	श्री सुमतिनाथ जी	श्रावण सुदी २	चैत्र सुदी ११	चैत्र सुदी ११	चैत्र सुदी ११	चैत्र सुदी ११
६	श्री पद्मप्रभु जी	माघ वदी ६	कार्तिक सुदी १३	कार्तिक सुदी १३	चैत्र सुदी १५	फाल्गुन वदी ४
७	श्री सुपार्श्वनाथ जी	भादों सुदी ६	ज्येष्ठ सुदी १२	ज्येष्ठ सुदी १२	फाल्गुन वदी ६	फाल्गुन वदी ७
८	श्री चन्द्रप्रभु जी	चैत्र वदी ५	पौष वदी ११	पौष वदी ११	फाल्गुन वदी ७	फाल्गुन सुदी ७
९	श्री पुष्पदन्त जी	फाल्गुन वदी ९	मगसिर सुदी १	मगसिर सुदी १	कार्तिक सुदी २	आसोज सुदी ८
१०	श्री शीतलनाथ जी	चैत्र वदी ८	माघ वदी १२	माघ वदी १२	पौष वदी १४	आसोज सुदी ८
११	श्री श्रेयांसनाथ जी	ज्येष्ठ वदी ८	फाल्गुन वदी ११	फाल्गुन वदी ११	माघ वदी १	श्रावण सुदी १५
१२	श्री वासुपूज्य जी	आषाढ़ वदी ६	फाल्गुन वदी ११	फाल्गुन वदी १४	भादों वदी २	भादों सुदी १४

सं०	नाम तीर्थङ्कर	गर्भ	जन्म	तप	ज्ञान	मोक्ष
१३	श्री विमलनाथ जी	ज्येष्ठ वदी १०	माघ सुदी १४	माघ सुदी १४	माघ सुदी ६	आषाढ़ वदी ६
१४	श्री अनन्तनाथ जी	कार्तिक वदी १	ज्येष्ठ वदी १२	ज्येष्ठ वदी १२	चैत्र वदी १५	चैत्र वदी ४
१५	श्री धर्मनाथ जी	वैसाख सुदी ८	माघ सुदी १३	माघ सुदी १३	पौष सुदी १५	ज्येष्ठ सुदी १४
१६	श्री शान्तिनाथ जी	भादों वदी ७	ज्येष्ठ वदी ४	ज्येष्ठ वदी १४	पौष सुदी १०	ज्येष्ठ वदी १४
१७	श्री कुन्थुनाथ जी	श्रावण वदी १०	वैसाख सुदी १	वैसाख सुदी १	चैत्र सुदी ३	वैसाख सुदी १
१८	श्री अरहनाथ जी	फाल्गुन सुदी ३	मगसिर सुदी १८	मगसिर सुदी १४	कार्तिक सुदी १२	चैत्र सुदी ११
१९	श्री मल्लिनाथ जी	चैत्र सुदी १	मगसिर सुदी ११	मगसिर सुदी ११	पौष वदी २	फाल्गुन सुदी ५
२०	श्री मुनिसुव्रतनाथ जी	श्रावण वदी २	वैसाख वदी १०	वैसाख वदी १०	वैसाख वदी ९	फाल्गुन वदी १२
२१	श्री नमिनाथ जी	आसोज वदी २	आषाढ़ वदी १०	आषाढ़ वदी १०	मगसिर सुदी ११	वैसाख वदी १४
२२	श्री नेमिनाथ जी	कार्तिक सुदी ६	श्रावण सुदी ६	श्रावण सुदी ६	आसोज सुदी १	आषाढ़ सुदी ८
२३	श्री पार्श्वनाथ जी	वैसाख वदी २	पौष वदी ११	पौष वदी ११	चैत्र वदी ४	श्रावण सुदी १
२४	श्री वर्द्धमान जी	आषाढ़ सुदी ६	चैत्र सुदी १३	मगसिर वदी १०	वैसाख सुदी १०	कार्तिक वदी १५